

गोवर्धनाचार्य कृत आर्यासप्तशती का अध्ययन

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध



निर्देशक :—

डा० परमानन्द शास्त्री

अध्यक्ष

संस्कृत विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ ।

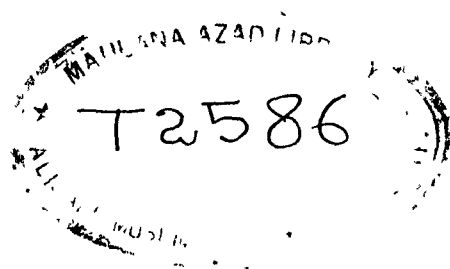
प्रस्तुतकर्ता :—

रमेशचन्द्र गुप्त

एम०ए०



T2586



प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध कबीरदास मुस्लिम विश्व-विद्यालय , कबीरदास की पी-एचडी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया है। सप्तशतीकारों की परम्परा में गोवर्धनाचरण का प्रमुख स्थान है। इनकी रचना में कौटिल्य- जगत् की बहुत ही प्रभावित किया है। यद्यपि गाथासप्तशती ही सप्तशती परम्परा का मूल प्रेरक ग्रन्थ है जिसके अनुसरण पर स्वयं गोवर्धन ने संस्कृत में वार्यासप्तशती लिखी। फिर भी संस्कृत और तत्पश्चात् हिन्दी में लिखी गयी सप्तशतियों पर गाथासप्तशती की अपेक्षा गोवर्धन की सप्तशती का प्रभाव अधिक है। गोवर्धन की रचना का अन्य कृतियों के साथ सामान्य अध्ययन तो किया गया था किन्तु केवल उसी की केन्द्र मानकर उसका विशेष और अपेक्षाकृत व्यापक अध्ययन अभी तक नहीं हुआ था। कबीरदास विश्व-विद्यालय में संस्कृत विभाग के वर्तमान अध्यक्ष गुरुवर डा० परमानन्द शास्त्री ने जो बहुत पहले गाथासप्तशती का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत कर चुके थे, उनके वार्यासप्तशती का अध्ययन प्रस्तुत करने का सुझाव दिया और अपनी निर्देशन में वे शोध की अनुमति की, उनके सार्थक तथा अत्यन्त सक्रिय निर्देशन के बिना यह अध्ययन भी लिए असम्भव ही था। वस्तुतः इस निबन्ध में जो कुछ गुण हैं, वे उनके निर्देशन के कारण हैं, और यदि कोई दोष या कमजोरी है तो मेरी अपनी कमजोरी के कारण है। केवल धन्यवाद देकर उनके गुरु ऋण से उद्धार नहीं हुआ जा सकता। वे " गोविन्द दियो बताय " वाले



DEPARTMENT OF SANSKRIT
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH-202001

Dated.....13.5.1983.....

Certified that the thesis entitled ' Govardhan
charva krat Aryasaptashati ke Adhyayan ' submitted
by Mr. Ramesh Chandra Gupta for the award of Ph.D.
degree in Sanskrit is an original research work.
It is the result of Mr. Gupta's own efforts and
it has been completed under my supervision.

Mr. Gupta has fulfilled all the conditions
laid down in the Ordinances in this connection.

(Dr. P. ANAND)
SUPERVISOR

CH. P. ANAND
Department of Sanskrit
Aligarh Muslim University
Aligarh-202001

गुरुजी में से हैं। कतः मैं उनके प्रति बड़ा से नतमस्तक हूँ।

मीलाना बाबाद पुस्तकालय में संस्कृत अनुमान के प्रहारी श्री शिवदत्त शर्मा तथा अन्य सदस्यों से पुस्तकों की यथासमय प्राप्ति में मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। कतः मैं उनके प्रति धन्यवाद जर्फ़ि करता हूँ।

हस प्रबन्ध की प्रस्तुत करने में मैंने जेक विद्वानों के ग्रन्थों का उपयोग करके लाभ उठाया है। उन सबके प्रति भी मैं बाभार प्रकट करता हूँ।

डा० रामेश्वर दयाल जी ने कल्प समय में इतना विशेषज्ञतापूर्ण स्वच्छ और सुन्दर टंकण करके यथासमय में कार्य संपूर्ण करके जो सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए वे भी साधुवाद के पात्र हैं।

अन्त में मेरा निवेदन है कि विद्वानों की दृष्टि से हस प्रबन्ध द्वारा संस्कृत- साहित्य के अध्ययन में कुछ भी योगदान मिला है तो मेरा पश्चिम सार्धक हुआ।

विद्वानों का सेवाक

रमेश चन्द्र गुप्ता
(रमेश चन्द्र गुप्ता :)

विषयानुक्रमिका

प्रथम अध्याय

विषय- प्रवेश (क) संस्कृत काव्य परम्परा (२-१४) , काव्य के रूप : प्रबन्ध काव्य (१६-१७) , महाकाव्य (१७-२२) , काव्य (२२-२३) , लघुकाव्य (२३-२४) , मुक्तक काव्य (२४-२७) , मुक्तक-काव्य का महत्त्व (२७-३२) , मुक्तक- संग्रह के विभिन्न प्रकार : क्रम के आधार पर (३२-३६) , संख्या के आधार पर (३६-३७) , वाचार्थ गोवर्धन का समय (३८-३९) , प्रस्तुत अध्ययन : आवश्यकता और महत्त्व (३९-४२) , उपलब्ध सामग्री (४२-४३) ।

(ख) गोवर्धनाचार्य का परिचय एवं जीवन-दर्शन (४३-४४) ।

द्वितीय अध्याय

वार्तासप्तती- रूपविधान और वर्ण्य-विषय

रूप-विधान (४४-६०) , वर्ण्य विषय- रस योजना (६०) , शृंगार : सम्पन्न शृंगार (६२) नल-शिशु वर्णन (६३-७९) , सौन्दर्यवर्धक कर्तारों का चित्रण (७९-८७) , प्रेम का वाचिभाव (८७) , विप्रलम्भ

शृंगार (६४) , पूर्णराग (६६-६८) , मान
 (६८-१०४) , विरह (१०४-१०५) , प्रवास
 (१०५-११३) , विरह की दशारं : वभिन्ना-
 व्याधि (११३) , चिन्तागुणकथन स्मृति (११४) ,
 उद्वेग-उन्माद, तन्मयता (११५) , प्रणय ,
 मरण, निष्कर्ष (११६-११७) , हास्य (११७) ,
 रौद्र वीर (११८) वात्सल्य वीर शृंगार (११९) ,
 क्लृप्त-वीर्य-मयानक-रुण (११९-१२०) ,
 अन्य विषय : सज्जन-प्रसिद्धा (१२०) , दुर्जन निन्दा
 (१२१) , कृ-पुत्र निन्दा, मित्रता का आदर्श (१२२) ,
 दुर्जन मित्रता, दारिद्र्य निन्दा (१२३) , नीति-
 कथन (१२३-१२७) , भक्ति विषयक उक्तियाँ
 (१२७-१२८) , राजप्रशस्ति (१२९-१३०) ।

तृतीय अध्याय

समाज और संस्कृति

नागर सभ्यता (१३१) , वर्ण व्यवस्था तथा
 व्यवसाय (१३१-१३४) , मनीषिन के साधन
 (१३४-१३५) , ग्रामीण सभ्यता (१३५) ,
 उपज तथा वृद्धा (१३६-१३६) , उषाग धन्धि
 (१३६-१४०) , शासन व्यवस्था (१४०-१४२) ,
 वैश्वरूपा (१४२-१४३) , सान धान (१४३-१४४) ,
 धर्म , व्रत, एवं विभिन्न विचारधाराएँ (१४४-१५१) ,
 नारी स्थिति (१५१-१५७) ।

चतुर्थ अध्याय

नायिकाभेद और कामलासुत्र का प्रभाव

(क) नायिका भेद (१५५) , स्वकीया (१६१-१६२) , मुग्धा (१६२-१६५) , मध्या (१६५-१६६) , प्रीढा (१६६) , मध्या धीरा (१६७) , मध्या अधीरा (१६८) , मध्या धीरा धीरा (१६९) , प्रीढा धीरा (१७०) , प्रीढा अधीरा (१७१) , प्रीढा धीराधीरा (१७२) ।

परकीया (१७३) : कन्या (१७४) , परीढा (१७५) गुप्ता : भावगीप्ता (१७६) , सुरत गीप्ता (१७७-१७८) , विदग्धा : वाग्विदग्धा (१७९) , क्रियाविदग्धा (१८०) , विलसिता (१८१) , कुण्टा (१८२) , अनुशयाना मुद्रिता (१८३) , सामान्या (१८४-१८६) ।

ज्येष्ठा (१८७) , कनिष्ठा (१८८)

व्यस्या भेद से नायिका के प्रकार : स्वाधीन पतिता सन्धिता (१८९) , वमिसारिता : कृष्णामिसारिता , शुक्लामिसारिता (१९०) , कल्हान्तरिता (१९१) , विप्रबन्धा (१९२) ।

प्रीणितपतिता : प्रसक्तपतिता , प्रसक्तपतिता वाग्विदग्धा (१९३) ।

विरहोत्कण्ठिता (१६५) , वन्द्यसमीपगदुःखिता (१६६),
गर्विता : रूपागर्विता, गुणगर्विता (१६७) , प्रेमागर्विता
सौभाग्यगर्विता (१६८) , मानवती (१६९) , नायक-
मेघ : अनुकूल (१६९) , दक्षिण (२००) , शठ (२०१) ,
धृष्ट (२०२) ।

(स) कामशास्त्र का प्रभाव (२०३-२१६)
निष्कर्ष (२१७) ।

पंचम अध्याय

भाव और उनकी अभिव्यक्ति

काव्य में भावों का स्थान (२१८-२२०) ,
संचारी भाव (२२१-२४२) ,
अनुभाव- विधान (२४३-२५१) ।

षष्ठ अध्याय

प्रकृति चित्रण

प्रकृति चित्रण (२५२) ,
प्रकृति के विविध रूप (२५४-२५८) ,
आर्यासप्तशती में प्रकृति चित्रण : वाल्मीकि रूप
में (२५९-२६०) , वस्तु- वाल्मीकि रूप में
(२६१) , भाषावाल्मीकि और उद्दीप्ता रूप में (२६२-

२६५) , षष्ठ-स्तु वर्णन : वसन्त और ग्रीष्म
 (२६६-२६७) , वर्षा (२६८) , शरद व हेमन्त
 वर्णन (२६९-२७०) , शिशिर (२७१) ।
 प्रभात (२७२) , संध्या (२७३) , चन्द्रमा (२७४) ,
 प्रकृति का आलोकन रूप में वर्णन (२७५-२७६) ,
 कवि समय (२७६-२७७) ।

सप्तम अध्याय

शैली और भाषा

शैली और भाषा (२७८) , व्यंजना प्रधान
 कर्मकृत शैली (२७९-२८१) , व्यंजना प्रधान
 कर्मकृत शैली (२८१-२८३) , ऊहात्मक शैली
 (२८३-२८४) , वाग्वैदग्ध्यपूर्ण शैली (२८४-
 २८६) , समास शक्ति (२८७-२८८) , शब्द-
 चयन (२८८) : पर्यायवाची विशेषण शब्द (२८९),
 व्युत्पत्तिरूप्य शब्द (२९०) , हलिवैशिष्ट्य शब्द
 (२९१) , शास्त्र विशेषण तथा सामाजिक परिवेश
 से सम्बद्ध शब्द (२९२-२९३) ।
 रीति : (३००-३०१) , वैचर्या (३०२) ,
 गौडी (३०३) , पाश्चात्ती (३०४-३०५) ,
 मुहावरों और लोकीवित्तियाँ : (३०६-३१०)
 कर्त्तार विधान (३१०-३१४)
 सम्बन्धकर्त्तार (३१४-३१७) , कर्त्तार (३१८-
 ३१९) ।

वप्रस्तुत योजना (३३९)

प्राकृतिक- उपमान (३३४-३३७) , जीविक उपमान

(३३८-३४२) , शास्त्रीय उपमान (३४२-३४३) ,

ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपमान (३४३-३४६)।

आर्यासप्तशती में काव्यगत दोष : अस्यस्वसब्दवाच्यता,

व्यभिचारिभाव स्वसब्दवाच्यता (३४७) , अमंगलशब्द-

त्व, निर्धनत्व (३४८) , अप्रसुतत्व पद दोष (३४९),

तुल्य विसर्गत्व दोष, उपहत विसर्गत्व दोष (३५०),

निष्कर्ष (३५१)।

अष्टम अध्याय

वादान प्रान

(क) वादान : गाथासप्तशती (३५४-३६१) ,

वज्रालङ्कार (३६२-३६३) , प्राकृतफैलम् (३६४),

सिद्ध हैमसब्दानुशासन (३६५) , मेघदूत (३६५-३६६),

रघुवंश (३६६-३६७) , उत्तररामचरित (३६८-

३७१) , मृच्छकटिक (३७३- ३७४) , नागानन्द

(३७५) , नैषधचरित (३७६-३७७) , अमरक-

रसक (३७८-३८३) , शृंगाररसक (३८४-३८५) ,

नीतिरसक (३८६-३८८) , वीरपद्माशिका (३८८-३८९),

निष्कर्ष (३९०)।

(स) प्रदान : विश्वेश्वर वार्यासप्तशती (३६२-३६८) ,
विहारी सतसहं , विक्रम सतसहं , मतिराम
सतसहं , राम सतसहं , रसनिधि सतसहं ,
रहीम सतसहं (३६६-४१६) ।

नवम अध्याय

उपसंहार

उपसंहार (४२०-४२७) ।

ग्रन्थानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

वार्तासप्तशती संस्कृत-साहित्य का एक
विशिष्ट महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसके रचनाकार प्रसिद्ध गीतगीविन्द के रचयिता
जयदेव के समकालीन कवि वाचार्य गोवर्धन थे । जयदेव ने उन्हें शृंगारिक कवियों
में सर्वोपरि स्वीकार करते हुए कहा है कि " गोवर्धनाचार्य शृंगार- रसपूर्ण
काव्य की रचना करने के कारण ही प्रसिद्धि की प्राप्ति हुए थे । " जयदेव
जैसे समसामयिक प्रसिद्ध कवि द्वारा उनका इस प्रकार गौरवपूर्ण उल्लेख उनकी
कवि- प्रतिभा और वाचार्यत्व के उत्कर्ष का जीवन्त प्रमाण है।

गोवर्धनाचार्य द्वारा रचित वार्तासप्तशती
विषय-वस्तु, रूप-विधान आदि की दृष्टि से छात्र की गायसप्तशती से बहुत
ही प्रभावित है। वास्तव में गोवर्धनाचार्य की प्रेरणा का मूल स्रोत वही है।
संस्कृत-काव्यशास्त्रियों की गायसप्तशती और अमरक- शतक की भाँति

१- वाचः पत्न्यक्त्युमापतिधरः संवर्धशुद्धिं गिरां

जानीति जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुस्तुष्टुतिः ।

शृंगारोत्तररसप्रियरक्तराचार्यगोवर्धन-

स्पर्धो कोऽपि न विभुतः शुतिधरो धीवी कविस्मापतिः ॥

- जयदेव- गीतगीविन्द १।४

वार्तासप्तशती ने भी पर्याप्त आकर्षित किया है। संस्कृत और हिन्दी की परवर्ती सप्तशतियाँ तथा उनके रचनाकारों पर भी गोवर्धनाचार्य का व्यापक प्रभाव परिणित होता है। वार्तासप्तशती का स्वतन्त्र रूप से वाङ्मूलक वाङ्मयनात्मक अध्ययन अभी तक अनुपब्ध ही था। प्रस्तुत शी-प्रबन्ध उस अभाव की पूर्ति का एक प्रयास है।

संस्कृत काव्य-परम्परा का आरम्भ ऋग्वेद से माना जाता है क्योंकि ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में काव्यात्मक गुण पाये जाते हैं। ऋग्वेद में अनेक वार्ता कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं। ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों के रचयिताओं ने तो अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति बड़ा प्रकट की है। ऋग्वेद की संस्कृत काव्य परम्परा का आधार स्तम्भ मानते हुए विन्टरनिट्ज कहते हैं कि "जब तक ऋग्वेद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की मान कर न चला जायेगा तब तक काव्यविज्ञान की प्रौढ़ और परिष्कृत रचना, कवि की दार्शनिक शक्ति, जयदेव की रहस्यात्मक प्रवृत्ति तथा व्यास और वात्सीकि की प्रसाद गुण शैली, ये सभी जो स्वयं होने महत्त्वपूर्ण हैं, ऐतिहासिक में बिखरे हुए हरे-भरे नक्षत्रिस्तान की भाँति बिखरे हुए प्रतीत होंगे।" इसी प्रयोग में मैकडानल अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "वैदिक काल के पूर्वार्ध का साहित्य सज्जनात्मक स्वम् कवित्वमय है।" अन्य स्व-

१-(ब) तद्देवानां सध्माद वासन् अथवानः कवयः प्रयासः ।

- ऋग्वेद अ ७६। ६४

(वा) ये च पूर्वं कवयः ये च नूतना हन्त्रवृक्ष्याणि जयन्त विप्राः ॥

- बर्ही अ २२। ६

२- इण्डिका मिटोचर वाङ्मय १ पृ० ११८

३- मैकडानल - हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत मिटोचर पृ० ८

पर प्रो० विरियन्वा में ऋग्वेद की ही संस्कृत काव्य-परम्परा का उद्गम प्रतीत मानते हुए कहते हैं कि " प्राचीनतम भारतीय काव्य, जो हमें उपलब्ध है, ऋग्वेद में संगृहीत है। यह प्रसिद्ध है कि इस रचना में धार्मिक गीतों का संकलन हुआ है तथा वाधुनिक कव्यता की रूढ़ि के अनुसार इसका महत्त्व ऐतिहासिक है काव्यात्मक नहीं, परन्तु साथ ही साथ यह सोचना ठीक नहीं कि इसमें काव्यात्मक तत्त्वों का सर्वथा अभाव है। सर्वत्र ही धार्मिक उत्साह वास्तविक काव्य का उद्गमक रहा है और भारतवर्ष में इस नियम का अपवाद नहीं है। ऋग्वेद का काव्यात्मक पक्ष भी कुछ सूक्तों में वस्तुतः उत्कृष्ट कोटि के काव्यात्मक गुणों का समावेश हुआ है। इस प्रकार के विवेचन के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्य-परम्परा का वास्तविक ऋग्वेद से ही हुआ। इस कथन की पुष्टि से सम्बद्ध अनेक उदाहरण ऋग्वेद में लीजे जा सकते हैं।-

ऋग्वेद में शृंगार, वीर, करुण, हास्य इत्यादि रसों का वर्णन अनेक प्रसंगों में हुआ है। एक स्थल पर कहा गया है कि उष्णा सूर्य के सामने अपना वस्त्रःस्थल लीकर उसे वैसे ही वाकर्णित करती है वैसे कि पत्नी पति के सामने अपना वस्त्रःस्थल लीकर उसे वाकर्णित करती है। अन्य स्थल पर उष्णा की समता अपना वस्त्रःस्थल लीकर दर्तकों को वाकृष्ट करने वाली नर्तकी से की गयी है। इस उक्ति में कौन अधिक सुन्दर है यह कहने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। शृंगार करके अपनी प्रियताम के पास जाकर उसे वाकर्णित करती हुई उष्णा की दृष्टि -

१- संस्कृत स्टडीज पृ० १

२- ऋग्वेद १।१२४।७

३- अधिष्ठासि कुरुते नृपु रिवापोणूति उग्रव वत्स ।

- ऋग्वेद १।६२।२

कन्धेन तन्वा शाश्वदाना एणि देवि देवमियदामाणम् ।

संस्थमाना युवतिः पुरस्तादाविदधांसि कृणुषे विभाती ॥ १

कमनीय कुमारी के समान अत्यन्त कर्तव्य वेण में अम्बित फाल्दायी सुर्य के पास जाकर वह युवती मुस्कराती हुई अपना वस्त्रःस्थान आवृत कर देती है। उष्णा का इस प्रकार का शृंगारिक वर्णन कौक प्रसंगों में हुआ है जिससे प्रभावित होकर मैकडानन ने स्वयं कहा है कि - “ उष्णा वैदिक कवियों की सर्वसुन्दर सृष्टि है, जिसके सौन्दर्य को अन्य किसी भी साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीति काव्य का सौन्दर्य नहीं पहुँच सका है^१ । डा० कीथ ने कहा है कि “ जो वैदिक कवि उष्णा देवी की उपमा एक सुन्दर नर्तकी से और अपनी प्रियतम के समान वस्त्रःस्थान आवृत कर देने वाली कुमारी से दे सकते थे, वे धर्म निरपेक्ष उपयोग हेतु शृंगारिक रचना करने में उत्तम नहीं थे । ”

पुरुषा- उर्वशी के प्रणय-प्रसंग में रहा-

कृष्ण पुरुषा को उक्तियों में विप्रलम्भ- शृंगार देखा जा सकता है, जहाँ वह उर्वशी को सम्बोधन करके कहता है कि “ मेरा बाण तरकस से फेंके जाने में असमर्थ होकर लक्ष्मी की प्राप्ति में समर्थ नहीं होता । मैं शक्ति युक्त होकर भी लुब्धों की गायों का उपभोक्ता नहीं हो पाता, यत्कर्म या शक्तिमय कार्यों के सम्पादन में असमर्थ रहता हूँ। मेरे योद्धा सैन्याम में मेरा सिंह नाद नहीं सुन पाते -

“ हृष्टुर्न श्रिय हृष्टुश्च रसनागीणा स्तथा न रंहिः ।

कवीर कृती वि वविषु तन्मीरा न मायुं क्षितयन्त ध्रुवः ॥४

१- ऋग्वेद १।१२३।१०

२- मैकडानन- हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर पृ० ८१

३- कीथ- हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर पृ० ४२

४- ऋग्वेद १०।६५।३

सोम- सुर्यां सुक्त में नवदम्पति की परस्पर सुन्दर प्रेमामिच्छा, वर का अपनी प्रियतमा के हाथ का चुम्बन करते हुए मधुर स्वरों के उच्चारण आदि स्थल भी इसी प्रकार के हैं। यह- यमी सुक्त में भी शृंगार रस की भावना निहित है, किन्तु वह पूर्णपरिपाक की प्राप्ति नहीं हो सकी है। यदि वह पूर्ण परिपाक की प्राप्ति हो जाती तो कदाचित् धर्मप्राण ऋषियों के लिए दीनपूर्ण होती। यमी वहीं पर अपनी भार्य की आकर्षित करते हुए कहती है कि “ यह देवताओं की कामना है कि जाति के प्रसर्जन की दृष्टि से यम अपनी बहिन के साथ सम्बन्ध स्थापित करे। यदि यम इस बात की स्वीकार नहीं करेगा तो वह कामात्सर्ग हो जायगी। यम बार- बार मना करता है। अन्त में यमी दग्ध होकर तुम पुरुषात्त्व-हीन हो, तुम में पुरुषाधिकार भावनाएँ नहीं हैं और भावुक हृदय नहीं है, कहती है :

“ व तो क्तासि यम नैव ते मनी हृदयं चाविदाम् ।

वन्था विलत्त्वा कथ्यस्व युक्ते परिष्वजाते त्विषेव वृक्षाम् ॥ १

ऋग्वेद के मन्त्रों में कहीं कहीं हास्य- रस का भी दर्शन होता है। मण्डूक-सुक्त एक ऐसा ही सुक्त है जिसमें एक स्थल पर मण्डूक की ब्रासणों से तुलना करते हुए कहा गया है कि “ ग्रीष्म ऋतु में शान्ति व्रत की धारण किये पड़े रहने वाले मण्डूक ब्रासणों के समान हैं, जो बर्षा ऋतु के जाने पर परस्पर प्रसन्न होकर टर- टर करते हुए एक दूसरे का अभिनन्दन करते हैं।

वदामुक्त १०।३४।१-२४ में जुवारी के

१- ऋग्वेद १०।१०।१४

२- यमी अ१०।३।५

विलाप में कृष्ण वीर हास्य रसों का संक्षिप्त यज्ञ- तन्त्र देता जा सकता है। एक स्थान पर वन्दन-सूक्तकार जुवारी की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि : “ जिस पुरुष के धन पर वज्रवान् जुए का पासा लगवाने लगता है अर्थात् वह अपनी सम्पत्ति को जुए में लगाने लगता है, उस पराजित हुए जुवारी की पत्नी को जीतने वाले जुवारी वस्त्र, केश आदि लौकर अपमानित करते हैं और किसी तरह से पराजित हुए जुवारी के फंदे जाने पर उसके माता- पिता और भाई - बन्धु उस जुवारी के सम्बन्ध में कहते हैं कि हम इसकी नहीं जानते बंधे हुए इसकी भे जाओ । ” इस प्रकार अपमानित हुए पश्चात्ताप करते हुए जुवारी की दृष्टि :

“ द्रिष्टि श्वशुरमाया रुणा हि न नाशितो विन्दते मर्हिताम् ।
वशस्यैव जर्तो वस्त्रस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥ २

सास द्रिष्ट करती है, पत्नी पास नहीं जाने देती, आपत्ति में कोई सहायक नहीं मिलता, मेरी दशा उस बूढ़े धोड़े जैसी है जिसका मूल्य एक वस्त्र लगाया जाता है।

हन्द्र -विनायक स्तुतियों में हन्द्र की वीरता का विशद संक्षिप्त प्राप्त होता है। जैसा कि कहा गया है कि “ मनुष्य जिस हन्द्रदेव की कृपा के बिना विजय प्राप्त नहीं कर सकता योद्धा लोग भी अपनी रक्षा के लिए युद्ध के देवता हन्द्र का आश्रय करते हैं। वह विश्व में सर्वश्रेष्ठ है। उसका कोई प्रतिमान नहीं है। वह अजयुक्तों को जयुक्त कर देता है, वह ऐसा हन्द्र है। इस प्रकार के वर्णन से यह स्पष्ट है कि वैदिक कवि

१- ऋग्वेद १०।३४।४

२- बही १०।३४।३

३- बही २।१२।६

हन्द्र की जहाँ- जहाँ स्तुति करता है वहाँ वहाँ वह हन्द्र के शारीरिक बल, वाकार एवं कार्यों की प्रशंसा करता है, उसके पीछे की स्तुति की जाती है वहाँ भी हम वीर रस का अनुभव करते हैं। निःसंदेह ऋग्वेद में वीर रस का होना नितास्त आवश्यक था क्योंकि कार्य एक योद्धा जाति के रूप में हमारे सामने आते हैं। कार्य का यह काल युद्ध की कहानी है।

हन्द्र का वृद्ध, शम्बर, पण्डित वादि के साथ युद्ध की स्थिति पर हुआ है। वहि- वध के वर्णन में कहा गया है कि “ हन्द्र ने वज्र से पर्वत पर वाजित वहि का वध किया तो उसके द्वारा अवरुद्ध जल^१ रम्भाती हुई धनुर्वी के समान तेजी से बहता हुआ समुद्र की ओर बल दिया। ” इसी प्रकार अन्य स्थान पर कहा गया है कि “ मनुष्यों के शक्ति को जानने वाला हन्द्र भयंकर कुरुरों में प्रविष्ट हो गया, वे काँप उठे हन्द्र ने वज्र लेकर उत्साह के साथ उनका वध कर डाला^२ ।

श्री बन्धेव उपाध्याय ने ऋग्वेद में शृंगार वीर वीर रसों का समुचित प्रयोग देकर उचित ही कहा है कि “ उष्ण विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य- भावना का आधिक्य है तो हन्द्र- विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है, अग्नि के रूप वर्णन में स्वभावोक्ति का आश्रय है तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की कथुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है ।

१- ऋग्वेद २।३५।६

२- वही ७।३३।८

तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक बिह्न है भावों की सबब
वमिव्यक्ति, निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।^१

ऋग्वेद से प्रारम्भ हुए काव्य-परम्परा
की कविता में कर्त्तारों की कौसी कटा विषमान है, उसमें कहीं भी
कर्त्तारों की जादने की चेष्टा नहीं की गयी है अपितु सहज स्वाभाविक
रूप से कौक कर्त्तार वा विभूत हुए हैं। ऋग्वेद में उपा^२, रूप^३, वतिसयोक्ति^४,
व्यतिरेक^५, विरोधाभास वादि कर्त्तार प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेदीय उपा से

१- बल्देव उपाध्याय- वाल्मीकि काँ ११ पृ० ५६

२- क्वातिव पुंस एति प्रतीनी गतारुमिव सन मे धनानाम् ।

जायिव पत्य उशती सुवासा उणाहस्रव निरणीति नप्सः ॥

- ऋग्वेद १।१२४।७

३- (क) दिवोरुक्म उरुचदा उदेति ॥ वही ७।६३।४

(वा) मध्ये दिवोनिहित पृश्निरश्या ॥ वही ७।६३।४

४- चत्वारि शृणा त्रयो स्य पादा, दशोर्ध्वं सप्त हस्तासो स्य ।

त्रिधा बद्धो वृणमो रोक्षीति, महादेवो भर्त्या वा विवेश ॥

- ऋग्वेद ४।५८।३

५- दा सुपर्णा सयुवा सखाया समानं वृक्षं परिणस्वजाति ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वादत्त्यनभन्मन्यो वमिषाकशीति ॥

- वही १।१६४।२०

६- नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त वस्तुसो न हस्तवन्तं सहन्ति ।

विष्या कौारा हरिणी न्युक्ता शीताः सन्तो वृष्यं निर्दहन्ति ॥

- वही १०।३४।१

प्रभावित होकर उसकी प्रशंसा करते हुए भी कन्देव उपाध्याय कहते हैं कि
 “ कर्कारों की रानी उषा देवी का नितान्त मध्य मनोरम तथा कृत्या-
 वर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथैव तो यह है कि उषा
 का काव्य संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं
 कविता का आविर्भाव है। आनन्द से सिन्धु कृत कवि की वाणी उषा
 के द्वारा अपनी को विवृण्वित करने में कीमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द
 का बोध करती है। ” इसके अतिरिक्त नीति विषयक, देव स्तुति ,
 राजप्रशस्ति , प्रकृति -चित्रण , इन्द्र योजना इत्यादि प्रकार के वर्णन
 भी ऋग्वेद में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जिससे यह सिद्ध हो जाता
 है कि संस्कृत- काव्य परम्परा का आरम्भ ऋग्वेद से ही हुआ । विण्टर-
 निट्ज ने ऋग्वेद की वाच्यता करके वैदिक- साहित्य को अति विस्तृत
 परिधि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि “ यदि
 हम ऋग्वेद संहिता के विविधतापूर्ण वर्ण्य विषयों पर दृष्टि डालें , तो
 हमें निश्चित प्रतीत होगा कि संग्रह भारत के अतीव प्राचीन काव्य के
 वंश हैं। उस युग में धार्मिक और नीतिक दोनों प्रकार के विषयों से सम्बद्ध
 एक अतिशय व्यापक और विशाल काव्य-साहित्य की रचना हुई थी, जिसका
 केवल आंशिक रूप ऋग्वेद के गीत, स्तुति और कविताओं में मिलता है । उस
 विशाल वैदिक साहित्य का अधिकांश भाग सम्भवतः सदा के लिए विनष्ट
 हो गया । इन संहिताओं में संग्रहकर्ताओं ने काव्य और धर्म की दृष्टि से
 सुबर्ण का चयन किया । इस चयन में सांसारिक विषयों से सम्बद्ध रचनाओं
 को भी स्थान दिया गया है । पर सत्कालीन काव्यों में ऐसी रचनाएं थी,
 जिनको धार्मिक मानकर ऋग्वेद में स्थान देना उचित प्रतीत नहीं हुआ ।
 इस निराकृत भाग से कुछ और परवर्ती युग में अथर्व वेद संहिता में संगृहीत

कर लिया गया^१।

ऋग्वेद के समान ऋक्सं वेद में भी काव्यी-
चित गुण पाये जाते हैं। ऋक्सं वेद की विषय- सामग्री भेषज, दीर्घायु,
पौष्टिक , शृंगार, प्रायश्चित्त , राजकर्म, भूमि आदि सुक्तों के रूप में
विभाजित है। ऋक्सं वेद की शैली गीति- काव्य की शैली है। ऋक्सं वेद में
किसी- किसी स्थल पर तो भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों
का समुचित प्रयोग नहीं हो सका है। ऋक्सं वेद में समय की गतिशीलता की
व्यंजनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि “ काळ ह्यपी
वश्य के सात रश्मियाँ हैं, सहस्र नेत्र हैं तथा विद्वान् देवगण उस पर बारी-
हण करने वाले प्राणी हैं। अन्य स्थल पर काळ की ब्रता का पिता स्वीकार
करते हुए कहा गया है कि “ काळ में ही तप है, काळ में ही ब्रत निहित
है और काळ ही सत्का ईश्वर है। अतः स्पष्ट है कि ऋक्सं वेद में काव्य -
परम्परा के निर्वाह के लिए काव्यात्मक तत्त्व प्रहर मात्रा में उपब्ध हो
जाते हैं।^२

ऋक्सं वेद की काव्य-परम्परा का आधार
ऋग्वेद की ही स्वीकार करते हुए आचार्य बन्धेव उपाध्याय कहते हैं कि
“ काव्य की दृष्टि से ऋक्संवेद ऋग्वेद का पूरक माना जाता है। ऋग्वेद
की प्रार्थना काव्य का निदर्शन मानना एक स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु
वह गौरव ऋक्संवेद को प्रदान करना चाहिए । ऋग्वेद अधिकांश वाधेदिक
तथा कव्यात्मक-विषयक मनोरम मन्त्रों का एक बाल समुच्चय है, तो ऋक्सं-
वेद वाधेदिक- विषयों पर रचित मन्त्रों का एक प्रसिद्ध संग्रह है। काव्य

१- छण्डोग्य ऋग्वेद- वात्स्युप १ पृ० ११८-११९

२- ऋक्सं-वेद १६।५३।८

की दृष्टि से दोनों में उदात्त भावनाओं से मण्डित तथा मानव हृदय को स्पर्श करने वाले सुबाल नीतिकाव्यों का वृहत् संग्रह है। दोनों मिलकर काव्यों की प्राचीनतम काव्य कला के लिए रुबिर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, यह सैतयहीन सिद्धान्त है।^१

वेदों पर मिले गये माधवों में जिनमें

ब्राह्मण कहा जाता है यज्ञ- सम्बन्धी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। ब्राह्मण साहित्य की दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- विधि और वर्ण वाच । विधि के अन्तर्गत यज्ञ की प्रक्रियाओं का रूप- विधान है। वर्णवाद में यज्ञ की प्रक्रियाओं और प्रार्थनाओं की इस प्रकार की व्याख्यान प्रस्तुत हुई है कि जिनसे यज्ञ की विधियों का पूर्णरूपेण समर्थन हो सके । विधि और वर्णवाद में इतिहास, वाख्यान और पुराणों की परम्परा का ज्ञान उपलब्ध होता है। पौराणिक कथाओं में यज्ञ- तंत्र काव्य के विभिन्न उप-करण उपलब्ध होते हैं। कुछ कथारं तो ऐसी हैं जिनमें सम्बन्ध की कम्पा मात्र रह जाती है जैसे- ' प्रजापति की सन्तान पतित है और उन पतितों के पास पत थें , वे उठते थे और अपनी हस्तानुसार स्थानों पर स्थिर हो जाते थे ।' इस प्रकार अन्यान्य कथानकों से ब्राह्मण युगीन संस्कृत काव्य परम्परा का रूप परिलक्षित हो जाता है।

पूर्ववर्ती ग्रन्थों की भाँति उपनिषदों में

भी संस्कृत- काव्य- परम्परा दृष्टिगोचर होती है। उपनिषदों में वाच्या-त्मिक तत्त्वों का अनुशीलन तथा कवियों के भावुकतापूर्ण उद्गार होने के कारण काव्योचित सौन्दर्य तथा भाषागत व्यञ्जना पायी जाती है। जिनमें

१- बलदेव उपाध्याय- वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० २३०

२- मैत्रायणी संहिता - १।१०।१३

स्तु, रश्मि, तम तीनों गुणों तथा ब्रह्म, माया, त्रिविधा इत्यादि प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं जो मानव के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। एक स्थान पर सत्य की कौशल्या करते हुए कहा गया है कि “ सत्य का मुक्त हिरण्य पात्र से ढका है। पुनः उसे दूर करो, जिससे कि वह देता जा सके। ” इस प्रकार के वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि उपनिषद्कारों ने दिव्य दृष्टि से सत्य का दर्शन सम्भव माना है। यही दिव्य दृष्टि उपनिषदों के काव्यात्मक पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए अधिक उपयोगी समझी गयी। तत्कालीन युग में संस्कृत भाषा भी काव्य के लिए अत्यन्त उपयोगी बन चुकी थी। फलतः उपनिषदों के रूप में संस्कृत भाषा में रचित काव्य आगे चल्कर उत्कृष्ट काव्य का मार्ग दर्शक बन गया। इससे सिद्ध होता है कि उपनिषदों परवर्ती संस्कृत काव्य परम्परा के विकास के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गयी। जिससे इन्हीं के आधार पर महा-भारत और रामायण जैसे प्रसिद्ध महाकाव्यों की रचना हुई।

महाभारतकार ने तत्कालीन काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि “ जिसमें शून्य शब्द हैं तथा देवताओं और मनुष्यों के चरित्रों का वर्णन हो इसके अतिरिक्त विविध इन्द्रियों का समुक्ति प्रयोग हुआ हो उसे ही काव्य कहते हैं। ” इस परिभाषा के आधार पर महाभारत को चरितकाव्य के रूप में स्वीकार करते हुए उसके

१- हिरण्यपात्रेण सत्यस्यापिहितं मुक्तम् ।

तत्त्वं पुनश्चपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

- ईशावास्योपनिषद् ६

२- कर्तुं शूभैः सदैः समयेर्दिव्यमानुषीः ।

इन्द्रोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुर्वाग्मिन् ॥

व्यास- महाभारत वादि पर्व १। २

प्रणीता ने पुनः कहा है कि “महान् पुरुषाणां चरितं के सुनने में भारी कभी भी तृप्ति नहीं होती है।” महाभारत में चारों वेदों का सार निहित है जिसके कारण इसे पाँचवें वेद की उपाधि से विभूजित किया गया है। महाभारत में वेद ही नहीं बल्कि पुराण, धर्मशास्त्र, कर्मशास्त्र इत्यादि विचार्यों से सम्बद्ध वर्णन भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज और संस्कृति, वर्ण-व्यवस्था, गृहस्थ-वाग्धर्म, वास्था स्वम् विचारधाराओं, शासन-पद्धति आदि का जैसा वर्णन महाभारत में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। व्यास की यह उद्भावना कितनी सटीक है कि यह महाभारत सभी वृद्धा परवर्ती कवियों के लिए उसी प्रकार वाग्धर्म प्रदान करेगा जैसे प्राणियों के लिए भेष ।

वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण वादि काव्य है। इसमें कर्तव्य रस प्रधान है। इसके अतिरिक्त शृंगार, हास्य, वीर आदि अन्य रसों का गीण रूप में वर्णन हुआ है। रामायण एक वादश काव्य है क्योंकि इसमें वादश पिता, वादश माता, वादश भाई, वादश पत्नी, वादश सेवक, वादश मित्र आदि अनेक वादशों का चित्रण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, वार्षिक परिस्थितियों का वर्णन भी रामायण में यथावत हुआ है।

१- न हि तृप्यामि पूर्वजान् शरावानश्चरितं मरुत् ॥

- महाभारत वादि पर्व ६।३

२- विज्ञेयः स च वेदानां पारंगो भारतं पठन् ॥

- महाभारत, वादि पर्व ६।३२

३- सर्वजान् कविमुत्थानामुपजीव्यो भविष्यति ।

कर्मण्य ह्य भूतनामदायी भारतद्रुमः ॥ महाभारत

ने प्रकृति चित्रण में वन, नदी, पर्वत, पक्ष, पत्नी, सूर्य, चन्द्र तथा ऋतु-
ऋतुओं आदि का जैसा वर्णन किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीन साहि-
त्यकार आदि काव्य के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं कि “ रामायण
की प्रधान विशेषता यही है कि उसमें घर की बातें अत्यन्त विस्तृत रूप
से वर्णित हैं। पिता- पुत्र में, भाई- भाई में, स्वामी -स्त्री में जो घर्म
बन्धन है, जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध है, उसको रामायण ने इतना
महान् बना दिया कि वह सहज में महाकाव्य के रूप में उपयुक्त हो गया। ”

जैसा कि वर्णन किया जा चुका है कि संस्कृत
काव्य- परम्परा वेदों में प्रारम्भ होकर ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों
में बहकर काटती हुई महाभारत और रामायण में अवतरित हुई। तत्पश्चात्
महाभारत और रामायण में अवतरित हुई काव्य- परम्परा ने परवर्ती संस्कृत
काव्य परम्परा को सबसे अधिक प्रभावित किया। जिससे अनेक प्रकार की
काव्य विधाओं का आविर्भाव हुआ जिनका बाद में काव्यशास्त्रियों ने लक्षण
प्रस्तुत करते हुए समावेश किया।

काव्य के रूप

संस्कृत आचार्यों ने विभिन्न मान्यताओं
के अनुसार काव्य के जो रूप प्रस्तुत किये हैं, उनमें गद्य और पद्य रूप में दो
मौलिक भेद उपलब्ध होते हैं जिन्हें मामह ने अपनी रचना में निर्दिष्ट किया
है, जिन्होंने भाषा, विषय, शैली के आधार पर काव्य के अनेक रूपों
का उल्लेख किया है। विषय की दृष्टि से मामह ने काव्य के चार भेद स्वीकार

१- खण्डि नाथ ठाकुर- प्राचीन साहित्य पृ०१

किये हैं : वृत्तविषादिचरितशेषि, उत्पायस्तु, कलाश्रय तथा शास्त्राश्रय ।
हन्हीने शैली के आधार पर काव्य के जो भेद माने हैं वे सर्गबन्ध, वामिनयार्थ,
वास्यायिका कथा और अनिबद्ध हैं।^१

भामह द्वारा बताये गये गण और पद्य के
रूप में काव्य के भेदों का समर्पण काव्यादर्शकार ने भी किया है। इसके अति-
रिक्त दण्डी ने गण- पद्य के मिश्रित रूप को भी काव्य कहा है। विश्वनाथ
ने मूलतः काव्य के दो रूप माने हैं- दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य के अन्त-
र्गत नाटक आदि दस भेद तथा श्रव्य काव्य के गण, पद्य मिश्रित ये तीन भेद

१- शब्दार्थौ सखितौ काव्यं गणं पद्यं च तद्विधा ।

संस्कृतं प्राकृतं चान्यदप्येति त्रिधा ।

वृत्तविषादिचरितशेषि चोत्पायस्तु च ।

कलाशास्त्राश्रयैति चतुर्थमिष्यते पुनः ॥

सर्गबन्धी भिनयार्थस्तैवास्यायिकाकथे ।

अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चमीच्यते ॥

- भामह - काव्यान्कार १।१६-१८

२- पर्वण्यं च मित्रं च तत् द्वितीयं व्यस्य स्थितम् ॥

- काव्यादर्श १।११

३- दृश्यव्यक्तभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ॥

- साहित्यदर्पण ६।१

प्रतिपादित किये हैं।^१ वामन के अनुसार गद्य और पद्य के दोनों प्रकार के काव्य वनिबद्ध और निबद्ध भेद से दो प्रकार के होते हैं। उन्होंने कहा है कि प्रसिद्ध होने के कारण इनके उदाण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।^२ वामन ने निबद्ध काव्य के लिए सन्दर्भ और प्रबन्ध इन शब्दों का प्रयोग किया है और निबद्ध काव्यों में नाटक को सर्वापरि मानते हुए कहा है कि "संदर्भों में दशरूपक श्रेष्ठ है।"^३ इसी प्रसंग में पुनः कहा गया है कि प्रबन्धों में नाटकादि दस प्रकार का रूप काव्य श्रेष्ठ होता है।^४ इस प्रकार के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वामन ने निबद्ध काव्य के अंग नाटक वाख्यायिका वादि को सूचित करने के लिए प्रबन्ध शब्द का प्रयोग किया था, किन्तु परवर्ती काल में इसी प्रबन्ध शब्द ने पद्यमय निबद्ध काव्य का स्थान पूर्णरूपेण ग्रहण कर लिया। संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काव्य का जो वनिबद्ध रूप स्वीकार किया है उसको परवर्ती वाच्यार्थों ने मुक्तक का नाम दे दिया। इससे यह स्पष्ट ही जाता है कि पद्यमय काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं : प्रबन्ध और मुक्तक।

प्रबन्ध-काव्य

सर्वप्रथम भामह ने प्रबन्ध काव्य का उदाण

१- ब्रह्म भोतव्यमात्रं तत्पद्यमयं द्विधा ॥

- साहित्यदर्पण- ६। ३१३

२- तदनिबद्धं निबद्धं च । काव्यात्मकारसूत्र १। ३। २७

तदिदं गद्यमयं काव्ययनिबद्धं निबद्धं च । जनयोः प्रसिद्धत्वात्तदुदाणं नीतकम् ।

३- सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः ॥ काव्यात्मकार सूत्र १। ३०

४- सन्दर्भेषु प्रबन्धेषु दशरूपकं नाटकादि श्रेयः ॥

- काव्यात्मकार सूत्रवृत्ति १। ३०

सर्गबन्ध (महाकाव्य) के रूप में प्रस्तुत किया है। कहे का तात्पर्य यह है कि भामह ने प्रबन्ध काव्य को ही महाकाव्य माना है। उनके अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। इसका नायक महान् होता है जिसके कारण इसका स्वयं ही महान् (विशाल) होना स्वाभाविक ही है^१। इससे यह स्पष्ट भी होता है कि तत्कालीन समय में महाकाव्य प्रबन्धकाव्य के रूप में ही उपलब्ध था। तत्पश्चात् भामह ने प्रबन्ध काव्य निबद्ध काव्य के रूप में स्वीकार कर उसके अन्तर्गत नाटकादि दस प्रकार के रूपों का उल्लेख किया है। दण्डी ने सर्गबन्ध (प्रबन्धकाव्य) के अतिरिक्त मुक्तक, कुम्भ, कोश और संघात काव्य के इन चारों रूपों का उल्लेख अवश्य ही किया है किन्तु इनके उल्लेख न देकर उन्हें सर्गबन्ध काव्य के ही अंश माना है^२। इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रबन्ध काव्य के रूपों का कोई स्पष्ट विभाजन न पाकर साहित्य-दर्पणकार^३ कहते हैं कि प्रबन्धकाव्य के महाकाव्य के अतिरिक्त काव्य और सण्डकाव्य^४ की भेद भी होती हैं।

महाकाव्य

महाकाव्य की काव्यशास्त्रीय परिभाषा भामह से लेकर विश्वनाथ तक भिन्न भिन्न रूपों में प्रस्तुत की गयी है जिससे यह स्पष्ट होता है कि महाकाव्य की परिभाषा के विकास में उत्तरोत्तर

१- सर्गबन्धी महाकाव्यं महती न महत्त्व यत् ॥

- भामह, काव्यालंकार १।१६

२- मुक्तकं कुम्भं कोशः संघात इति तादृशः ।

सर्गबन्धसिरूपवाचनुक्तः पञ्चविस्तरः ॥ दण्डी, काव्यादर्श १।१३

३- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण ३०६

४- उपरिषत्

३०७

परिवर्तन होता जाता गया जिससे महाकाव्यकारों के लिए उनकी रचना में और भी बन्धन बढ़ते चले गये । सर्वप्रथम भामह महाकाव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि :

“ महाकाव्य महान् व्यावितर्यो ते सम्बन्धितः , नीक सर्गों में रचित एक विशाल काव्य है। इसमें शूद्र और अन्य अधोप्राप्त्य होते हैं तथा नागरिकों के स्तर के होते हैं। इसमें विभिन्न वर्ण-कारों का समावेश होता है और यह सत् तत्त्वों पर आश्रित होता है। मन्त्रणा, दूत, प्रयाण, युद्ध और नायक के अभ्युदय के साथ साथ मृत्यु, प्रतिमृत्यु, गर्भ आदि पक्षों सन्धियों का समन्वित रूप भी इसमें होता है। यह अति व्याख्येय होने चाहिए अर्थात् अंकित शैली में लिखा होकर भी भी ऐसा दुरुह नहीं होना चाहिए कि उसे समझने समझाने के लिए किसी विस्तृत भाष्य की आवश्यकता पड़े । इसमें बाधोपान्त (कथात्मक तथा वैचारिक) उदात्तता रखनी चाहिए । सामान्यतः धर्म, वर्ण , काम और मोक्ष चतुर्वर्ग का वर्णन होते हुए भी इसका केन्द्र बिन्दु कर्म ही रहता है। यह लोक स्वभाव से परिपूर्ण एवं सभी रसों से युक्त युक्त व्याख्या-वित होता है। प्रारम्भ में नायक के वंश, पराक्रम और विषा आदि का वर्णन होना चाहिए और उत्कर्ष की सुनित कानि के लिए नायक के वध का वर्णन नहीं होना चाहिए । ”

१- सर्वबन्धी महाकाव्यं महती च महत्त्व यत् ।

अष्टाव्यसकमवर्णं च सार्वकारसदाश्रयं ॥

मन्त्रदूतप्रयाणा विनायकाभ्युदयेन च यत् ।

कैमिः सन्धिमिर्युक्तं नातिव्याख्येयमुक्तिम् ॥

चतुर्वर्गमिधानेऽपि मुख्यार्थोपदेशकम् ।

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः युक्तम् ॥

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यवृत्तादिभिः ।

न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिहित्तया ॥ भामह-काव्यालंकार १।१६

भाषण द्वारा दिये गये महाकाव्य के लक्षणों को सर्वांगीणता को जीर ज़रूर करते हुए काव्यादर्शकार कहते हैं कि 'महाकाव्य के प्रारम्भिक भाग में वाशीर्वाद, नमस्कार कथा वस्तुनिर्देश का यथावत् वर्णन होना चाहिए। उसका कथानक किसी ऐतिहासिक घटना कथा किसी सत्पुरुष के जीवन चरित से सम्बन्ध रखता हो। उसमें चतुर्वर्ग (धर्म, कर्म, काम, मोक्ष) में से किसी एक फल की प्राप्ति होना परम आवश्यक है। उसका नायक चतुर वीर धीरोदात्त होना चाहिए। इसमें नगर, राष्ट्र, पर्वत, जल, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उषान-क्रोडा, जलविहार, मधुपान, रतोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह, कुमारीउपपत्ति, मन्त्र-विचार, दूत प्रेषण, युद्ध इत्यादि प्रकार के वर्णन नायक के चन्द्रोदय की दृष्टि से होने चाहिए। वह सर्वोत्तम वीर काव्योचित गुणों से पूर्णतया युक्त हो। इसमें रस वीर भाव निरन्तर अभिव्यक्त होते रहें। यह कवि विस्तीर्ण सर्गों में अभिन्न नहीं होना चाहिए तथा श्रवण प्रिय चन्द्रोदय होना चाहिए। उसमें विभिन्न वृत्तान्तों का वर्णन लौकिक दृष्टि से होना चाहिए कथा जिसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में चन्द्रोदय जाना चाहिए। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त महाकाव्य युग-युगान्तर तक भी जबर बना रहता है।'

१- वाशीर्वादिभिर्यथा वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुक्तम् ।

इतिहासकथोद्भूतमितरदा सदाश्रयम् ।

चतुर्वर्गफलप्राप्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥

नगराण्यक्षौत्तुचन्द्रोदयोदयवर्णनैः ।

उषानसंक्रोडामधुपानरतोत्सवैः ।

विप्रलम्भे विवाहश्च कुमारीदयवर्णनैः ।

मन्त्रदूतप्रमाणान्दिनायकान्युदयैरपि ॥

कल्कृतमसंदिग्धं रसभावनिरन्तरम् । सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुबन्धिभिः ।

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लौकिकम् । काव्यं कल्पान्तरस्यापि जायते सकलकृतिः ।

- बण्डी- काव्यादर्श १।१४-१६

बीदहवीं शताब्दी में साहित्यवर्णकार
महाकाव्य की और विस्तृत परिभाषा देते हुए कहते हैं कि :

“ सर्गों में ग्रथित रचना ही महाकाव्य है। इसका नायक
देवता या धीरोदात्त, गुणी अथवा उच्चकल्पीत्पन्न होना चाहिए। इसके
एक वंश से अनेक अभिजात राजा भी नायक हो सकते हैं। इसमें शृंगार, वीर,
शान्त रसों में से एक रस प्रधान होता है तथा अन्य रस गौण होते हैं।
इसकी कथावस्तु में नाटक के समान मूल प्रतिमुख गर्भ आदि सन्धियाँ होती
हैं। इसमें कथा या तो इतिहास प्रसिद्ध होती है अथवा किसी महापुरुष
के जीवन से सम्बन्धित होती है। इसका चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्षा)
में से किसी एक फल की प्राप्ति कराना प्रमुख उद्देश्य होता है। इसका बारम्बार
नमस्कार, वाशीर्वाद अथवा कथावस्तु के निर्देश से होना चाहिए। इसमें
यज्ञ-उत्सव दृष्टों की निन्दा तथा सज्जनों को प्रशंसा होनी चाहिए। महा-
काव्य में सर्ग न तो बहुत शीट हो और न बहुत बड़े हो होने चाहिए। इसमें
सर्गों की संख्या आठ से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसके प्रत्येक सर्ग में एक
ही कन्द प्रयुक्त होना चाहिए किन्तु प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोकों की रचना
भिन्न कन्दों में होनी चाहिए। इसके किसी किसी सर्ग में अनेक कन्द भी
प्रयुक्त होते हैं, किन्तु सर्गान्त में मावी कथा की सूचना का संकेत प्राप्त हो
जाना चाहिए।

१- सर्गबन्धी महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥

सदृश चाप्रियोवापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।

एकवर्त्मना भूषाः कृत्वा बह्वीऽपि वा ॥

शृंगारवीरशान्तनायकोऽङ्गी रस इच्छति । कानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः

इतिहासोद्भव वृत्तमन्यदा सज्जनाश्रयम् । चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तैर्वै च फलं

वादी नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा । न च निन्दा क्तावर्णि ^{मवेत् ॥} सर्गा च

गुणकीर्तनम् ॥

एकवृत्तमर्थः पञ्चसुतये न्यवृत्तकैः । नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा वष्टाधिका इव ।

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कारुण्य दृश्यते । सर्गान्ते माविर्गस्य कथायाः पूर्णं मवेत् ॥

- विश्वनाथ -साहित्यवर्ण ६। २१५-२२२ तक

इसमें सन्ध्या, सूर्य, मन्त्र, रात्रि ,
प्रसीध, अन्धकार, दिन , प्रातःकाल मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु ,
वन, समुद्र , सम्मोग, वियोग , मनि , स्वर्ग , नगर, यज्ञ, संग्राम ,
यात्रा , विवाह, मन्त्र , पुनर्वन्म इत्यादि विचार्यों का संगीपनि
वर्णन होना चाहिए । इसका नाम साधारणतः इसके लेखक, कथा या
नायक वादि के आधार पर ही रखा जाना चाहिए । इससे सर्गों के नाम
उसमें वर्णित कथा के आधार पर ही होने चाहिए । ”

स्पष्ट है कि दण्डी के अनुसार महाकाव्य
का नायक वीर और उदात्त होना चाहिए किन्तु साहित्यदर्पणकार के
अनुसार महाकाव्य का नायक देवता, कुलीन ना प्रिय या एक ही वंश से
उत्पन्न एक कथा के राजा हो सकते हैं । भामह और दण्डी ने महाकाव्य
के कौंगीरस के रूप में अपना कोई भी विचार प्रस्तुत नहीं किया है, किन्तु
विश्वनाथ ने यह स्पष्ट कहा है कि -

“ वृंगार, वीर वीर शान्त रसों में से
किसी एक रस का कौंगी रूप में तथा अन्य रसों का गौण रूप में वर्णन
होना चाहिए । भामह और दण्डी ने महाकाव्य के सर्गों की संख्या पर
विचार होना चाहिए । भामह और दण्डी ने महाकाव्य के सर्गों की संख्या
सह-----

१- सन्ध्यासूर्यन्तुरक्षीप्रसीधान्तवासराः ।

प्रातर्मध्याह्नमृगयातिर्तुवनसागराः ॥

सम्मोगविप्रलम्भी च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।

रणप्रयाणीकर्ममन्त्रकुतोदयादयः ॥

वर्णनीया यथायोगे संगीपनिगो कमी ह्यह ।

कौंगीर्तस्य वा नाम्ना नायकस्यैतस्य वा ॥

नामास्य सर्गोपादिकथया सर्गनाम तु ॥ -विश्वनाथ-साहित्यदर्पण ६।३२२-२५

पर विचार नहीं किया जबकि विश्वनाथ ने उसके सर्गों की संख्या कम से कम आठ निश्चित की है। यद्यपि विश्वनाथ के पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना देना उचित मानते हैं। भामह और दण्डी ने महाकाव्य के नामकरण के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है जबकि साहित्यदर्पणकार के अनुसार महाकाव्य का नाम कथा, नायक ज्येष्ठा उसके रचयिता के नाम के आधार पर रखा जाना चाहिए तथा उसके सर्गों के नाम उसमें कथा के आधार पर रखे जाने चाहिए।

काव्य -----

साहित्यदर्पणकार के अनुसार प्रबन्ध-

काव्य का दूसरा भेद काव्य माना गया है। यह कहा जा चुका है कि "पद्यमय रचनाओं में महाकाव्य का स्थान अग्रणी है। विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य के सर्गों की संख्या कम से कम आठ निश्चित कर दी गयी है। यह इस बात पर बल देने के लिए कि उसका वस्तु प्रकार पूर्ण होता है। ऐसी स्थिति में जीवन प्रसार की दृष्टि से महाकाव्य से ऊपर कोटि वाली रचना को काव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। काव्य संस्कृत, पाञ्ची, प्राकृत, ज्येष्ठा अपभ्रंश भाषा में लिखा जा सकता है किन्तु यह मिश्रित भाषाओं में नहीं लिखा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य की भाषा वाचीपान्त एक ही होनी परमावश्यक है। महाकाव्य की भाँति छटना वैविध्य और अर्थ-विस्तार के अभाव में इसमें सर्गों की संख्या कम होती है। इसमें केवल एक ही विषय या वात्स्यान उपनिबद्ध होता है। काव्य की कथावस्तु का विभाजन नाटकीय सन्धियों में नहीं हो पाता।

मिथ्याटन, वार्य विज्ञास आदि संस्कृत ग्रन्थ इसी कोटि में आते हैं^१।

सण्डकाव्य

वस्तु- प्रसार की दृष्टि से भी काव्य ,
स्वरूपतः काव्य से भी ऊपर होता है उसे काव्यशास्त्रियों ने सण्ड काव्य
की संज्ञा प्रदान की है। सण्ड काव्य की परिभाषा देते हुए साहित्यदर्पण-
कार कहते हैं कि :

“ सण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि^२ च ”

अर्थात् सण्ड काव्य काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला होता है ।
साहित्यदर्पण के टीकाकार हरिदास सिद्धान्तवागीश के अनुसार इस कारिका
में समुच्चयार्थक चकार के ग्रहण से महाकाव्य का भी आलोच्य हो जाता है ।
अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि महाकाव्य या काव्य की तुलना
में उसके जैसे सदृश काव्य को सण्डकाव्य कहते हैं। सण्डकाव्य के उदाहरण के
रूप में साहित्यदर्पण में मेघदूत का उल्लेख हुआ है किन्तु मेघदूत को सण्ड -
काव्य का उदाहरण मानने में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान्
इसे संघातक का उदाहरण मानते हुए कहते हैं कि :

“ जिस काव्य में कवि एक ही अर्थ (विषय) का

१- भाषाविभाषानियमात् काव्यं वर्णमुज्झितम् ।

एकार्थं प्रणीतः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥

- साहित्यदर्पण सूत्र १०६

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण सूत्र १०७

वर्णन एक ही वृत्त (वृत्त) में करता है वह संघात कहा गया है। उसे वृन्दावन और मेघदूत आदि ।^१” ऐसा कि कहा जा चुका है कि वण्ठी के अनुसार संघात सर्गबन्ध (महाकाव्य) का ही एक अंग है तभी तो उन्होंने संघात का पुनः लक्षण देना उपयुक्त नहीं समझा ।^२”

इसी प्रकार साहित्यदर्पणकार के अनुसार भी लण्ड-काव्य महाकाव्य के एक अंग के रूप में होता है । ततः यह कहा जा सकता है कि संघात और लण्डकाव्य दोनों ही महाकाव्य के अंग मध्य रूप में उपबन्ध होने के कारण इनमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता ।

मुक्तक -काव्य

मुक्तक में मुक्त शब्द 'मुच' धातु और 'क्त' प्रत्यय जोड़ने पर बनता है। जिसका अर्थ है स्वतन्त्र रूप में खड़ा हुआ । इसी प्रकार मुक्त शब्द का वन्ध दी अर्था में प्रयोग होता है - प्राप्त मोक्ष तथा प्राप्त ब्रह्मानन्द वात्सल्य । इसी मुक्त शब्द से संज्ञार्थ कथा इत्ये के अर्थ में कन् प्रत्यय लगाने पर मुक्तक शब्द की निष्पत्ति होती है। मुक्तक शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि :

१- एकप्रवृत्तके एककविकृतसुबितसमुदायी वृन्दावनमेघदूतादि ।।

- हेमचन्द्र- काव्यानुशासन ८।१३

२- वण्ठी - काव्यादर्श ११।३

३- संज्ञार्थ कन्। वृष्टाध्यायी १।३।८७

४- वृत्ते । वृष्टाध्यायी १।३।८६

संज्ञार्थ कन् वृत्ते हेतुका या संज्ञा तस्या गम्यमानाया कन्
क्यात् यथा वंशकः । वंशुकः । वण्डकः ।

- पाणिनि- सूत्रवृत्ति १।३।८७

‘ मुख्यतः इति मुक्तं तदेव दुस्सं प्रव्यं मुक्तकं । ’

वर्थात् लघुकल्पेण मुक्त पदार्थं हो मुक्तक कहलाता है । यही मुक्तक शब्द कामा-
न्तर में काव्य के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा ।

प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने मुक्तक को
अनिबद्ध काव्य कहा है^१ । इन्होंने मुक्तक का कोई लक्षण न देकर अनिबद्ध
काव्य के अन्तर्गत गाथा अथवा श्लोकमात्र का वर्णन किया है^२ । यह भी
कहा गया है कि ‘ निबद्ध और अनिबद्ध काव्यों के प्रसिद्ध होने के कारण
इनके लक्षणों की आवश्यकता नहीं है^३ । ऐसी टिप्पणी से मुक्तक- काव्य
का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता । काव्यादर्शकार ने मुक्तक, कृत्क , कोश,
संघात इन चारों को सर्गबन्ध (महाकाव्य) के वंश के रूप में स्वीकार किया
है किन्तु परिभाषाएँ दूसरी भी नहीं दी हैं^४ । कामधेनु के टीकाकार कहते
हैं कि भामह ने मुक्तक का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पहले मुक्तक
वादि का क्लृप्त लक्षण कहा जाता है । गाम्भीर्यं, वीर्यं , नीति और मति
का स्पर्श करने वाले एक पद्य में रक्षित कव्य मुक्तक, दो पद्यों वाला द्विक

१- भामह- काव्यालंकार १।१८

२- अनिबद्ध पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः ॥

- भामह- काव्यालंकार १।२०

३- तदनिबद्धं निबद्धं च ।

तदिदं गद्यपद्यरूप काव्यमनिबद्धं निबद्धं च ।

अनयोः प्रसिद्धत्वात्लक्षणं नीवतम ।

- भामह- काव्यालंकार १।३।२७

४- मुक्तकं कृत्कं कोशः इति तादृशः ।

सर्गबन्धाशिरूपत्वावनुक्तः पद्यविस्तरः ॥

- दण्डी- काव्यादर्श १।१३

और तीन पर्वों वाला द्विक कहलाता है^१ किन्तु मामह द्वारा रचित काव्यान्तकार के अध्ययन से स्पष्ट है कि उसमें उपर्युक्त ज्ञान का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है।

अग्निपुराणकार मुक्तक काव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि :

“ अक्षरं ही रचकर चमत्कार सृष्टि में समर्थ श्लोक को मुक्तक काव्य कहते हैं^२ ”

इस परिभाषा को पश्चती काव्यशास्त्रियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा क्योंकि इसके आधार पर मुक्तक काव्य को अनेक परिभाषाएँ हुईं जैसे विश्वनाथ का कथन है कि “ इन्दीवद्वय पद वाचि काव्य को पद्य कहते हैं। इस पद्य से मुक्त अर्थात् दूसरे पद्य से निरपेदा काव्य मुक्तक कहलाता है। ” इसी प्रसंग में ध्वनिद्वार की परिभाषा उल्लेखनीय है, “ पूर्वापरनिरपेक्षतापि तेन रसवर्जणा द्विको तदेव मुक्तकम्^३ । ” अर्थात् पूर्वापर के सम्बन्ध से निरपेक्ष रहकर जो पद्य भवतः एकाकी

१- देखिए- भूता वीरियष्टम् ब्रुवन् ऐवैसी से प्रकाशित तथा नारायण बाबू जी कुल्कर्णी द्वारा संपादित काव्यान्तकारसूत्रवृत्ति (१६२७) पृष्ठ १४ की टिप्पणी ।

२- मुक्तकं श्लोक एवैकरचमत्कारनामः सताम् ।।

- अग्निपुराण- ३३७।३६

३- इन्दीवद्वयं पद्यं तेन मुक्तम् मुक्तकम् ।

- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण ६।३१४

४- अभिनवगुप्त- ध्वन्यालोक तृतीय उचीत

ही रसवर्णना करा सके उसे मुक्तक कहते हैं। ध्वनिकार ने न केवल मुक्तक की परिभाषा दी है बल्कि उसके रत्नाकार को भी संकेत करते हुए कहा है कि "प्रबन्ध या मुक्तक में रस का निर्वह करने के लक्ष्य सुबुद्ध कवि की विरोधी भावों के परिहार का यत्न करना चाहिए। इस प्रकार शास्त्रकारों द्वारा दी गयी मुक्तक काव्य की परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुक्तक काव्य का प्रत्येक श्लोक अपनी आपी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र ही वर्णित उसका प्रत्येक श्लोक अपनी अर्थ को अविव्यक्त करने के लिए पूर्ण प्रसंग की बिन्दुल आवश्यकता न रखता ही और वैफल्य हो रहकर सहृदय व्यक्ति को रसानुभूति कराने में पूर्ण रूप से समर्थ हो।

मुक्तक काव्य का महत्त्व

मुक्तक के उपयुक्त स्व. प के कारण काव्या-नन्द को अनुभूति वति शीघ्रता जाते हैं। प्रबन्धकाव्य में इस प्रकार की सुवि-धार न होने से काव्यानन्द की अनुभूति समूचे ग्रन्थ पर निर्भर होती है और प्रसंग सापेक्ष होती है। इसके वति रिक्त गुण-दोषों का भी अनुभव उसे स्वयं ही करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में डा० परमानन्द शास्त्री का मत उल्लेखनीय है :

" पाठक प्रबन्ध काव्यगत स्तनः नीरस पर्वों को निरपेक्ष भाव से शीघ्रता के साथ पढ़ता हुआ झोड़कर बागि नल देता है और

१- प्रबन्ध मुक्तकेवापि रसादीन बहुमिच्छता ।

यत्नः कार्यः समतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥

- ध्वन्यालोक

सांमुखिक रूप में ही उसके गुण-दोषों का अनुभव करता है। मुक्तक में ये सुविधाएँ नहीं रहती। वात्पर्य यह है कि प्रबन्ध काव्य में प्रसार अधिक है और मुक्तक में गहराई। सब तो यह है कि प्रबन्ध काव्य की रसवत्ता भी यह तब्र समाविष्ट भावमय स्थलों पर ही निर्भर होती है और ऐसे स्थान अपने आप में पूरक स्वतन्त्र स्फाटियों के रूप में जोड़ित रहने में समर्थ होते हैं। प्रबन्धकाव्य के कारण उनका महत्त्व नहीं होता बल्कि प्रबन्ध काव्य का महत्त्व उनके कारण होता है।^१

क्तः स्पष्ट है कि मुक्तक कि मुक्तक-काव्य का क्षेत्र सीमित होता है। जिससे उसका रचयिता उसमें रसपूर्ण सामग्री भरने में असमर्थ रहता है जबकि प्रबन्ध काव्य का क्षेत्र इतना व्यापक होता है कि उसके रचनाकार को उसमें रसपूर्ण सामग्री का विवेचन करने की पर्याप्त सुविधा मिल जाती है। यदि इस दृष्टि से मुक्तक काव्य और प्रबन्ध काव्य दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो उसके उपरान्त यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मुक्तक काव्य से काव्यानन्द की उत्पत्ति प्राणिक होती है जबकि प्रबन्ध काव्य से काव्यानन्द की उत्पत्ति स्थायी होता है। इसी प्रसंग में डा० राम सागर त्रिपाठी का कथन है कि :

“ प्रबन्ध में व्यापकता होती है किन्तु मुक्तक में भावों की तीव्रता व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का कम मूल्य नहीं। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भव्य है तो स्पन्दित जीवन की भव्यता में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि वनस्थली अपनी शोभा है तो

१- डा० परमानन्द शास्त्री - हिन्दी भाषा सप्तशती - भूमिका पृ० १६-१७

पुष्प (गुल्म) स्तवक की अपनी शोभा पुष्क ही है।^१..

अन्य स्थान पर हिन्दी साहित्य के इति-

हासकार ने कहा है कि :

“ प्रबन्ध के समान मुक्तक में रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपनी की भुला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय से एक स्थायी भाव ग्रहण करता है। वही तो रस के झट पड़ते हैं , जिनसे हृदय कलिका पीढ़ी दर के लिए खिल उठती है । उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संगठित जीवन या उसके एक तंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय सण्ड दृश्य सामने ला दिया जाता है।^२”

मुक्तक -काव्य में जोक जितना की भावना पायी जाती है जिसके कारण इसका महत्त्व और भी बढ़ गया । इसके मरुत उपदेश कर्तव्य विमुक्त पय प्रष्ट हुए व्यावित्यों की सुधारने के लिए प्रेरणा के प्रोत हैं। इस प्रकार के अनेक मुक्तक संस्कृत तथा हिन्दी काव्यों में भरे पड़े हैं । किसी सेठ द्वारा भारवि से प्रीति गये मुक्तक का ही प्रभाव देख लीजिए -

“ सहसा विदधीत न प्रियामविवेकः परमाफा फम् ।

वृणुते हि विमृशकारिणं गुणानुधाः स्वयमिव सम्पदः ॥ ” ३

अर्थात् बिना विचारे स्कारक कोई काम कर बैठना नहीं चाहिए, क्योंकि

१- डा० रामसागर त्रिपाठी- मुक्तक परम्परा और विहारी पृ० २४७

२- वाचायें रामचन्द्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २४७

३- भारवि- किराताकुंजीय सर्ग २

विविध बड़ी बड़ी आपत्तियाँ का मूल कारण है। विचार कर काम करने वाले (विवेकी) पुरुष का वर्ण संवत्तियाँ (सफाई) स्वयं कर लेते हैं।

चिरकाल पश्चात् परदेश से जाये हुए सेठ ने जब किसी युवक और अपनी पत्नी को एक सय्या पर लेकन करते देखा तो उसने प्रान्तिवश किंत्तव्यविमूढ़ होकर जैसे ही उन दोनों को मारने के लिए तन्वार का प्रहार किया तो जैसे ही उसकी तन्वार भारवि से सरीस कर टांगि गयी मुक्तक के वस्त्र में उलझ गयीं। उसे पड़ते ही उसका विवेक दूर हो गया। इसप्रकार भारवि के एक ही मुक्तक ने उसके पुत्र तथा उसकी पत्नी के प्राण जना दिये। यह कथा संस्कृत काव्य-प्रमियों से छिप नहीं सकी है।

इसी प्रकार हिन्दी के महाकवि बिहारी ने काम वासना में लिप्त जयपुर नरेश के पास एक झोटा सा मुक्तक लिख कर भेजा जो उसे उसकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने में पूर्णरूपेण समर्थ हुआ^१। इस प्रकार के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्त्तव्य-विमुख जयवा पञ्चष्ट हर व्यक्तियों को मुक्तक काव्य ही सम्मार्ग पर जाने में समर्थ है न कि प्रबन्ध काव्य। अतः मुक्तक काव्य का महत्त्व प्रबन्ध-काव्य से कहीं अधिक है। इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के इतिहासकार ने उक्ति ही कहा है कि :

“ यदि प्रबन्ध काव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक एक सुना हुआ गुल्मस्ता^२ । ”

१- नहिं पराग नहिं मसुर मधु नहिं विकास इहि काम ।

जली कनी ही सौ बिधिया जागे कौन खाल ॥ बिहारी सतसई, ३८.

२- जाबार्थ रामचन्द्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २४७

यह कहा जा चुका है कि प्रबन्ध काव्य का महत्त्व उसमें यह तन्त्र बितरे हुए मुक्तकों से ही है। प्रबन्ध काव्य के संगृहीत मुक्तकों में शृंगार, नीति तथा ज्ञान- विषयक सूक्तियाँ उपदेशों के रूप में पायी जाती हैं। इन सूक्तियों का महत्त्व इसलिए नहीं है कि इनका उत्प्रेष प्रबन्धकाव्य में हुआ है वरिष्ठ सूक्तियाँ स्वयं प्रबन्ध काव्य के महत्त्व का कारण बन गयी हैं। इस प्रकार की सूक्तियाँ कालिदास, भारवि, भवभूति आदि की रचनाओं में मरी पड़ी हैं। मुक्तक की सर्वप्रियता के कारण ही शायद राजशेखर ने उक्ति ही कहा है कि - “ मुक्तके कवयोऽनन्ताः । ” सकल मुक्तकों के अध्ययन से ही यह निष्कर्ष निकाला गया है कि “ कोमल कान्त पदावली, रमणीय छन्द, कमनीय शब्द विन्यास तथा वर्णकारी का धुरुचिपूर्ण विरल प्रयोग (गीति) मुक्तक काव्य की सफलता के लिए आवश्यक है।

डा० परमानन्द शास्त्री के अनुसार -

१-(व) किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकूतीनाम् ।

- वभिज्ञानशाकुन्तल

(वा) कस्यात्यन्तं सुतमुपतं दुःखीकान्ततो वा ।

नीर्घर्षस्तुपरि च वशा कर्त्तुमिच्छेण ॥ - मेघदूत १७

२- व- वसन्ति हि प्रेम्णा गुणा न वस्तुनि । - किराताकुन्तीय ८।३७

वा- स्ति मनीहारि च दुर्लभः वचः ॥ - वही १।४

३-व- वज्रादपि कठोराणि मुहुनि कमुपादपि ॥ उत्तररामचरित २।७

वा- गुणा पूजास्थानं गुणिषु न च स्ति न च वयः ॥ वही ४।११

४- काव्यमीमांसा अध्याय १०

५- डा० चन्द्रशेखर पाण्डेय- डा० शान्ति कुमार नात्रराम , डा० हरिवत्स

शास्त्री - साहित्य की रूपरेखा , अष्टम संस्करण १९६७ पृ० ३४४

“ प्रबन्ध काव्य में कवि को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है कि वह विषय के व्यापक दायरे में पर पसार करे किन्तु मुक्तक बनाने के लिए मुक्तककार को स्वयं बंधना पड़ता है उसे अपनी सीमित दायरे में कल्पना के रंग भरने पड़ते हैं। उसे अधिक कहने के लिए न अवकाश है और न स्थान अतः संकीर्ण परिधि में ही व्यञ्जना द्वारा भावामिव्यञ्जना करनी पड़ती है। अतः बहुज्ञ, सशक्त एवं भाषा विधायक मुक्तककार ही मुक्तक रचना में सफल हो सकता है। ”

मुक्तक-संग्रह के विभिन्न प्रकार : क्रम के आधार पर

जैसा कि कहा जा चुका है कि पद्यमय काव्य के दोपद होते हैं - प्रबन्ध और मुक्तक । मुक्तक काव्य भामह तथा वामन वादि काव्यशास्त्रियों के समय में अनिबद्ध काव्य के रूप में प्रयोग होता था । तत्पश्चात् काव्यादर्शकार ने मुक्तक, कुल्क, कोश और संघात का सर्गबन्ध काव्य के वर्ग के रूप में उल्लेख करके यह स्पष्ट कहा है कि प्रसिद्ध होने के कारण इनके लक्षणों की कोई आवश्यकता नहीं है।^१ इस उक्तिगत मुक्तक का लक्षण देते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि :

“ पूर्वापर के प्रसंग से निर्पिदा जो एकाकी पद्य रसानुभूति कराने में समर्थ हो उसे ही मुक्तक कहते हैं। ”

कुल्क से काव्यादर्शकार का अभिप्राय अनुमानतः ऐसे अनेक पद्यों के समूह से था कि जिसका प्रत्येक पद्य वैयक्तिक रूप से पूर्ण वाक्यार्थ प्रस्तुत करने में असमर्थ हो और सभी पद्य सामूहिक रूप से

१- डा० परमानन्द शास्त्री- हिन्दी नायासप्तशती पृ० १७

२- मुक्तकं कुल्कं कोशः संघात इति तादृशः ।

सर्गबन्धातिरूपत्वादनुक्त पद्यविस्तरः ।। दण्डी-काव्यादर्श १।१३

३- वानन्दवर्धन - ध्वन्यालोक - जीवन टीका

एक ही क्रियाएँ से सम्बन्धित होते हुए वाक्यार्थ अभिव्यक्त करें। इसी आधार पर साहित्यदर्पणकार ने पद्य के भेदों का उल्लेख करते हुए कहा है कि :

इन्द्रोद्बद्धं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
 द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्धानितकं त्रिमिरिष्यते
 कलापकं चतुर्मित्त्वं पञ्चमिः कुल्लकं षष्ठम् ॥ १

अर्थात् इन्द्रोद्बद्ध पद्य वाले काव्य को पद्य कहते हैं। इस पद्य से मुक्त अर्थात् दूसरे पद्य से निर्मुक्त काव्य मुक्तक कहलाता है। जब दो पद्याँ से वाक्य-पुर्ति होती है तो उसे युग्मक, तीन पद्याँ से वाक्यपुर्ति हो तो उसे सन्धानितक, चार पद्याँ से यदि वाक्य पुर्ति हो तो उसे कलापक और पाँच या उससे अधिक पद्य जब वाक्य पुर्ति करते हैं तो उसे कुल्लक कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि विश्वनाथ ने पद्य के मुक्तक, युग्मक, सन्धानितक, कलापक और कुल्लक ये पाँच भेद स्वीकार किये हैं।

मुक्तक और कुल्लक के समान ही काव्यादर्शकार ने कोश और संध्या की भी परिभाषाएँ नहीं दी हैं। सबसे पहले हर्षचरित-कार ने हर्षचरित की भूमिका में कोश की परिभाषा की अत्यन्त ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा है कि :

“ जिस प्रकार कोई व्यक्ति विदुष जाति के अग्राम्य स्त्रियों से अपना कोश (सञ्ज्ञान) तैयार करे उसी प्रकार सातवाहन ने अग्राम्य जाति स्त्रियों (बाधावर्ग) को अपनी कोश में संगृहीत किया है। ”

१- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण ६। ३१४

२- बाणभट्ट- हर्षचरित भूमिका १। १३

इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि मुक्तकों का एक संग्रह कोण कहलाता था । जिसकी परिभाषा देते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि “ परस्पर निर्दिष्ट श्लोक समूह कोण कहलाता है और व्रज्याक्रम से रक्ति कोण अत्यन्त मनोरम होता है। ”

सारांश यह कि कोश के दो प्रकार हैं -

व्रज्याक्रम से रक्ति और क्रमरक्ति । विश्वनाथ ने व्रज्याक्रम रक्ति कोश के अन्तर्गत मुक्तावली का वर्णन किया है तथा व्रज्या शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि “ सजातीयानामिन्द्र सन्निवेशीव्रज्या ” अर्थात् एक ही जाति के मुक्तकों का एकत्र संग्रह ही व्रज्या कहलाता है। इस प्रकार विश्वनाथ द्वारा दी गयी व्रज्या- विषयक परिभाषा न वज्जालङ्कार तथा देशीनाममालाकार द्वारा प्रस्तुत की गयी परिभाषाओं से काफी साम्य रखती है क्योंकि इनका भी कथन है कि एक ही अर्थ २ सम्बद्ध गाथाएं जहाँ संगृहीत हो उसे “ वज्जा ” कहते हैं। वज्जा का शाब्दिक अर्थ है “ पद्मति ” अथवा वज्जा “ अधिकार ” को भी कहते हैं। इस प्रकार की परिभाषाओं के आधार पर यहाँ कहना उपयुक्त होगा कि- “ जहाँ पर एक ही विषय से सम्बन्धित बहुत से मुक्तकों का क्रमानुसार वर्णन हो उसे ही व्रज्याकहते हैं ।

व्रज्या क्रम से रक्ति कोण के अन्तर्गत मुक्तावली के अतिरिक्त वज्जालङ्कार को भी स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इसमें सज्जन- प्रीति , दुर्जन- निन्दा आदि लोक विषयों का क्रमानुसार वर्णन हुआ है। क्रमरक्ति कोश से तात्पर्य उस कोश से है कि जिसमें

१- कोणः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्वयान्वयानपिदाकः ।

व्रज्याक्रमेण रक्तिः स स्वातिमनोरमः ॥ विश्वनाथ-साहित्यदर्पण ६।३२६

२- विश्वनाथ साहित्यदर्पण ६।३२६

३- एकस्य पद्याय अर्थ पठिष्यन्ति पठणाहावो ।

तं स्तु वज्जालङ्कारं वज्जा त्ति पदं भणिया ॥ वज्जालङ्कार ४

४- देशीनाममाला अ ३२

किसी भी विषय का क्रमबद्ध वर्णन न हुआ हो। गाथासप्तशती कुमरभित कोश है, क्योंकि इसमें अनेक कवियों की संगृहीत गद्यवाक्यों का विषय के आधार पर क्रमानुसार वर्णन नहीं हुआ है। गाथासप्तशती के आधार पर परवर्ती काल में जार्यासप्तशती की रचना हुई किन्तु इसके संगृहीत मुक्तकों में व्रज्या का अकारादि अक्षरों के क्रम से वर्णन हुआ है। इस प्रकार व्रज्या का अकारादि अक्षरों के रूप में क्रमानुसार वर्णन पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों द्वारा दी गयी व्रज्या की परिभाषा से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उन्होंने एक ही विषय से सम्बद्ध मुक्तकों के संग्रह को व्रज्या कहा है। अतः जार्या-सप्तशती का कोश न तो गाथासप्तशती के समान कुमरभित है और न वज्जवाचस्पति के समान क्रमरचित।

काव्यादर्श के टीकाकार नृसिंहदेव संधात की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि -

“ यत्र कविरुक्तं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्यम् ।

संधात इति निगदिता वृन्दावनमेष्वृतादिः ॥ ”

अर्थात् जिस काव्य में कवि एक ही अर्थ विषय) का वर्णन एक ही वृत्त (इन्द्र) में करता है वह संधात कहा गया है। जैसे- वृन्दावन और मेषवृत्त आदि। अन्य स्थान पर काव्यानुशासनकार भी संधात की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि “ संधात का अर्थ है एकार्य सङ्घ- काव्य, जिसमें एक ही प्रकार के इन्द्र में ही किसी घटना या दृश्य विशेष का वर्णन किया जाता है जैसे वृन्दावन और मेषवृत्त । ” इस प्रकार काव्यशास्त्रियों द्वारा दी

१- एकप्रयट्टके एकक विकृत सु क्तिसमुदायी वृन्दावनमेष्वृतादिः संधातः ।

- हेमचन्द्र- काव्यानुशासन ८।१३

नयी संघात की परिभाषाएँ चिरकाल तक विवादास्पद बनी रही, क्योंकि साहित्यदर्पणकार के अनुसार सण्डकाव्य सर्गबन्ध (महाकाव्य) के ऋत के रूप में ही होता तथा इसके उदाहरण में उन्होंने मेघदूत का उल्लेख किया है,^१ किन्तु कुछ काव्यशास्त्रियों ने इस संघात का उदाहरण भी माना है। जिस प्रकार सण्डकाव्य में सर्ग बन्ध (महाकाव्य) के ऋत के रूप में स्वीकार किया गया है उसी प्रकार संघात को भी।^२ क्तः एष दृष्टि से संघात वीर सण्डकाव्य में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता किन्तु संघात में जल-विहार , शीत , ऋतु , नगरी इत्यादि विषयों से सम्बद्ध वर्णन एक ही वृत्त में रचित पद्यों के समूह के रूप में होते हैं। जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि संघात का लीला सण्डकाव्य की अपेक्षा कम विस्तृत होता है।

संख्या के आधार पर

संख्या के आधार पर मुक्तक संग्रह के तीन भेद ही सकते हैं, क्योंकि मुक्तककार के लिए संख्या का कोई बन्धन नहीं होता है। इसी सुविधा के कारण मुक्तककारों की संख्या अनन्त दिताई देती है। इस कथन की पुष्टि में काव्यमीमांसाकार ने उक्ति ही कहा है कि “ मुक्तक काव्य की रचना करने वाले कवि अनन्त हैं, प्रबन्ध काव्य की रचना करने वाले श्रेष्ठ हैं, किन्तु महाकाव्य की रचना करने वाले एक ही हैं , तीसरा तो शून्य है। ” इस उक्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुक्तककार

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पणकार - सूत्र ३०७

२- दण्डी - काव्यादर्श १।१३

३- मुक्तके कवयोऽनन्ताः प्रबन्धे कवयः शतम् ।

महाकाव्ये तु कविरको पुनर्दुर्लभास्तथाः ।।

- राक्षस- काव्यमीमांसा अध्याय १०

संस्था वस्तु वादि के बन्धन से मुक्त होने के कारण ही अन्त पाये जाते हैं। तभी तो मुक्तक संग्रहों में संगृहीत मुक्तकों की संख्या में पर्याप्त असमानता नजर आती है। अतः मुक्तक संग्रहों में संगृहीत पद्यों की असमानता के आधार पर ही उसका संस्थात्मक भेद प्रस्तुत किया जा सकता है।

मयूर कवि द्वारा शृंगार के आठ रसों में प्रणति कोष मयूराष्टक के नाम से प्रसिद्ध है। विन्धवा द्वारा रचित पद्म पद्यों की रत्ना नीरपवाशिका नाम से प्रसिद्ध है। शतक के रूप में मुक्तक संग्रहों की संख्या अधिक पायी जाती है। जैसे- सूर्यशतक, जण्डीशतक, वैराग्य शतक, नीति शतक, शृंगार शतक, कमलक शतक, भण्ड शतक, अन्धोदित शतक आदि। दुर्गा की स्तुति में मुक्तकवि द्वारा पाँच सौ मुक्तकों में रचित मुक्तकशती के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ संग्रहों में सात सौ पद्यों की संख्या पायी जाती है जो सप्तशती के नाम से प्रसिद्ध है। जैसे- नाथासप्तशती और वार्यासप्तशती। दुर्गा-सप्तशती तथा गीता का विषय मुक्तक संग्रहों से सर्वथा भिन्न होने के कारण हमें मुक्तक संग्रहों के अन्तर्गत स्विकार न करते हुए डा० परमानन्द शास्त्री कहते हैं कि :

“ मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत दुर्गासप्तशती भी प्रसिद्ध है तथा महाभारत के अन्तर्गत गीता में सात सौ पद्य हैं, किन्तु ये मुक्तक संग्रह नहीं हैं। नाथासप्तशती के अनुसरण पर संस्कृत में लिखी गयी प्रथम उपलब्ध सप्तशती गोवर्धनाचार्य की वार्यासप्तशती है। बाद में हिन्दी में सतसई परम्परा बहुत प्रसिद्ध हुई। ”

१- डा० परमानन्द शास्त्री - हिन्दी नाथासप्तशती सूचिका पृ० ३७-३८

वाचाय गोवर्धन का समय

गोवर्धनाचार्य ने अपनी स्थिति का काल का उत्प्रेष नहीं किया है, किन्तु अनेक बाह्य प्रमाणों एवं अन्तःसाक्ष के आधार पर उनका निर्धारण किया जा सकता है। गया में प्राप्त एक शिला-लेख के अनुसार गोवर्धन, शरण, जयसिंह, उमापति तथा कविराज ने पश्चिमी कवि फैवर्त्तन कहे जाते थे जो लक्ष्मणसेन के दरबार में रहते थे :

“ गोवर्धनश्च शरणो जयसिंह उमापतिः ।

कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ॥

राहुल सांकृत्यायन ने संस्कृत काव्यधारा नामक अपनी इतिहास सम्बन्धी ग्रंथ में गोवर्धनाचार्य कीवम्प्रेष भाषाके उत्तरकाल (७००- १२०० ई०) में स्थान देकर उन्होंने लक्ष्मणसेन का ^१काल वाञ्छित माना है और लक्ष्मणसेन का शासनकाल १११६ ई० माना है। अतः स्पष्ट है कि गोवर्धनाचार्य लक्ष्मणसेन के वाञ्छित कवि होने के कारण १११६ ई० के लगभग वर्तमान थे ।

लक्ष्मणसेन की ११७८ ई० में वरिराजवर्धन की उपाधि से विभूषित किया गया था ^२। वार० सी० मजूमदार के अनुसार ^३ लक्ष्मणसेन ११७६ ई० में राज सिंहासन पर आरुढ़ हुए थे और स्मिथ ^४ के अनुसार ११७६ ई० से ३० वर्ष पर्यन्त लक्ष्मणसेन ने शासन किया था ।

१- राहुल सांकृत्यायन - संस्कृत काव्यधारा पृ० ६६- ६६

२- स्ट्रगलफार एम्पायर वाल्डूम ५ पृ० ३८ भारतीय विद्यामण

३- वार० सी० मजूमदार- हिस्ट्री ऑफ बंगला पृ० २१८

४- स्मिथ- प्राचीन भारत का इतिहास पृ० ४०३, ४०७ तृतीय संस्करण

इन्हीं मतों के आधार पर जार्ज ग्रियर्सन ने कहा है कि " गोवर्धनाचार्य ने ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में ही वाराणस-प्राशस्ती की रचना की थी ।"

लक्ष्मणसेन के शासनकाल का उल्लेख करते हुए डा० ईश्वरी प्रसाद कहते हैं कि " लक्ष्मणसेन के समय में मुहम्मद बिन विस्त्यार ने वाक्रमण किया । वह पीढ़ी के व्यापारी के रूप में आया और तब तक राजा लक्ष्मणसेन को उसकी सूचना न मिली, जब तक कि उसने का-फिरों का बध करना प्रारम्भ नहीं कर दिया । लक्ष्मणनिया (लक्ष्मणसेन) उस समय बीजन कर रहा था । उसे जब पता चला तो वह गुप्त द्वार से बाका पहुँचा जहाँ १२०५ में उसकी मृत्यु हो गयी । "

इन ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि गोवर्धनाचार्य ने बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अपनी सप्तशती की रचना की थी । इस विषय में विद्वानों में मत-भेद का तबसर नहीं है।

प्रस्तुत अध्ययन : आवश्यकता और महत्त्व

वाराणस-प्राशस्ती गाथासप्तशती के अनुसरण पर लिखी गयी प्रथम उपलब्ध कृति है जो उत्तरवर्ती संस्कृत कवियों की और तत्पश्चात् हिन्दी कवियों की भी उपजीव्य बनी । इतनी महत्त्वपूर्ण कृति के सर्वांगीण अध्ययन की आवश्यकता के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं । इसके रूप में एक नयी विधा ने संस्कृत काव्य में पदार्पण किया,

१- जार्ज ब्राह्म ग्रियर्सन- काव्य चन्द्रिका - भूमिका पृ० २-३

२- डा० ईश्वरी प्रसाद -मध्ययुग का इतिहास पृ० १४०

एक झोटे से इन्ध में व्यापक रस सामग्री को इन्ध के प्रयास हुआ और एक नयी परम्परा ने जन्म लिया। संस्कृत के वायसिन्धु को जिस सुन्दर एवं परिष्कृत रूप में गोवर्धनाचार्य ने प्रस्तुत किया है वैसे उनके किसी पूर्ववर्ती कवि ने नहीं किया।^१

वायसिन्धु की प्रशंसा में जयदेव कवि का कथन है कि “शृंगार रस की सुन्दर रचना करने में आचार्य गोवर्धन का प्रतिस्पर्धी कोई नहीं है।” शृंगारिक ग्रन्थ होने के कारण इसी नायक नायिकाओं की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। जिससे तत्कालीन समाज में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों और रुचियों का प्रतिफल भी स्वाभाविक है। परम्परागत समाज के कठोर नैतिक वादों स्तरों को भेदकर भी यथार्थ का भीतिक केंद्र फूट फूटता है। इस दृष्टि से भी इस कृति का अध्ययन स्फुरणीय है। इसके अतिरिक्त गागर में सागर समेटने के कारण वायसिन्धु स्वभावतः ध्वनि काव्य बन गयी है और ध्वनि के अनेक रूप इसमें बिखरे हैं। अतः यह अध्ययन इस दृष्टि से भी रोचक और लाभप्रद सिद्ध हो सकेगा।

गोवर्धनाचार्य ने एक और प्राचीन महा-कवियों के काव्य का अनुशीलन कर उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व किया है तो दूसरी ओर अपने उपजाती रीतिकालीन कवियों की भाव, विषय, प्रसंग, शैली एवं अप्रस्तुत विधान द्वारा एक नयी प्रेरणा प्रदान की है। इन दोनों पहलुओं की ध्यान में रखकर किया हुआ अध्ययन देखनी-दीपक न्याय से विकास के उभयदिक् वायाम पर प्रकाश डाल सकेगा।

१- पण्डित चन्द्रसेन पाण्डेय- डा० शान्ति कुमार, नानुराम व्यास,

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा पृ० ३३१

२- जयदेव- नीतिगोविन्द १।४

जायासप्तशती की भावभूमि एकदम पार्थिव है। इसका विषय नौकिक प्रेम है। जहाँ न तो कल्यात्म की दुःखता ही है और न ही समाज का बन्धन । यौवन और प्रेम का मादक उत्साह संपूर्ण कृति में व्यक्त व्याप्त है। भले ही उसमें हास की रत्ना के समान अभिव्यक्ति का पारदर्शी सहज प्रकाश न हो और उसे कुछ ही तैशों में सफलता प्राप्त हुई है फिर भी साहित्य जगत् में उसका प्रादुर्भाव विद्वानों को जगत् जाबूष्ट कर सका है। उसमें हास के शब्द-चित्रों की सरसता नहीं है फिर भी रसिकों के मन को तरंगित करने की सामता से हत्कार नहीं किया जा सकता।

जायासप्तशती की रत्ना जाया इन्द में हुई है। इन जायाजी की रत्ना ककारादि क्रम से की गयी है। संस्कृत के जिस जाया इन्द को सुन्दर एवं परिष्कृत रूप में गोवर्धनाचार्य ने प्रस्तुत किया है वैसे उनके किसी पूर्ववर्ती कवि ने नहीं किया^१। यह बात और है कि एस० के० डे की जाया इन्द यहाँ अफिट और अरुद्ध गति प्रतीत हुआ हो उसका कारण जाया इन्द में निहित नहीं है, बल्कि गोवर्धनाचार्य की भाषा विषयक महीन पञ्जीकारी में है। राहुल सांकृत्यायन का यह मत किना समीचीन है कि "वर्षश काव्य के संस्कृत कवियों की कंकरीली फाड़ियों में खिसटने के बाद गोवर्धन के पास आकर बड़ी सान्त्वना मिलती है। इनकी एक एक जाया गागर में सागर है। भाषा भी दुःख नहीं और भाव भी वृद्धग्राही है।"^२

सामाजिक दृष्टि से भी जायासप्तशती

१- पी० बन्धुशेखर पाण्डेय, डा० शान्ति कुमार, नानुराम व्यास - संस्कृत

साहित्य की रूपरेखा पृ० ३३१

२- राहुल सांकृत्यायन - संस्कृत काव्यधारा पृ० ६६-६६

के अध्ययन का महत्त्व अन्य मुक्तक काव्यों से कम नहीं है। शृंगारगत , रूप-
लावण्य और भावमाधुर्य से एक एक कर कवि ने बीच बीच में सफल सुक्तियाँ
और लोक जीवन के प्राणपद वीजित्य का रसायन भी उपलब्ध किया है तभी
तो ' वायसिप्तशती में लोक जेतना का स्वर विशेष रूप से सुललित हो उठा
है, उच्छ्वसित पुरुष एवं स्त्रियों को सम्मार्ग पर लाने के लिए जो मधुर उपदेश
वैश्याओं की कटु निन्दा तथा दूती को फटकारने वाली साध्वी पत्नी के
चित्र वायसिप्तशती में वंशित हैं, वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं ।^१

सारंश यह है कि वायसिप्तशती की
विद्वन्मानस शारिणी विशेषताओं के कारण उसका सर्वांगीण अध्ययन
अपनी स्वतः प्रमाणित महत्त्व के कारण अपेक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन इसी
दिशा में एक प्रयास है।

उपलब्ध सामग्री

वायसिप्तशती का स्वतन्त्र सर्वांगीण

वाल्मीकीनात्मक अध्ययन अभी तक नहीं हुआ । संस्कृत साहित्य के इतिहास
विषयक ग्रन्थों में इस कृति और उसके प्रणीता के विषय में संक्षेप में उल्लेख
हुए हैं। सत्त्व मित्र^२, अन्तः प्रवृत्ति^३ और रमाकान्त त्रिपाठी^४ द्वारा संव-

~~१- कृष्ण-...~~

१- डॉ० सुशीला गुप्ता- नायासप्तशती और वायसिप्तशती का तुलनात्मक
अध्ययन पृ० १५१

२- (क) राहुल सांकृत्यायन- संस्कृत काव्यधारा पृ० ६६-६६

(ख) वाइ०सी० मजुमदार- हिस्ट्री वाफ बंगाल पृ० २१८-२६, ३६३, ३६६

(ग) स्मिथ- प्राचीन प्राचीन भारत का इतिहास पृ० ४०३, ४०७ तृ० सं०

(घ) वाचार्य बन्धेव उपाध्याय- संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २६०-६१

३- सत्त्व मित्र- वायसिप्तशती व्याख्या दर्पण १६३१

४- अन्तः प्रवृत्ति- व्यंग्यार्थदीप्ता संस्कृत टीका, निर्णय सागर प्रेस मुंबई १६३४

५- पी० रमाकान्त त्रिपाठी, वायसिप्तशती विभा हिन्दी व्याख्यापता ,
जीसम्बा विद्याभवन, वाराणसी १६६५

दित वार्यासप्तशती के संस्करणों की भूमिका में यत्किञ्चित् परिचय मात्र ही दिया गया है। इसी प्रकार नमोदेवर् चतुर्वेदी और डा० परमानन्द शास्त्री की कृतियों के कव्यतावी ने प्रसंगवश वार्यासप्तशती और हिन्दी सतसहस्रों की सम्भावनात्मक उक्तियों का उल्लेख किया है। डा० सुशीला गुप्ता का अध्ययन भी नाथासप्तशती और वार्यासप्तशती के तुलनीय अंशों के सापेक्ष विश्लेषण पर आधारित है। संस्कृत टीकाएँ हिन्दो अनुवाद के माध्यम से वार्यावी के अर्थ बोध में सुप्रसिद्ध हो सकती हैं परन्तु काव्य-सौष्ठव के समग्र मूल्यांकन की दृष्टि उपर्युक्त विधी भी या हिन्दी की कृतियों से नहीं उभरती ।

(स) परिचय

संस्कृत साहित्य के अन्य कवियों की भाँति वार्या गोवर्धन ने भी अपने सम्बन्ध में प्रायः कुछ नहीं कहा है। फिर भी वन्तस्साध्य और बहिस्साध्य के आधार पर उनका परिचय प्रस्तुत किया जा सकता है।

गोवर्धनाचार्य ने अपने पिता की वृहस्पति के सदृश ही कवि मानते हुए उनकी प्रशस्ति की है और उनका नाम नीलाम्बर बताया है। पिता के अतिरिक्त उन्होंने अपने वात्रयदाता सेनकुलतिष्क भूपति

१- नमोदेवर् चतुर्वेदी- नाथासप्तशती - जी० विद्या भवन , वाराणसी १९६९

२- डा० परमानन्द शास्त्री- नाथासप्तशती- प्रकाशन प्रतिष्ठान मेरठ १९६५

३- यं गणयन्ति गुरोरनु यस्याते धर्मं कर्म संकृन्तिम् ।

कविमहामुनिसमिव तं तार्त नीलाम्बरं वन्दे ।।

- वार्यासप्तशती ग्र० ३८

का भी प्रशंसात्मक उल्लेख किया है और उसकी तुलना सम्पूर्ण कलाओं से
वधिष्ठित चन्द्रमा से की है। इस उक्तिगत सेनकुलतिलकभूषति शब्द से जनन्त
पण्डित का वमिप्राय सेतुबन्ध काव्य के रचयिता महाराज प्रवरसेन से था।
किन्तु राजतरंगिणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गोवर्धन काश्मीराधि-
पति प्रवरसेन के वाञ्छित कवि नहीं थे। यदि ऐसा हुआ होता तो कन्हैया
राजतरंगिणी में उनका उल्लेख अवश्य ही करते। इसके अतिरिक्त प्रवरसेन
का समय सातवें शताब्दी है, जबकि गोवर्धन का समय ग्यारहवीं शताब्दी
से लेकर बारहवीं तक स्वीकृत है।

गया में प्राप्त शिलालेख पर त्रिकुल श्लोक
में राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी पाँच कवियों का उल्लेख है जो उनकी समा
के "पौरुष" कहे जाते थे। जिनके नाम गोवर्धन, शरण, जयदेव, उमापति
वीर कविराज थे। गोवर्धन के समसामयिक और समसमासद प्रसिद्ध गीतिकार
जयदेव ने उन्हें शृंगार की उत्तमोत्तम रत्ना में बजीड़ बताया है। कवि होने

१- सकलाकलाः कल्पयितुं प्रभुः प्रबन्धस्य कुमुदबन्धीश्वर ।

सेनकुलतिलकभूषतिरेको राकाप्रदीपश्च ॥ - वायांसप्तशती ५०३६

२- जनन्त पण्डित व्यंग्यार्थदीपनि नाम्नी संस्कृत टीका भूमिका

३- बी० वरदाचार्य- संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २४६

४- गोवर्धनश्च शरणी जयदेव उमापतिः ।

कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ॥

५- शृंगारोत्तरसत्प्रमियरत्नैराचार्यगोवर्धन ॥

- जयदेव- गीतगी विन्द १।४

के अतिरिक्त उनके नाम के साथ आचार्य शब्द जुड़ा होने से यह स्पष्ट है कि वे कुशल सिद्धांत भी थे, क्योंकि तत्कालीन समय में सिद्धांतों के लिए आचार्य शब्द प्रचलित था। गोवर्धन के अतिरिक्त अन्य संस्कृत कवियों के लिए आचार्य शब्द प्रायः प्रयुक्त नहीं हुआ। उन्होंने ब्रिटिशों से रक्षित आर्यासप्तशती की प्रकाशित करने वाले दो शिष्यों का प्रशंसात्मक उल्लेख किया है और उनकी तुलना क्रमशः वाकाश की निर्मल करने वाले सूर्य और चन्द्र से की है। इस कथन से इस अनुमान की पुष्टि हो जाती है कि उनके नाम के साथ जुड़ा हुआ आचार्य शब्द उनके अध्यापन कार्य का सूचक है।

जीवन-दर्शन

गोवर्धनाचार्य का जन्म एक धर्मनिष्ठ

पुरोहित के घर हुआ था। जिससे उनका जीवन धार्मिक क्रियाओं से प्रा-
वित होना स्वाभाविक ही है। उन्होंने आर्यासप्तशती की ग्रन्थरम्भग्रन्था
की प्रथम नौ आर्यावर्गों में शिव विनायक स्तुति की है। तत्पश्चात् विष्णु,
इन्द्रा^४, महावराह^५, शेषा^६, चण्डी^७, पार्वती^८, लक्ष्मी^९, कंटभी के रूप में

१- उदयनकल्मषाचार्या सप्तशतीशिष्यसीदराचार्या ।

गीति रविचन्द्राचार्या प्रकाशिता निर्मलीकृत्य ॥ आर्यासप्तशती ७०१

२- आर्यासप्तशती ग्र० पृ० १ से ६ तक

३- .. १० से १५ तक

४- .. १५

५- .. १६

६- .. १७ व २१

७- .. १८

८- .. १९

९- .. २२ से २४ तक

हरि, ब्रह्मा^२, गणेश^३ आदि देवी देवताओं की क्रमानुसार स्तुति की है। गणेश की स्तुति में तो कवि ने पाशुपद आदि प्रदर्शित करने वाली की कप-टाचरणा शीघ्रकर भजन करने की शिक्षा दी है। ग्रन्थारम्भ प्रख्या में अन्य देवताओं की अपेक्षा शिव की सबसे अधिक वायांओं में स्तुति की गयी है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि गोवर्धनाचार्य शैवमतान्त्रिकी थे। उनके आश्रयदाता के धर्म के सम्बन्ध में पी०एच० माग्वे ने कहा है कि, "लक्ष्मणसेन वैष्णव धर्म का अनुयायी व पीछक था। स्वयं कवि था और कवियों का आश्रयदाता था।" अतः स्पष्ट है कि गोवर्धनाचार्य ने अपनी आश्रयदाता से प्रभावित होकर वैष्णव धर्म का अनुसरण अवश्य हो किया होगा। इस कथन को पुष्टि के लिए वायांसप्तशती में विष्णु की स्तुति में शुद्ध भक्तिपरक दो वायांएँ मिली हैं। जिनमें से एक में शिव तथा ब्रह्मा की कृतमार्ता प्रकट होने पर समुद्र के जल से व्याप्त पृथ्वी का उद्धार करने वाले भगवान् विष्णु के प्रति कवि ने अपनी भक्ति लक्षित की है।

-
- १- वायांसप्तशती ग्र० व० २५
 २- .. २६
 ३- .. २७
 ४- .. २८
 ५- प्राचीन भारत का इतिहास पृ० ३६५
 ६- वायांसप्तशती (ग्र० व० १४) ५३२
 ७- .. ५३२

दो वायंजी^१ में जैन धर्म और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विविधताओं का उल्लेख भी हुआ है, जिससे यह ज्ञात होता है कि तनिक धर्मों के प्रति कवि का दृष्टिकोण उनकी उदारता का प्रतीक था ।

देवताओं की प्रतिमाओं को मन्त्रों द्वारा प्राण प्रतिष्ठा करनी चाहिए । तत्पश्चात्^३ उन मूर्तियों के प्रति श्रद्धा रखने वाले को अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। इस कथन की पुष्टि में एक स्थान पर पुत्रात्पत्ति की वाशा से किशो बनि वाले यत्न का उल्लेख हुआ है^५ जिससे धार्मिक कृत्यों में धर्मार्थियों का विश्वास होना स्वाभाविक हो है ।^६ जैसा कि कहा जा चुका है कि देव पूजन में अधर्माचरण व वाङ्मोटम्बर को त्याग देना चाहिए । एक और माता पिता को असन्तुष्ट रखने वाले दुराचारी पुत्र की निन्दा की गयी है तो दूसरी ओर^७ उसके धर्माचरण से अन्य लोगों को भी बचने का उपदेश दिया गया है।^८ दुराचारियों से पीड़ित

१- वायंसिप्तशती २१

२-	..	४७८
३-	..	३८६
४-	..	४३
५-	..	६२६
६-	..	६४९
७-	..	६५७
८-	..	(ग्रन्थ ७८) २७९
९-	..	२६३
१०-	..	३०७

होने पर उनका सामना करते हुए दार्ष्टिक जीवन भी उत्तम माना गया है। जिससे सिद्ध होता है कि गौवर्धनाचार्य ने अपमानित होकर चिरकाण-जीवी होना उचित नहीं माना।

सत्पुरुषों को उनके गौरव का ध्यान कराते हुए उन्हें नीच कार्य न करने की शिक्षा दी है। उन्हें दुष्टों के साथ रहने पर भी सदाचार का ध्यान रहना चाहिए। उनकी मित्रता सभी अवस्थाओं में प्रशंसनीय माने गये हैं, क्योंकि ये विपत्तिग्रस्त शरणागत सन्निवृत्तों को अपनी सामर्थ्यानुसार उचित सहायता प्रदान कर उनका साथ नहीं छोड़ते हैं। ऐसे सज्जनों का प्रेम दुष्टों के प्रयास करने पर भी विघटित नहीं होता। दो आर्याजों में उनके पक्षपात रहित उचित न्याय का प्रशंसात्मक उल्लेख भी हुआ है।^{१०} इस प्रकार की विशेषताओं के कारण सत्पुरुषों की ही संगति उचित माने गयी है।^{११} विद्वानों की मूर्खों^{१२}

१- आर्यासंस्कृति २६४

२-	..	३१
३-	..	ग्र० ब० ३३
४-	..	६०
५-	..	२७६
६-	..	१६३
७-	..	४५३
८-	..	५२१
९-	..	४६८
१०-	..	२७८-५४५
११-	..	१६४
१२-	..	५८४

और गैवारी^१ के समुदाय में मौन धारण करने की शिक्षा दी गयी है। परतन्त्र^२ करने वालों की निन्दा कर उन्हें पुनः स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का प्रेरणा दी है। एक स्थान पर कार्य की सोच विचार कर करने के साथ साथ उसे जल्दबाजी में न करने का उपदेश दिया है।

गोवर्धनाचार्य ने पुनर्जन्म में हुए की वाशा^४ से विद्याध्ययन करना आवश्यक माना है। उन्होंने दो कार्यार्थों में मल्लविद्या^५ और धनुर्विद्या^६ का उल्लेख करते हुए कहा है कि गुरुओं ने प्रति ब्रह्मा रस कर हों (विदार्जन किया जा सकता है अन्यथा नहीं)। विद्यावान् को दुर्व्यवहार त्यागने का उपदेश दिया गया है।

वर्ष का जीवन में बड़ा महत्त्व है, जिसे धर्मपूर्ण कर्म द्वारा वर्जित करना चाहिए। वधमाचरण से धन संग्रह करने वाले को 'कृपण' कहकर सम्मानित किया गया है। परिवारगत व्यक्तियों की संस्था से अधिक द्रव्यार्जन करना अनुचित माना गया है।^{१०} एक कार्य में पहिलम द्वारा संगृहीत धन से पति का पोषण करने वालों को 'धुनगा' कहकर सम्मानित किया गया है।^{११} इस प्रकार धन से गुणों में वृद्धि होती

१- वायसिपाशती	१६६७६
२- ..	३६६
३- ..	६६६
४- ..	६७८
५- ..	३४३
६- ..	६६४
७- ..	६७०
८- ..	५७६
९- ..	३७९
१०- ..	५८९
११- ..	५६६

है और जिसके न होने पर गुण भी दोनों में परिवर्तित हो जाते हैं^१।
 यही कारण है कि सम्पत्तिशालियों के दोष भी गुण माने जाते हैं^२।
 एक स्थान पर विद्वत्सभा से विरक्त दण्डि विद्वान् के पश्चात्ताप का उल्लेख
 हुआ है^३ तो अन्य स्थान पर उसे उसकी वास्तविक स्थिति से वरगत कराते
 हुए भान्तवना भी प्रदान की गयी है। इस प्रकार सम्पन्न कृषा निर्धन
 परिवार में जन्म लेना भाग्य के अधीन है उसी प्रकार लक्ष्मी की स्थिरता
 भी भाग्य के अधीन है^४ धन होने पर भी उसका उपयोग न करने वाले को
 'कृपण' कहकर धिक्कारा गया है। आवश्यक द्रव्य से निर्धनों को वस्त्र,
 वस्त्र वादि से वात्रय प्रदान करने वाले सत्पुरुषों के जीवन की कामना करने
 का उपदेश दिया गया है। निर्धन होने पर भी अपनी सामर्थ्यानुसार दूसरों
 को द्रव्यादि से देने वालों की भी प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार सत् कार्यों
 में व्यय के पश्चात् बचे धन को भूमि में दबाकर रखा जाहिए जिससे कि उसका
 भावी जीवन में उपयोग किया जा सके। वैश्याओं को धन देकर उनके सत्य
 रमण करने वालों की लोकनिन्दा वादि का मय दिलाकर उन्हें सन्मार्ग पर
 जाने का प्रयास किया है।^{११} परमार्थ होकर वर्जित द्रव्य से गाय वादि का

१-	वायसिप्तस्तो	५०५
२-	..	५५०
३-	..	४६३
४-	..	२१६, ६०६
५-	..	६८
६-	..	२१६, ६०६
७-	..	६८५
८-	..	६७६
९-	..	१७३, ४८६
१०-	..	३३८
११-	..	२७

दान करने वालों की निन्दा की गयी है।^१ भिक्षुओं को फटकार कर उन्हें
जुनः स्वामिमान धारण करने के लिए बाध्य किया गया है।^२

गौर्धनाचार्य ने वार्यासप्तशती की ग्रन्था-
रम्भग्रन्था की एक वार्या में काम और कामिनी की स्तुति की है। तत्पश्चात्^३
उन्होंने अपनी कृति का अध्ययन कामिनियों के हृदय में स्थान पाने के लिए
द्वुतियों के समान लाभप्रद बताया है।^४ एक स्थान पर कामिनी के कटाक्ष
से वाकृष्ट न होने वाले नायक को 'गण्ड' कहकर अपमानित किया
गया है।^५ अतः नायिका को वाकृष्ट करने के लिए पुरुषार्थ होना आवश्यक
है जिसके न होने पर वह परिस्थितिवश पश्चात् हो जाती है।^६ एक स्थान
पर ग्रीष्मकालीन गर्मी को परवाह न करने वाले कामान्ध नायक-नायिका
के परस्पर वार्त्तिन का उल्लेख हुआ है।^७ सुरुत में सौम्य नायिका दूर तक
संभोग की वाशा से प्रिय का चित्त दूसरी तरफ घुमाने का प्रयास करती
है।^८ किन्तु कुछ ही क्षणों में प्रिय का वीर्य स्तब्ध होने पर भी वह उसे
झीड़ना नहीं चाहती है।^९ नायिका के रजोवती होने पर उसके साथ सुरुत
करना अनुचित माना गया है।^{१०} इसी प्रकार गर्भिणी की विपरीत रत
करना अनुचित माना गया है।^{११}

१- वार्यासप्तशती १६४, ४३१

२- .. १४५

३- .. (प्र० प० २६)

४- .. (.. ५३)

५- .. १८२

६- .. १६८, ४७७

७- .. ७२, ४०५

८- .. ४५२

९- .. १०६, ३२२

१०- .. १७५

११- .. ६२

न करने को सिखा दी गयी है^१। नायक को त्वसुराज में सास से जादर पाने के लिए अपनी पत्नी के साथ सुरुत करने की प्रेरणा दी है^२। सुरुत में धकी नायिका को घर तक सोना नहीं चाहिए। गृहिणी को सपत्नियों के साथ ईर्ष्या न रखकर अपनी सेवा द्वारा पति को वश में करने का उपदेश दिया गया है। पति वृद्ध हो जयवा निर्धन स्त्री को सभी अवस्थाओं में उसकी सेवा करनी चाहिए। इसी प्रकार उन्हें दुरुजनों का जादर करने को सिखा दी गयी है। कवि ने स्त्रियों के समान पुरुषों को भी विभिन्न प्रकार से समझाकर उन्हें सन्मार्ग पर चलाने का प्रयास किया है- गृहस्वामी को सपत्नियों के साथ समान व्यवहार रखना चाहिए तभी दाम्पत्य जीवन सुखी ही सकता है अन्यथा नहीं। अन्य स्थान पर सपत्नियों के साथ ऐसा ही व्यवहार रखने वाले नायक की प्रशंसा भी की गयी है।^६ वृद्धावस्था में स्त्रियों के साथ रमण न करने का उपदेश दिया गया है।^{१०} जीवक वार्याओं में नेश्याओं को निन्दा करके उनके सदा बने रहने का उपदेश दिया है।^{११} इन जीवक प्रकार के उल्लेखों में कवि ने स्त्री पुरुष दोनों को सदाचार

१-	बायाँस-पक्षती	३६३
२-	..	३७५
३-	..	१६, १७७
४-	..	२, २६६
५-	..	१३६, २२९
६-	..	१६४, २१५, २६६, ४६६
७-	..	२५, ३१०
८-	..	३२५
९-	..	६०
१०-	..	४१८, ३८४
११-	..	११५, १६०, ५५९ आदि

सहित परस्पर मिलकर सुख एवं शान्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया है। कतः यह स्पष्ट सबूतों में कहा जा सकता है कि गोवर्धनाचार्य ने दाम्पत्य जीवन के लिए जो मधुर उपदेश दिये हैं वे उनके जीवनानुभव पर ही आधारित हो सकते हैं।

इस समग्र विवेचन से यह ज्ञात होता है कि गोवर्धनाचार्य का जीवन धर्म, अर्थ तथा काम के समन्वयात्मक आधार पर स्थित होने के कारण सदाचार एवं नैतिकता से परिपूर्ण था। तभी तो उनकी उक्तियों में भारतीय संस्कृति के गुण समाविष्ट हुए हैं। जब प्रश्न यह उठता है कि कवि ने जब सदाचार और नैतिकता की इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया है तो दूसरी ओर आर्यासप्तशती में शृंगार का नग्न चित्र क्यों उपस्थित किया है ? इस समस्या के समाधान में यही कहना उपयुक्त है कि तत्कालीन विनासपूर्ण समाज का प्रभाव उनके ऊपर बंफित था। आर्यासप्तशती का रचनाकाल अनुमानतः कवि का जीवनकाल रहा है। इस कथन की पुष्टि में उन्होंने स्वयं कहा है कि “आश्रमपरी के रस का स्वाद मैं वाला कीकिल ही प्रेम के गीत गा सकता हूँ।”

कतः स्पष्ट है कि गोवर्धनाचार्य का उत्तेजक शृंगार चित्रण समय और समाज की मानसिकता का परिणाम है।

...

१- आर्यासप्तशती प्रचारम्भग्रन्था ४६

द्वितीय अध्याय

वार्यासप्तशती : रूप-विधान और वर्ण्य-विषय

वार्यासप्तशती का रूप-विधान

संस्कृत- सप्तशती- साहित्य में वार्या-सप्तशती ही ऐसा प्रथम मुक्तक कोष है जिसमें सात सौ वार्याएँ संगृहीत हैं। रूप-विधान की दृष्टि से वार्यासप्तशती की कुछ निजी विशेषताएँ हैं जो प्रायः अन्य मुक्तक संग्रहों में अनुपलब्ध हैं। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसका प्रथम पद 'वार्या' इन्द्र की सूक्ति करता है तथा उत्तर पद 'सप्तशती' सात सौ पदों का संस्थापनात्मक है। कतः स्पष्ट है कि गोवर्धनाचार्य ने इस ग्रन्थ का नाम उसमें प्रयुक्त इन्द्र तथा संगृहीत मुक्तकों की संस्था के आधार पर रखा। उनसे बहुत पहले राम की नायासप्तशती का संग्रह ही जुका था और निःसन्देह --- अपनी कृति के नामकरण में वाचार्थ गोवर्धन ने उससे ही प्रेरणा ली है। नामकरण ही नहीं विषय वस्तु और प्रसंग- विधान की दृष्टि से भी वेनायासप्तशती से बहुत प्रभावित हुए हैं। वस्तुतः प्रसार और मात्राओं की दृष्टि से वार्या या नाया इन्द्र में अन्तर नहीं है। प्राकृत में जिस वृत्त को 'गाहा' कहा गया है वही संस्कृत में वार्या है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने वार्या इन्द्र का लक्षण देते हुए कहा है कि " जिस श्लोक के प्रथम और तृतीय चरण

में बारह बारह मात्राएँ तथा द्वितीय चरण में अठारह और चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं उसे ही 'वार्या' इन्द्र कहते हैं।^१ इस प्रकार के लक्षणों से युक्त वार्या इन्द्र का प्रयोग वार्याकार के पूर्ववर्ती कवियों ने दार्शनिक वादि ग्रन्थों में किया है किन्तु 'संस्कृत के वार्या इन्द्र को जिस सुन्दर एवं परिष्कृत रूप में गोवर्धनाचार्य ने प्रस्तुत किया है, वैसा उनके किसी पूर्ववर्ती कवि ने नहीं किया। कारण यह है कि उन्होंने रघुराज सागर के उपरान्त हुए सागर को वार्या के सीमित घट में बन्द कर अपनी व्योम्नित काव्य शक्ति का परिचय दिया है। इस सम्बन्ध में डा० भुशीला गुप्ता का यह कथन समीचीन ही है कि "सर्वप्रथम तो कवि गोवर्धनाचार्य से पहले वार्या इन्द्र का प्रयोग दार्शनिक ग्रन्थों सांख्यकारिका इत्यादि में किया गया है जव्वा गण ग्रन्थों में जैसे कादम्बरी के प्रारम्भ में बाण ने एक वार्या कही इत्यादि में वार्या इन्द्र का प्रयोग किया गया है किन्तु गोवर्धनाचार्य ने माधुर्य गुण युक्त शृंगार रस में वार्या इन्द्र का प्रयोग कर इसे सरसता प्रदान की।"

गाथासप्तशती का शतकी द्वारा आवान्तर विभाजन किया गया है किन्तु वार्यासप्तशती में ऐसा नहीं हुआ है। 'वार्या-सप्तशतीकार की कृति न तो गाथासप्तशती के समस्त अक्षरचित ही है और न बज्जालन के समान अक्षरचित उसमें विषय के आधार पर विभिन्न शीर्षकों में पयों का विभाजन नहीं किया गया अपितु अकारादि अक्षरों के क्रम को

१- यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थे वैश्वस्य वार्या ॥

२- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा - पी० चन्द्रशेखर पाण्डेय, डा० शान्ति कुमार
नानुराम व्यास पृ० ३३१

३- गाथासप्तशती के विशेषेण सन्दर्भ में वार्यासप्तशती का तुलनात्मक अध्ययन
परिशिष्ट- डा० भुशीला गुप्ता

बाधार मानकर व्रज्याओं को खोला गया है। इस प्रकार पूरी वर्णमाला के वन्तर्गत विभिन्न वर्तारों के नाम पर ककारादि व्रज्या, वाकारादि-
व्रज्या, लकारादिव्रज्या आदि ३५ व्रज्याओं की योजना की गयी है।

इन व्रज्याओं का सर्वेक्षण करने पर
ज्ञात होता है कि उनमें संगृहीत आर्यादे विभिन्न संख्याओं में हैं :

ककाराव्रज्या	७३
वाकाराव्रज्या	३३
लकाराव्रज्या	७
लृकाराव्रज्या	३
उकाराव्रज्या	२२
ऊकाराव्रज्या	१
ऋकाराव्रज्या	२
एकाराव्रज्या	८
अकाराव्रज्या	४३
इकाराव्रज्या	१
ईकाराव्रज्या	२४
उकाराव्रज्या	३
ऊकाराव्रज्या	१२
ऋकाराव्रज्या	२
एकाराव्रज्या	११
अकाराव्रज्या	१
हकाराव्रज्या	१

तका खज्या	२८
दका खज्या	२८
धका खज्या	४
नका खज्या	२८
फका खज्या	५७
बका खज्या	८
मका खज्या	१६
यका खज्या	३५
रका खज्या	२८
लका खज्या	१४
वका खज्या	६
शका खज्या	५०
सका खज्या	२४
हका खज्या	१
जका खज्या	१८
झका खज्या	८
टाका खज्या	३

स्पष्ट है कि संख्या की दृष्टि से इनमें बहुत बड़ा वैचल्य है। सकार, जकार, फकार, बकार और नकार वादि खज्याओं में सबसे अधिक वायाई संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त कुछ खज्याओं में वायाओं की संख्या समान है जैसे— ऊकार, लकार, फकार, डकार और ञकार खज्याओं में केवल एक एक ही वाया मिली गयी है। झकार, गकार और ङकार खज्याओं में तीन तीन वायाई तथा स्कार, बकार और लकार खज्याओं में क्रमशः बाठ बाठ वायाई मिली गयी हैं। इसी

प्रकार तकार, दकार और मकार व्रज्याओं में रक्षित वार्याओं की संख्या २-२ हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत वर्णमाला के अन्य वर्णों में रक्षित वार्याओं की संख्या में भी पर्याप्त वसमानता प्रष्टव्य है।

इस सूची से जिस प्रकार अकारादि व्रज्याओं में रक्षित वार्याओं की संख्या स्पष्ट हो जाती है उसी प्रकार इस सूची से वार्यासप्तशती में व्रज्या के रूप में न सेवार गये कुछ स्वर और व्यंजनों का भी स्पष्ट पता लग जाता है। जैसे कि कवि ने ऐ, औ, औ वादि स्वरों की व्रज्या के रूप में नहीं सेवारा है। इसी प्रकार वायकार ने क वर्ण में ह०, च वर्ण में ज्, त वर्ण में थ, प वर्ण में फ वादि व्यंजनों को भी छोड़ दिया है। 'ट' वर्ण की तो केवल ढकार व्रज्या में एक वार्या मिली गयी है। इनमें कुछ वर्णों (जैसे ज्, ह०, ण्) से प्रारंभ होने वाले शब्द हैं ही नहीं और कुछ वर्णों विपरीत गुण के कारण शृंगार की मधुर रचनाओं में सफे गीत नहीं है। गौर्धनाचार्य द्वारा उनके परित्याग का कारण यही प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त पाणिनि के सूत्र के आधार पर 'यण्' में 'य, व, र, ल' के क्रम का उल्लेख करके वर्तमान समय में प्रचलित प्रणाली के आधार पर 'य र ल व' की क्रमानुसार व्रज्याओं में सेवारा है। उन्हीं में संस्कृत वर्णमाला के अनुसार 'ल उच्चाणः' के आधार पर 'ल व स ह' की व्रज्या के रूप में विहित किया गया है। संस्कृताक्षरों में केवल 'लकार' व्रज्या में तीन वार्याएँ मिलती हैं जबकि अन्तिम 'व्र' और 'ल' की छोड़ दिया गया है।

वार्यासप्तशती के मंगलान्तरण में कीक

देवी- देवताओं की स्तुति तथा प्राचीन कवियों की वैयक्तिक प्रशंसा वीर काव्य के मान्य सिद्धान्तों के विवेचन में ५४ वार्याओं का एक दीर्घ प्रावकथन प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् वार्यासप्तशती में ७०२ वार्याएं वकारादि प्रज्याओं में संगृहीत हैं। अतः सप्तशती संग्रह औपचारिक ही है।

वार्यासप्तशती की वार्याएं शतकों में विभाजित नहीं हैं। इसी कारण गोवर्धनाचार्य ने वार्यासप्तशती की बीच बीच में कहीं भी पुष्पिका देना उपयुक्त नहीं समझा, किन्तु उन्होंने वार्यासप्तशती के अन्त में उसकी समाप्तिपत्रक पुष्पिका के रूप में एक जगह वार्या दी है जिसमें उन्होंने अपनी कृतिक की हरिचरणों में समाप्ति करते हुए स्वयं कहा है कि "मतिमान् गोवर्धनाचार्य ने निरन्तर उत्तम कवियों के दर्शन के लिए हरिचरणों की पुष्पाञ्जलि रूप इस वार्यासप्तशती की रचना की।"

वार्यासप्तशती के व्यवधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी समस्त वार्याएं गोवर्धनाचार्य द्वारा ही रचित हैं। इस कथन की पुष्टि में कवि ने स्वयं कहा है कि "मेरे द्वारा रचित वार्यासप्तशती कवियों के संग्राम में सिंहनाद है (जो धुनकर अन्य कवियों का दर्प भाग जाता है) ञह्वादि स्वर जिसका अनुवाद है अर्थात् इसमें ञह्वादि की अपेक्षा अधिक माधुर्य है, जो सुधा के समान है क्योंकि जिसका एक बार सम्यक् उच्चारण सुधा के समान सुलभ है, जो विद्वानों की विनीत देता है।"

१- हरिचरणाञ्जलिमल्लं कविचरणाञ्जलि बुद्धिमान्स्ततम् ।

अनुवार्त्यासप्तशतीमिता गोवर्धनाचार्यः ॥ - वार्यासप्तशती ७०२

२- कविसमरसिंहनादः स्वरानुवादः सुधैरुत्तमः ।

विद्वद्दिनोदकन्दः सैवमार्ज्यं मया सृष्टः ॥ वही , ७००

प्रसृत रूप से शृंगारिक रचना होती हुए भी वार्यासप्तशती में देवनागरी, नीति-कथन, सज्जन प्रशंसा, स्तुति-श्रुति चित्रण आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध उक्तियाँ भी हैं किन्तु इन उक्तियों की विशेषता यह है कि इनमें वप्रस्तुत विधान शृंगार के क्षेत्र से ही सम्बद्ध हैं। अतः तथ्य तो यह है कि कोई भी उक्ति रसराज के ज्वार से बच नहीं सकी है।

वर्ण्य-विषय - रसयोजना

वार्यासप्तशती का प्रसृत वर्ण्य-विषय शृंगार है। इस सम्बन्ध में गोवर्धनाचार्य ने खर्य भी कहा है कि "जिसने प्रिया के अधर सुधारस का आस्वादन किया है उसी कवि के काव्य मधुर होते हैं। जिस कोकिल ने आम की रस भरी मँजरी का आस्वादन नहीं किया वह मधुर ध्वनि नहीं करता। गोवर्धनाचार्य के समसामयिक प्रसिद्ध कवि जयदेव ने भी उक्ति ही कहा है कि "शृंगार की उत्कृष्ट रचना करने में गोवर्धनाचार्य से प्रतिस्पर्धा कर सकने वाला कोई कवि नहीं सुना गया।"^१

शृंगार शब्द की रचना 'शृंग' तथा 'वार' इन दो शब्दों के योग से हुई है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार कामदेव के उद्भेद को शृंग कहते हैं तथा वार शब्द गत्यर्थक है। इस कथन से यह स्पष्ट है कि नायक तथा नायिका के हृदय में प्रकटित हुआ काम-

१- वार्यासप्तशती - ग्रन्थारम्भप्रज्या ४६

२- जयदेव- गीतगोविन्द १।४

३- शृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनस्तुतुकः ।।

विकार जब संचारी भावों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है तो उसे शृंगार कहते हैं। शृंगार रस हास्य, करुण, रौद्र, वीर आदि सभी रसों से उत्पन्न कमनीय और सरस है। यही कारण है कि संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने इसको गणना सबसे पहले की है।^१

शृंगार रस अन्य रसों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है जिससे विद्वानों ने इसे 'रसराज' की उपाधि से विभूषित दिया है।^२ शृंगार रसगत कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिससे उसे रसराज कहना उचित है। जैसे शृंगार रस में जितने संचारी भावों का संचार होता है, उतने अधिक भावों का अन्य किसी रस में नहीं होता। इसके अनुभूति सार्व-भौम है क्योंकि जगत् के सभी प्राणियों में रति भाव की स्थिति अनिवार्य है।

शृंगार का स्थायी भाव रति है। परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका इसके आत्मन्वन विभाव हैं। काव्य, गीत, नृत्य, वाद्य, वसन्त आदि इस स्तुर, जन्मोद्घा, वन-विहार इत्यादि, नायक-नायिका के हृदय में रति भाव उदीप्त करने के कारण उदीप्त विभाव कहलाते हैं। शास्त्रकारों ने नायक-नायिका के सम्बन्ध के आधार पर शृंगार के दो भेद किए हैं : १- सम्भोग शृंगार और २- विप्रलम्भ शृंगार। गोवर्धनाचार्य ने वार्यासप्तशती में शृंगार के दोनों पक्षों का प्रभावशाली वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य बल्देव उपाध्याय का कथन उल्लेखनीय है

१- शृंगारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः ।

बोनेत्सोड्भुत इत्यष्टीरसाः शान्तस्तथा मतः ॥ साहित्यदर्पण ३।१८२

२- बाम्नासिचुर्बस रसान्मुधियी वर्यं तु ।

शृंगारमेव रसनाद्रसमाम्नामः ॥ भोज-शृंगार प्रकाश १।६

३- (क) तत्र शृंगारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगे विप्रलम्भश्च ॥

- मम्मट, काव्यप्रकाश कृ० उ०

(ख) विप्रलम्भोऽथ सम्भोग इत्येव द्विविधो मतः ॥ सा० उ० तृतीय परि०

कि " जायासप्तशती में शृंगार की नाना अवस्थाओं का वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया गया है। नागरिक स्त्रियों की चेष्टाओं का चित्रण जितना चटकदार है उतना ही ग्रामीण महिलाओं की उधियाँ रसमयी, स्वाभाविक और मनोहर हैं। कवि मानव हृदय की प्रवृत्तियों का सच्चा पारखी है। संयोग तथा वियोग के समय कामिनियों के हृदय में जो कम्पनार्थ मल्लि रेल किया करी है उनकी परस गोवर्धन कवि को खूब हैं। शृंगार के अतिरिक्त जायासप्तशती में हास्य, कहण, रौद्र, वीर, बीमत्स आदि रस भी प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु वे सभी शृंगार के ढंग बनकर ही उपस्थित हुए हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता या वैगिता वहाँ नहीं है। अतः निःसंदेह ही जायासप्तशती का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय शृंगार है। अन्य सभी रस रसराज के अन्तर्गत बन गये हैं।

सम्भोग शृंगार

साहित्यदर्पणकार सम्भोग शृंगार की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि " जब परस्पर अनुरक्त नायक- नायिका भुक्तानुति की चाहना से एक दूसरे का दर्शन, स्पर्श आदि करते हैं तो इसे सम्भोग शृंगार कहते हैं। " नायक- नायिका की दर्शन, स्पर्शन आदि क्रियाओं के असीम वैचिध्य के कारण सम्भोग शृंगार के अरुण्य भेद ही सन्ति हैं किन्तु उनकी परस्पर उपस्थिति के आस्वादन रूप मूल तत्त्व के ऐक्य की स्वीकार कर संस्थातीत भेदों की कष्ट कम्पा का निवारण करते हुए इसका

- १- बल्देव उपाध्याय- संस्कृत साहित्य का इतिहास अष्टम परिच्छेद पृ० ३४४
२- दर्शनस्पर्शनादीनि निवेदिते विभाषिनी ।

यद्यानुरक्तावन्योन्यं स्वीकरो यमुदाकृत ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३। २९०

एक ही भेद माना गया है।^१ ..

नायक- नायिका का सौन्दर्य- गुण समु-
 दय ही परस्पर उनके लिए वाकर्षण का कारण बन जाता है और यही
 वाकर्षण उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होकर रति भाव में परिणत हो
 जाता है। इस प्रकार रति- भाव को प्राप्त हुए नायक- नायिका परस्पर
 सान्निध्य प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं और सान्निध्य
 प्राप्ति होने पर परस्पर रसानुभूति करते हैं। इस रति- व्यापार में नायिका
 की अवस्थाएँ विशेष रूप से दर्शनीय होती हैं। पूर्वरंग के कारण सान्निध्य
 प्राप्ति हेतु उत्कण्ठित रहना, नायक की प्रतीक्षा करना अथवा नायक के
 प्रतिकूल वाचरण करने पर रुठकर मान आदि करना । गोवर्धनाचार्य ने शृंगा-
 रिक कवियों की भाँति ही सम्भोग शृंगार का चित्रण रूप-वर्णन तथा रति-
 व्यापार के अनेक वादिके आधार पर ही किया है। इन्होंने रूप-वर्णन में
 नख- शिख के अन्तर्गत मुस, केश, नेत्र, स्तन आदि का वर्णन अनेक वाक्यांशों
 में किया है।

मुस की लीला का वर्णन करने के लिए
 चन्द्रमा और कमल उपमान बहुत पहले से काम में लाये जाते रहे हैं । इस
 कृति में इस परम्परा का निर्वह किया गया है। कवि ने ऐसे स्थलों पर
 भी प्रसंग कल्पना द्वारा सौन्दर्य- सृष्टि का प्रयास किया है। जैसे- नायिका
 का मुस काबल फैलने से ऐसा प्रतीत होता है मानों कलंकयुक्त चन्द्रमा हो ।
 इस मुस को वर्णन में प्रतिबिम्बित देखकर नायक लीला कमल समझ कर भ्रम

१- संस्थातुमशक्तया बुम्बनपरिम्भणा दिबहुमिदात् ।

वयमिक एव धीरः कथितः सम्भोग शृंगार ।।

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।२११

२- वाक्यसप्तशती १७२

चाहता है।^१ वस्तुतः चन्द्र और कमल के साथ होते हुए भी मुस की शोभा कुछ और ही है जिसे चन्द्रमा और कमल हू भी नहीं सकते। यही कारण है कि लोग नायिका के मुस की ही स्तुति करते हैं :

श्यामग्राही चन्द्रः कूटत्वं सततमम्बुजं व्रजति ।

हित्वाभयं सभायां स्तौति तर्पणार्थं जीवः ॥^२

चन्द्र सकल है और कमल निरन्तर संकोच की प्राप्त होता है। इन दोनों की होकर सभा में लोग तुम्हारे ही मुस की प्रशंसा करते हैं।

केश नारी सौन्दर्य का प्रमुख उपादान है।

उनकी वक्रता, श्यामता और दीर्घता ने कवियों को बहुत ही वाकृष्ट किया है। परन्तु वाश्म्य की बात यह है कि वायसिप्तशती में केशों का वर्णन अधिक नहीं मिलता। इस विषय की केवल दो आर्याएँ हैं। एक में केश परिष्कार करने से बाग की ओर हुए बालों से नायिका के फाँकने का उल्लेख^३ हुआ है, और दूसरी में बँधे हुए केश कल्प का हृदय ऐसा प्रतीत होता है मानों सिंदूर युक्त माँग के बहाने दो भागों में फट गया हो।^४

पहली आर्या से नायिका की विदग्धता

का पता चलता है और दूसरी में चपत्कार सृष्टि के वाग्रह ने केशों के सौंदर्य की अनुभूति को अभिभूत कर लिया है। अतः विशुद्ध सौन्दर्य- चित्रण की दृष्टि से दोनों ही गौण हैं।

१- वायसिप्तशती ३५०

२- .. २३३

३- .. २३१

४- .. ४०४

कबूतरे नयनों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कवियों ने अप्रस्तुत विधान में कुवलय तथा नील कमल को प्रमुख स्थान दिया है और वह नेत्र का कवि प्रीति सिद्ध प्रतीक बन गया है। इसी परम्परा का पालन करते हुए वार्यासप्तशती की एक उक्ति में कहा गया है कि नायिका के नयन होने से रक्त और काजल फैलने से श्याम होने के कारण नील कमल के समान शोभित होते हैं। उसकी सुगन्धित श्वास-वायु से वाकृष्ट मीरे उसके नयन-नीलकमल पर मँडराने लगते हैं। पद्मलता, श्यामता और दीर्घता नयनों के अन्य सौन्दर्य वाधायक गुण हैं। एक वार्या में कहा गया है कि - नायिका की कटीली वारि ही तो होती है जो प्रणवी नायक के हृदय में संधि पकड़कर उसके मन को बनाए उसी प्रकार लीन होती है जैसे मङ्गली की कटा लगी वारी की डोर-

‘वाम्बुग्राश्वहृणानीघाँस्वादप्रदा प्रिया दृष्टि ।

कर्णाणि मनी मदीर्य हृदमीनं वडिशरज्जुरिव ॥’ ३

रक्त रूप से सुवर्ण, कर्ण पर्यन्त लम्बी प्रिया की दृष्टि में मन को, गभीर सरीसर के मत्स्य की कृटिणाग्र, बहुतन्तुमयी लम्बी, स्वादित वस्तु देने वाली वारी की डोर के समान लीन होती है।

अन्य स्थान पर गोवर्धनाचारी ने नायिका के कटाका का प्रभाव बढ़े ही सुन्दर ढंग से निरूपित किया है :

‘परमीकनाय मुक्तो निष्कहणी तरुणि तव कटाक्षो यम् ।

विशित इव कल्लिकर्णः प्रविशति हृदयं न निःसरति ॥ ४

१- वार्यासप्तशती के ३

२- .. ४७६

३- .. ६५

४- .. ३५५

हे निष्कलण तरुणि । उत्कृष्ट सुरत तथा शत्रु की मुर्खा के लिए
ढाला गया, तेरा यह कटाक्ष, कानी तक सीने गये बाण की भाँति हृदय
में घुस तो गया (अब) निकलता नहीं ।

मुजा की कोमलता, स्निग्धता और
नैर्लज्जता को अभिव्यक्ति करने के लिए कवि ने मृणाल और लता का उल्लेख
दो वार्याजों में किया है। एक में नायिका के मुखमृणाल को ग्रहण करने वाले
को मदनमहीपति कहा गया है। और दूसरी में प्रियसंगमसूत्रक फड़कने वाले
वाम मुजा की समता लता से की गयी है। एक अन्य वार्ता में नायिका के
रसान्मुख सवृक्ष हाथ के आकर्षण की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है :

‘ उत्तिदाप्तबाहुवर्तिभुजसूत्रं नूतमुकुलं ममसख्या ।

वाकृष्यमाण राजति भवतः परमुल्लपल्लापः ॥ ’ ३

रसान्मुख । मुजा उठाने से भुजसूत्र प्रदर्शन पूर्वक मेरी सखी से खींचे जाते हुए
वाफ़ी उत्कृष्ट स्थान की प्राप्ति हो गयी ।

उरीजों के चित्रण में वार्ताकार ने परंपरा-
गत उपमानों का ही प्रयोग किया है। उनकी सुष्टता एवं वर्तुलता आदि के
चित्रण में शैल, कलश, बिम्बफल आदि उपमानों का अनेक वार्ताजों में उल्लेख

१- वार्तासप्तशती ६८

- | | | |
|----|----|--------|
| २- | .. | ३४७ |
| ३- | .. | १३४ |
| ४- | .. | १, ३५६ |
| ५- | .. | ५३, ६८ |
| ६- | .. | ५६७ |

हुवा है। स्तनों पर नलदात का वर्णन भी पुरानी लकीर है जो काम-शास्त्रीय वाचार्यों ने सीख दी। एक अन्य वाच्य में कंतुकी में न समानेवाले कुर्चों को देखिए :

‘ वक्षसि विबुम्भमाणे स्तनभिर्न्य वृटति कंतुकं तस्या ।
स्रग्दयितानुरागस्तव वृद्धि न मनागपि वृटति ॥ २ ’

वक्षस्थल के उमरने से उसकी चोली स्तनों से विदीर्ण होकर टूट रही है, किन्तु तेरे हृदय में पूर्व प्रिया का अनुराग तनिक भी नहीं टूट रहा है।

यौवन सद्यः सुन्दर अंग प्रत्येकी पर लावण्य-मयी पांशु करके खीर भी निहार देता है। कान्दिश ने पार्वती के यौवन जनित सौन्दर्यादिक का वर्णन करते हुए उसे ‘वृत्तिकेयो-द्विन्नम्’ कहा है। यौवन का पदार्पण काव्य जगत् में वयः सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है।

वार्यासप्तशती में वयः सन्धि के वर्णन में एक ही वाच्य मिली है जिसमें नायिका के उमरते हुए यौवन का लम्तकार इस प्रकार वर्णित है :

‘ वरतरेडदाणि वक्षसि वरोन्वते तव मुले न ददृशिते ।
वास्तां कुसुमे वीरः स्मरोऽधुना चित्रधनुषापि ॥ ’ ३

तेरा नेत्र थोड़ा बँबल हो रहा है, वक्षस्थल कुछ ऊँचा हो रहा है, मुल थोड़ा थोड़ा मुस्कराहट युक्त हो रहा है, तेरे ऐसे यौवनकाळ में कामदेव का धनुष रूप पुष्प तो दूर रहे वह चित्रगत धनुष से भी तेरे द्वारा शीर्य

१- वार्यासप्तशती ५६

२- .. ५२३

३- .. ३००

संपन्न है।

जीवन का प्रादुर्भाव के होने पर वन
वीर नितम्ब प्रवेश का गौरव बढ़ जाता है और मध्य अपेक्षाकृत कृश दीप्त
पड़ता है जिसमें त्रिवलि वीर रोमराजि का भी उदय हो जाता है। एक
धार्या में त्रिवलि का वर्णन करते हुए पौराणिक उत्प्रेक्षा को गयी है।
नायिका के मध्य भाग में त्रिवलि ऐसी प्रतीति होती है मानों विष्णु ने
बलि को (अपनी वचनों के कलक में) तीन भागों में बाँध लिया हो।
नायिका का मध्य भाग (कटिभाग) नदी की धारा के समान सूक्ष्म^२ और
कृश होने से सुट्ठी में जाने योग्य है।

रोमराजि वर्णन से सम्बन्ध दो धार्याएँ
मिली हैं। एक में नायिका की जँघावों से ऊपर की रोमावली मूर्ति में हिप्प
धन के समान आकृष्ट करती है^४ और दूसरी में यही रोमावली सुरत के समय
वरधनी टूटने से तथा पुष्ट जँघावों के कारण शिव की स्तन रूप निशानेला
के सदृश प्रतीत होती है।

जघन और जँघावों के निष्पन्न में अधिक
वाकर्षण^५ दिखाया गया है। नायिका की पुष्ट जँघाएँ कदली के तनों के
समान हैं जो रसिकों के हृदय लपी गज की बाँधने के लिए स्तम्भ का काम

१- बायांसप्तशती ८६

२- .. ६२७

३- .. ५८७

४- .. ३५८

५- .. ६६३

६- .. ५५३

करते हैं^१ और निर्वस्त्र जघन से वाकृष्ट नायक जैसे ही तुष्ट नहीं होता जैसे प्रातःकालीन सूर्य बिम्ब की देखी से चक्रवाक । एक वन्य बायाँ में जघन के वाकर्षण का प्रसिद्धात्मक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :

‘ युनामीष्यविरे वितन्वता तरुणि न्द्रुहनिरेण ।

तव जघनेनाकुलिता नितिना पत्नी सन्निव ॥ ’ ३

हे तरुणि । जैसे समुदाय से सुन्दर दृष्ट युवकों में हँस्यो बैर बढ़ाकर सारी वस्ती को पीछान करता है उसीप्रकार न्द्रु के समान सुन्दर तेरा जघन , युवकों में हँस्यो बैर बढ़ाकर सारी वस्ती को पीछान किये हुए है।

प्रिय के गुणों में वृद्धि होने से अपनी चरणों को अधिक महत्त्व देने वाली इस रूपविता को तो देखें जिसमें चरण सौंदर्य वर्णन में कमल के परम्परामुक्त उपमान का प्रयोग किया गया है :

‘ राज्यामिषीकसिन्धुतास्त्रिमासिः कथाः कृष्णाय ।

गर्भमन्धराक्षी पश्यति पद्मपद्मं राधा ॥ ’ ४

राज्यामिषीक के जल से धुले मस्तक वाले कृष्ण की बातों में, गर्वाधिक्य से निश्चल नेत्रवाली राधा अपनी चरण कमल की देखती है ।

राधा का गर्व इसलिए है कि राज्यामि-
षीक के समय पवित्र तीर्थ जलों से अभिषिक्त कृष्ण का गीतशाली सिर

१- बायाँसप्तशती ३३०

२- .. ३१६

३- .. ४७०

४- .. ४६०

बाहिर मानिनी राधा के इस चरण पर मुकेना ही ।

एक अन्य उदाहरण और नीचे- जिसमें पार्वती के चरणों में रहे शिव की चन्द्ररेखा का प्रभाव कहा ही वाक्यार्थक है :

‘ पूर्णचन्द्रविगुणितमञ्जोरा प्रमृशन्ता जयति ।

हरशशिखा गौरिचरणान्निर्मल्यगुणकेन्द्रे ॥ १

पार्वतीके चरणों पर रहे गये शिव के भक्तक की चन्द्ररेखा की जय ही क्योंकि इसने अंगुलियों के नखन्द्र (जो लक्ष्मी चन्द्राकार थे) को पूर्ण (चन्द्र) कर दिया (चरणों के) मध्य भाग में तृपुर को दो छत्रों वाला दिया । (और वागे बढ़ने पर) गुणक प्रवेश (टलती) में प्रेम की लक्ष्मी होने की देही बन गयी ।

उपर्युक्त दोनों ही वाक्यों में चरम- लक्ष्मी का उतना चमत्कारी वर्णन नहीं है जितनी रूपवर्तिता मानिनियों के मान की अभिव्यक्ति अंगों की जीवन जनित गुरुता के कारण किशोरा-वस्था की चम्पा गति किस प्रकार मन्मथा बन जाती है और कितनी वाक्यार्थक -

‘ चक्रकुण्डलचक्रवक्त्रस्तदुरसिजवसनसज्जहसुगम् ।

जघनमखलकुण्डितनयनमिदं हरति गतमस्याः ॥ २

(जब यह नायिका) चम्पती है तो कानों के कुण्डल और लक्ष्मी चम्प ही

१- वार्याचक्षुःशती - ग्रन्थारम्भग्रन्था ६

२- .. २२६

उठती है, स्तनों से वस्त्र तिसकने लगता है, जंघाएं परस्पर रगड़ लाने लगती हैं, इसका (इस प्रकार का) यह गमन मेरे मन को हलता है । नायिका की ऐसी गति निःसंदेह कामदेव के धनुष से फूटे बाण के समान रसिकों का मर्म भेद करदे ही रहती है।

नायिका के शारीरिक सौंदर्य से सम्बद्ध इन वाक्यांशों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नर- शिशु वर्णन विषयक वाक्यांशों की संख्या थोड़ी ही है। अर्थात् सौन्दर्य के भौतिक पक्ष की अपेक्षा मानसिक पक्ष की ओर वाक्यांशशक्ती में अधिक ध्यान दिया गया है जो भावपक्ष से सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि नर-शिशु-वर्णन की ओर गीर्वाणनाचार्य का रुझान प्रायः अधिक नहीं था । फिर भी इस परिपाटी का सुत्रपात हो गया था और अतद्विषयक बहुत सी कवियाँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं जिनका अन्तर्गण वाक्यांशशक्ती में भी किया गया है। मुक्त के लिए चन्द्रमा, कमल, नयनों के लिए कुवलय, उरोजों के लिए कलश, भुजा के लिए मृणाल आदि का उल्लेख परम्परा सिद्ध ही है। हाँ, विशेष परिस्थितियों में कतिपय नवीन उपमानों की सृष्टि की गयी है। सब कुछ मिलाकर पुरातन की अधिकता और नूतन को न्यूनता हो इसने दिशाईं पड़ती है।

शारीरिक सौन्दर्य का उत्कर्ष करने में जर्जरों का उपयोग सदा से होता आया है । जर्जर तीन प्रकार के होते हैं- वाहय, व्यक्त्याज और यत्नज । ये स्थूलता से सूक्ष्मता और कड़ता से मृदुता की ओर जाते हैं। अर्थात् हार आदि वाहय जर्जर वाह्य जड़ और स्थूल वस्तु हैं। शरीर से उनका सम्बन्ध सार्वकालिक नहीं है। शोभा ,

कान्ति आदि अत्यन्त जर्जर शरीर से उतारकर नहीं फेंके जा सकते । शरीर से जन्म उनका कोई अस्तित्व नहीं है। हार आदि की भाँति उनका स्पर्श नहीं किया जा सकता । अतः वे सूक्ष्म हैं। अत्यन्त जर्जर अर्थात् हाव-भाव भी कहते हैं निर्विकारात्मक- अस्तित्व नित्य में उत्पन्न हुए अत्यन्त स्पन्दन हैं ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त त्रिविध जर्जर उत्तरीत्तर उत्कृष्ट एवं स्पृहणीय है। आहार से अधिक अत्यन्त और अत्यन्त से अधिक अत्यन्त जर्जर द्रव्य की अन्वयानुति को प्रभावित करते हैं।

गोवर्धनालय ने नायिका के प्रसूत प्रसाधन एवं आहार जर्जरों का वर्णन कतिपय भागों में किया है। नायिका का सबसे बड़ा शृंगार स्नान है। उसमें शरीर का उबटन साबुन का काम करता है। हाथों में कंगन, और पैरों में नूपुर शायद इसलिए पहने जाते हैं कि वे सहाय के लिहने हैं। कानों में कुण्डल, गले में फूलहार और मुखताहार पहने जाते हैं। केश-कलाप में सिन्दूर से माँग भरना, पैरों में लाला लगाना,

१- आर्गसिप्लशो ॥ ८८

२- .. ६६०

३- .. २६८

४- .. २९४

५- .. २२६, ४६५

६- .. ३३९

७- .. १२९

८- .. ४०४

९- .. १८

वादि वार्याओं की नायिका की प्रसाधन सामग्री है। इन वाभूषणों के न होने पर भी प्रिय को वाकृष्ट करने वाली नायिका का उल्लेख हुवा है। शोभा, कान्ति और दीप्ति उसके सर्वांगीण लक्ष्मण हैं। उदाहरण के लिए-

‘ न विभूषणी तवास्या वपुर्गुणेनैव जयसि सति यूनः ।

अधीरितास्त्रशस्त्रा कुसुमेणोर्मलविधेय ॥ ’ २

हे सति । विशिष्ट भूषण में तेरी वासवित उल्लिखित नहीं, तू तो अस्त्र-शस्त्र को तिरस्कृत करने वाली कामदेव की मल्ल विद्या से शारीरिक गुण (कान्ति) से ही युवकों को अधीन कर लेती है।

ऐसे कौनसे सौन्दर्य को किसी भी तरह छिपाया नहीं जा सकता । यह कभी न कभी किसी भी तरह नज़र जाने से रसिकों का सम्मोद करके ही रहता है -

‘ त्वमसूर्यपश्या सति फमपि न विनाकार्णा भ्रमसि ।

शाये । किमिह विधेयं मुञ्चन्ति न मूर्तिमन्तस्त्वाम् ॥ ’ ३

हे शायारूपे सति । तুম सूर्य का दर्शन नहीं करती हो, बिना व्यवधान (पर्दा) के एक पल भी नहीं झुमती हो, तथापि जीग तुम्हें नहीं कीड़ते , इस विषय में क्या किया जाय ?

अत्यन्त लक्ष्मणों के अतिरिक्त अत्यन्त लक्ष्मणों से भी वायकार ने अपनी नायिका का प्रसाधन किया है। कतिपय

१- वायसिस्तशती ४०

२- .. ३४३

३- .. २५४

उदाहरण प्रस्तुत है -

लीला^१

बाणी, की नीर कलकरीं द्वारा प्रसव
प्रियतम का अनुकरण लीला कहलाता है।

“ पश्य प्रियतनुविघटनमयेन शशिर्मांस्त्रिदहसंलग्ना ।
सुमगैकदेवतमुपा शिरसा मागीरयो वसति ॥ ” २

देखो । शिव के शरीर में संलग्न पार्वती, प्रिय के शरीर से वियुक्त होने
के मय से, प्रिय की देवतामात्र गंगा को शिर पर वहन करती है।

बिलास^३

“ ब्रीडाप्रसरः प्रथम तदनु च रसभावपुष्टनैष्टेयम् ।
ज्वनीवि निर्गमादनु नटीवि वक्षिता मनो हरति ॥ ” ४

परदे से बाहर निकलने के बाद नटी के समान यह प्रिया पहले लज्जा प्रद-
र्शित करती है, बाद में रस और भाव से पुष्ट केष्टाओं से भी मन को

१- भरतमुनि, नाट्यशास्त्र २४।१४

२- बार्यासप्तशती १६६

३- प्रिय को लपट कर उठने बैठने, चलने और हाथ , धू तथा नयन आदि
की क्रियाओं में जो संक्षिप्त वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाता है, वह
बिलास कहलाता है।

- भरतमुनि - नाट्यशास्त्र २४।१५

४- बार्यासप्तशती ५३८

हर्ती है।

^१
विच्छिन्ति

कल्पनलङ्घनं तिसृभिः पूजाणामुपहासविषयमितिरासाम् ।

कुरुणी वनस्पतिञ्च प्रसूनीष्वप्यवन्ध्यवल्मीनाम् ॥ २

हे सीमाग्यशास्त्रिणि ! तुम बिना कर्कारों के ही अन्य स्त्रियों के वापूचण की वैसे ही उपहासास्पद बना रही हो जैसे वनस्पति ज्ञाता वन्ध्य ज्ञाताओं के विफल पुष्प की ।

^३
विज्योक्त

विहितवि विधानुबन्धी मानोन्नतयावधीरितो मानी ।

अते कुतः प्रबोधं स जागरित्वैव निद्राणः ॥ ४

जिसने तुम्हारी प्रसादना के जेक उपाय किये, परन्तु तुम मानवविता से तिरस्कृत हुवा, वह अभिमानी जागता हुआ ही सी रहा है, किसी भी प्रकार से जाग नहीं सकता ।

^५
किञ्चिद्विहित

प्रिय जायाते दुरावभूत इव संगमी भवत्पूर्वः ।

मानहृदित प्रसादाः पुनरासन्नपरसृतादी ॥ ६

१- कर्कारों के प्रति जनादर जयभा स्वल्प कर्कारों द्वारा अधिक शोभित होना विच्छिन्ति कहलाता है। - भारतमुनि-नाट्यशास्त्र २४।१६

२- वार्यासप्तशती ४०

३- गर्व-वश इष्ट वस्तु का जनादर । भारतमुनि-नाट्यशास्त्र २४।२१

४- वार्यासप्तशती ५२७

५- प्रियतम के मिलन वादि से उत्पन्न हर्ष किञ्चित् हास, शुष्क हस्य (बिना कारण के हस्य) वादि के म्लिण को किञ्चिद्विहित कहते हैं।

- विश्वनाथ-साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद

६- वार्यासप्तशती ३६९

प्रिय के दूर से जाने पर प्रथम सँगम वर्सनात सा हुआ द्वितीय सुरत के वारम्भ में (नायिका का) मान , रुदन, प्रसन्न होना हुआ ।

^१
कुट्टमित

नेहिन्या चिकुरग्रहसमयससीत्कार्मणीन्तिवृशापि ।

बाला कपोलपुष्कं विनीव्य निक्षितोऽस्मि शिरसि पदा ॥२

गृहिणी ने केशों को पकड़ते समय सीत्कारपूर्णक वारंसे मूँद ली, (तथापि कुछ क्षण पहले भरे द्वारा घुमे गये) बाला के पुष्कित कपोल को देखकर उसने भरे सिर पर चरण प्रहार किया ।

^२
विक्षुप्त

वास्तार् मानः कथं ससीषु वा मयि निषेधदुर्विनये ।

शिथिलितरतिगुणगर्वा ममापि सा लज्जिता सुतनुः ॥ ४

मुझ पर हुआ दुर्विनय कहने योग्य था किन्तु मान करना तथा सखियों में कहना तो दूर रहा, वह सुन्दरी रति- गुणों के गर्व को शिथिल कर भरे प्रति भी लज्जित हो उठी ।

१- केश, कुच, कंधर आदि के ग्रहण से जन्य कष्टों में वानन्द की अनुभूति

- भरतमुनि - नाट्यशास्त्र २४।२०

२- वार्तासिप्तशती २१६

३- वक्ष्य व्यक्त से भी लज्जा आदि के कारण बात न करना ।

- भरतमुनि - नाट्यशास्त्र २४।२३

४- वार्तासिप्तशती १०५

मद^९

बहुयी भिति लादाराण सिरसि वयस्येन वयसि उपससिते ।
सत्कालक क्लितज्ज्वा पिबुनयति ससीष्णु सीमाग्यम् ॥ २

बहुपत्नीक पति के सिर की महावर से लाल देकर उसके मित्र ने उसका मजाक उड़ाया तो नायिका उस समय तो लजा गयी लेकिन बाद में अपनी ससियों में अपना सीमाग्य व्यक्त करती है।

सौन्दर्य सदैव द्रष्टा की वाकृष्ट करता ही है। यद्यपि सहज सौन्दर्य किसी प्रकार के गहने का मुस्ताज नहीं होता फिर भी उपयुक्त वर्णकारी से सौन्दर्य में वृद्धि होती ही है। उपयुक्त तीनों प्रकार के वर्णकार नायिका के जीवन उन्मीलित सहज सौन्दर्य की और भी वाकर्णक बना देते हैं और कहे की आवश्यकता नहीं कि वाकर्णण ही प्रेम का मूल बीज होता है।

प्रेम का वाक्चर्च

स्त्री-पुरुष का पारस्परिक रूप-वाकर्णण ही अनुकूल वातावरण में पुष्ट होकर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। सहज वादि के अभाव में यह वाकर्णण विकसित होकर उस दशा की प्राप्ति नहीं हो पाता कि इसे प्रेम कहा जा सके। ऐसी दशा में यह वाकर्णण मात्र बनकर ही रह जाता है। देवालय में पूजा के लिए वायि दूर तरुण वीर

१- सीमाग्य (पति का प्रिय होने) जीवन वादि के गर्भ से उत्पन्न होने वाला मनोविकार मद कहलाता है।

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१०५

२- वायसिप्तसती ४०३

तरुणी का यह साणिक मिलाप ऐसा ही है :

सुरभवे तरुणाभ्याम् परस्पराकृष्टदृष्टिबुधयाभ्याम् ।
देवार्चनार्थमुक्तमन्योन्यस्यापि सुसुमम् ॥ १

देवालय में तरुण और तरुणी के दृष्टि और निश्चित परस्पर आकृष्ट हैं, (उन्होंने) देव पूजन के लिए प्रस्तुत पुष्प एक दूसरे की अर्पित कर दिया ।

रूप के साथ गुणों का समावेश आवश्यक है। वास्तव में बिना गुणों के रूप व्यर्थ सा ही है। गुण श्रवण और रूप दर्शन अनुराग उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। किसी व्यक्ति के गुणों को बार बार सुनते रहने पर उसके प्रति प्रेम हो जाना स्वाभाविक ही है। नीचे किसी वार्ता में इस आकर्षण की व्यंजना बड़े सुन्दर ढंग से की गयी है :

श्रुत एव श्रुतिहारिणि रागोत्कर्षण कण्ठमध्वसति ।
गीतं च त्वयि मधुरी करोति नार्थं ग्रहं सुतनुः ॥ २

जैसे सुनते समय ही श्रुतियों से मनोहारी, श्रीरागादि (संगीत के कः राग) के उत्कर्ष से व्यक्त होती हूँ, माधुर्यशाली गीत में (गुणों पर ही ध्यान दिया जाता है) अभिप्राय का ग्रहण नहीं किया जाता, उसी प्रकार सुनने के समय ही कर्णसुख जनक प्रीति के उत्कर्ष से कण्ठ में बसते हुए (वस्तुओं की भी तेरा नाम लेकर फुहार उठती है) , सुन्दर तुझमें वह सुंदरी (गुण-ग्रहण करती है) अव्य ग्रहण नहीं करती ।

१- वार्तासप्तशती ६५७

२- .. ५६६

ऐसे जोते व्यक्ति को देखने के लिए उपयुक्त उपस्तुतजनित मूर्त बिम्बों के माध्यम से जो वाकृति गोवर्धनाचार्य ने प्रदान की है वह नायिका के वीत्सु-
वय का वास्तुका प्रत्यक्ष कराने में बेजोड़ है :

त्वयि सर्पति पथि दृष्टिः सुन्दर वृत्तिविवरनिर्गता तस्याः ।

दत्तरत्नमिन्नशैवलज्जाला शफरीव विस्फुरति ॥ १

हे सुन्दर ! जब तू रास्ते पर चल्ता है, तो पथ के छिद्र से निकली उसकी
दृष्टि, धोड़ी सी चकल, शैवाल जाल को मेदकर बाहर उड़कती मकली के
समानशीमित हो रही है। सवार को मेदकर फुदकती हुई मकली की उष्मा
जिस व्यंजना की पृष्ठभूमि बनती है वह निःसन्देह रत्निका का कर देती है।

दृष्टि-जनित-पथ-वैविध्य की फलद में
उनकी दृष्टि सत्सुख कृष्ट पूर्व है। कल्पा की टंकिका से अपने शैली-शिंप
की सवार हो गए वे न जाने कितने उदाहरण प्रस्तुत कर गये हैं :

वृत्तिविवरेण विरन्ती सुभग त्वामीक्षितं सखी दृष्टि ।

हरति सुवह्वयपङ्कजमवस्था मन्मथेश्वरिण ॥ २

हे सुभग ! दोवाला के छिद्र से तुम्हें देखने के लिए प्रविष्ट युवकों के हृदय
पङ्कज में स्थित कामदेव के बाण के समान मरी सखी की दृष्टि तुमको
हरती है।

सामाजिक मर्यादा और लोक-लाज के
गहन भार से दबा हुआ नायिका का वीत्सुवय कुराग मरी केष्टाओं में

१- वार्यासप्तशती २६७

२- .. ५४४

देसिए-

मुनिहृत्किंककुण्डलमुत्तचितकाण्डपटमियं मुग्धा ।

पश्यन्ती निःश्वासेः क्षिपति मनोरेणु घोरमपि ॥ १

एक कुण्डल भूमि में संलग्न है, दूसरे ओर कनात कर्णभूषण बना हुआ है, यह मुग्धादेवती हुई वलेशजन्य निःश्वासी से मन की रेणु राशि की भी दूर फैक देती है।

स्पष्ट है कि मनः पुष्प की सुरमित पराग राशि के फैकी से मन में अभिलिखित प्रेम मिलन रूप भावना की भी नायक तक पहुँचा रही है।

नायिका की ही नहीं, नायक की भी ओर दृष्टि आर्वाकार की दृष्टि से नहीं बन पायी है। परकीया का उप-पति किस बकिष्म के साथ उसे पति-सेवा में लगी वफा प्रेयसी की देकर वाश्वस्त ही रहा है :

“ सेवायति शयानं यथीप्सीजयति गृहपति गृहिणी ।

गृहवृत्तिविवरनिषिञ्जितदृशस्तथाश्वासनं द्युतः ॥ २

गृहिणी शयन करते गृहस्वामी का जितना प्यार बना रही है, मन्द मन्द पैसा भाल रही है, घर की बोझार के झिड़ से निकली दृष्टि से प्रिय की उतना ही वाश्वासन मिलता है।

इस प्रकार युवकों की वृद्धों की देता-देती

१- आर्वासप्तशती ४१३

२- .. ६४२

वीर तक भाँक बराबर चमकी रहती है। कभी प्रिय के दिसाहं न देने पर नायिका उसे लीजती हुई रास्ते में वज्र फेंकने वाली पर-परायणी को कण्टक वृक्षाँ के समान तिरस्कृत करती है तो कभी सुवर्ण के समुद्र में अपनी प्रिय को ही लीजती है और उसके न मिलने पर तो यह वशा होती है कि मन तन का रैन ही जाता रहता है :

“ उद्गमनीपनिवेशनशयनपरावृत्तिगन्धर्वकनेष्ट ।

अनिशं स मोहयति मां हृन्मग्न श्वास इव दग्धितः ॥ ” ३

हृदय में स्थित वह प्रिय मुझ श्वास रोग के समान उठने, बैठने, कण्टक बदलने और बोलने में निरन्तर असमर्थ कर रहा है।

ऐसी स्थिति में प्रिय से मिलन की उत्कण्ठा बन्धती होती चली जाती है जिससे उसके पास दूतियाँ जावा सखियाँ भेजी जाती हैं। वार्यासप्तशती में दूतियाँ और सखियाँ की उचितयाँ वाधन्त पर्याप्त मात्रा में चरी पड़ी हैं। नायक को नायिका की वीर उन्मुख करती हुई दूती कहती है कि तुम बड़े सीभाग्यशाली हो जो बिना सोच समझे वह तुममें वासन्त होगयी किन्तु तुम्हारा विपरीत वाचरण उसके लिए दुःख का विषय है। वह तुम्हारे विरह में सन्तप्त होने के कारण गौरी के समान आधी हो गयी है। तुम्हारे सेवाद का एक वस्त्र भी उसे प्राणप्रिय है। प्रेम के दीप्त में सम्बन्ध भावना बड़ी प्रबल होती है। प्रेमी अपनी प्रिय की कौटो से

१- वार्यासप्तशती -४६२

२-	..	१४४
३-	..	१२७
४-	..	१४
५-	..	२३
६-	..	२११

होटी वस्तु को भी प्रेम की दृष्टि से देखता है। प्रेम जैसे वासमणि है ,
जिसके स्पर्श से प्रेमी के लिए प्रिय व व्यक्ति का सब कुछ कांच बन जाता
है। इस प्रेमान्मादिनी को देखिए जो नायक के वस्त्रों को भीने से भीने
सरीस रही है :

‘ वाढाय धनमनन्प ददानया धुमग तावर्क वासः ।

मुग्धा रजकगृहिण्या कृता दिनेः कतिपर्यन्तिः स्वा ॥ ’ १

हे सुन्दर ! बहुत सा धन लेकर तुम्हारे (धुलने के लिए गयी) वस्त्रों को
देती (दिखाती) हूँ धीबन ने उस सुन्दरी को घोंदें ही दिनों में धन-
हीन बना दिया ।

प्रेम की उपमाग जालसा दर्शन से जागे
संबद्ध वस्तु स्पर्श को जीवती हुई साक्षात् स्पर्श की कामना करती है और
पा देने पर उसके सुत को सहसा शीढ़ नहीं पाती । तब प्रेमी की भी दशा
उस सुन्दर जैसी हो जाती है जिसने संकोरे मुँह वाले घड़े में रहते भैंसे हाथ डाल
कर मुट्ठों में भर लिये -

‘ अतिरमसेन मुजोऽयं वृतिविवरेण प्रीतिः सदनम् ।

वयितास्पर्शान्मसितो नागच्छति वर्त्मना तेन ॥ ’ २

यह मुजा दीवान के द्विष्ट से बड़े बैग से घर के भीतर प्रविष्ट तो हो गयी
परन्तु प्रिया के स्पर्श से उसी मार्ग से बाहर नहीं आ रही है।

वतुराग- विकास की इस दशा में प्रिय

१- वार्यासप्तस्तो ६०

२- ,, ६३

के बुलाने पर नायिका को प्रेम को उत्कण्ठा व लज्जा की अधिकता मन में बुविधा उत्पन्न कर देती है, तब अन्तर्ग मन हाँ कहता है और बाह्य मन लोक-लज के भय से ना कह देता है। ऐसी स्थिति में प्रेम व लज्जा के सागर में गोते लगाने वालों इस नायिका का तसमजस जीर हूती की वञ्चोक्ति पूर्ण सुख उत्प्रेक्षणीय है :

‘ एकं वदति मनो मम यामि न यामीति हृदयमपरं मे ।

हृदयममुचिर्त्तं तव सुन्दरि हृतकान्तचित्तायाः ॥ ’ १

नायिका वृत्ती से कहती है कि “ एक हृदय तो कहता है जाऊँ और दूसरा हृदय कहता है कि न जाऊँ । वृत्ती नायिका से कहती है कि - हे सुन्दरि । तुमने नायक का चित्त हर लिया है जिससे तुम्हारे पास दो हृदयों का होना ठीक ही है । कितना स्वाभाविक वर्णन है । न किसी अन्कार का चपकार है और न ही कल्पना की ऊँची छड़ान । सुग्धा नायिका की सहज लज्जा और जीतसुख का कद्भुत समन्वय है। मानव मन की दो प्रमुख शाश्वत मनो-वृत्तियों का यह एकान्त समाधान देते ही बन पड़ता है।

वाचार्थ रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि

प्रेम में दृष्टि प्रिय से होती है हर्ष उसके कर्म पर जातो है। कर्म ही नहीं वस्तु पर भी । यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रिय की वस्तु भी अत्यन्त प्रिय लगती है। सच्चे कवि इस सम्बन्ध भावना का सदा से वर्णन करते जाये हैं, क्योंकि प्रेम की दृढ़ता और स्थिरता प्रदान करने में इसका बड़ा हाथ है । वार्यासप्तशती में ऐसे उदाहरण प्रायः कम मिलते हैं । नायक ने अपने गले की पुष्पमाला नायिका के गले में डाल दी । इसके पश्चात् बहुत दिन तक

मिलन न होने के कारण प्रेयसी उसे बिछोहना नहीं चाहती-

वपनीतिनिसिन्तापी सुमग स्वक्रेण विनिस्तिर्ग भवता ।
पतिशयनवारपाज्ज्वरीबाधं वहति सा मानाम् ॥ १

हे सुमग । वसिष्ठ सन्तापी को नष्ट करने वाली , जाफे द्वारा वपनी हाथ से पहिनायी गयी माला को वह पतिशयन रूप वारपाली ज्वर के लिए बाध सी धारण किये रहती है ।

इस सम्बन्ध - भावना के कारण ही तो वे ही वन्न जो सब लोगों के मुस से निकलते हैं, प्रियतम के मुस से निकलते हुए बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं :

“ वन्यमुसि दुर्वादी यः प्रियवदने स स्व परिहासः ।
स्वरेन्धनगन्मा यो धूम सोऽगुरुमवो धूप ॥ ” २

दूसरे के मुसल से निकलने वाला जो दुर्वाद समझा जाता है वही प्रिय के मुस से निकलने पर परिहास बन जाता है। वन्य ईंधन से उत्पन्न होने के कारण जो धुआ समझा जाता है वही अगुरु से उत्पन्न होने पर धूप कहलाता है।

इस सम्बन्ध- भावना की भी वपनी सीमाएँ हैं। प्रिय की उन्हीं वस्तुओं की प्रीति ही सकती है जो पारस्परिक प्रणय भावना को उदीप्त करे या कम से कम उसमें बाधक न हो । उदाहरणार्थ कोई नायिका प्रियतम की किसी वन्य प्रेयसी से प्रेम नहीं करेगी

१- वार्यासप्तशती ४६

२- .. १३

हैंथ्यां ही करेगी। अन्य नायिका प्रेम के चोत्र में तो सम्बन्ध भावना बन्नी नहीं सकती, अन्य वस्तुओं के विषय में भी सन्तुलन उपेक्षित है, वह वस्तु चाहे बांसुरी हो या कविता, बैलनी हो या पुस्तक, या तपने में निमग्न कर देने वाला व्यस्त कार्य व्यापार। सम्बन्ध - भावना की उभरती सीमाओं के फलस्वरूप अन्यासक्त नायक के प्रति नायिका की उपाश्रमपूर्ण उक्तियों से कार्यसिक्त होती बड़ी पड़ी है। दूसरे प्रकार की उक्तियाँ बहुत कम हैं। नीचे दी हुई वार्ता में प्राणनाशक ज्वर का भी बाभार मानने वाली इस नायिका की उक्ति सुनने लायक है :

“ज्वर बीतीषधबाधा त्तिष्ठ सुखं वत्तमंगमस्मिन् ते ।

वसुन्मन्नीहाकर्णपाशाण सहे न मील्यसि माम् ॥ १

हे ज्वर ! मैंने प्रसन्नता के साथ तुम्हें अपना शरीर दिया। बीषध के भय से रहित रही, दुर्लभ व्यक्ति को लीनकर जाने वाले तृप्तिक। सहे। मुझे छोड़कर न जाओ। इस अवस्था में प्रिय का दर्शन पाकर जानन्वित हुई प्रेयसी उससे कहती है :

“रोगी राजास्त इति जनवादं सत्यमय कल्प्यामि ।

आरोग्यपूर्वकं त्वयि तरुप्रान्तागति सुभग ॥ २

हे सुभग ! शय्या के पास तुम्हारे जाने पर रोगी राजा के स्वप्न लीजाता है- इस लोक प्रवाद की आज मैं आरोग्यपूर्वक सत्य मानती हूँ।

इस प्रकार सन्निध्य प्राप्त होने के बाद शोकावस्था का चोत्र प्रारम्भ होता है और मुहूर्त का कारवां सधो हुई जाय

१- वार्तासिक्तता २४०

२- .. ४६२

से आगे बढ़ता है। नायक के साथ छीड़ाएत नायिका की यह चपलता दर्शनीय है -

“त्वमनम्या मम तावन्मीकतुमश्वतस्य संमुखं व्रजतः ।

शायेवापसरन्ती पितृत्या न निवार्यसे यावत् ॥” १

सम्मुख जाते हुए झीड़ने में असमर्थ मेरी भागती काया तो जब तक दोवार के बीच में नहीं रोक ली जाती तब तक तुम मुझ अन्य ही ।

प्रेम एकतरफा ही तो नहीं । इसकी जांच करने के लिए कौसी सुवितया चींची जाती है और उपयुक्त अवसर लीजें जाती है। संहित स्थल का यह सूक्ष्म संकेत ‘स्त्रीणामशिक्षितकृत्य’ की घोषणा करता है या नाह की राह बना लेने की अनुमत शक्तियाँ -

“ज्योत्स्नागर्भितरैकतमव्यगतः स्फुरति यामुनः परः ।

दुग्धनिधौ नागाधिपतत्पतले सुप्त एव कृष्णः ॥” २

नादनी के गर्भ के मध्य में स्थित, रेतोले तट के बीच गमुना का जल प्रवाह, क्षीर सागर में लेज शय्या पर सोये कृष्ण के समान शोभित ही रहा है।

इस प्रकार निर्धारित किये गये संहित स्थल पर आये हुए इन प्रेमियों की पारस्परिक वासन्ति तो देखिए-

“अन्योन्यमनु प्रीतसमन्यदथान्यत्तटात्तटं भवतीः ।

उदितोर्कऽपि न मावस्तानं प्रसमाप्यते यूनाः ॥” ३

१- वार्यावत्तशती २५

२- .. २४५

३- .. २६

हस तट की वपला वह तट प्रसस्त जल प्रवाह से युक्त है इस बहाने से बार
बार एक तट से दूसरे तट को जाते प्रेमियों का माघ स्नान भूयादय होने
पर भी समाप्त नहीं होता ।

ऐसी छीड़ावीं द्वारा विषम प्राप्त होने
पर प्रमोषीग प्ररित परिरम्भादि छीड़ावीं का होना स्वाभाविक है जिनका
उतना ही स्वाभाविक वर्णन वार्यासप्तशती में यत्र तत्र सर्वत्र उपलब्ध है। चन्दन
की र व्यंजन समीर से भी कहीं अधिक शीतलता प्रणयि- युग्म के अंत परि-
रम्भ में निहित है तभी तो -

“ मन्थमपसार्य धीं वंजनविघ्नं विधाय बाहुभ्याम् ।

स्मरंतापादगणितनिदायमाङ्गिते मिथुनम् ॥ ” १

हाथों से चन्दन दूर कर, पैसा दुलाना बिन्दुल बन्द कर, पदन-चन्तापण
नायक- नायिका ग्रीष्मकालीन गर्मी की परवाह न कर परस्पर वाङ्मन
करते हैं।

अन्य स्थान पर चुम्बित हेतु नाना नेष्टारं
करके जानन्दित होने वाले इन प्रेमियों की दृष्टि-

“ अधर उदस्तः कूजितमामीक्षितमदि लीलितो मीलिः ।

वासादितमिव चुम्बनमुत्सर्प्यऽपि तरुणाम्ब्याम् ॥ ” २

(चुम्बनार्थ) अधर ऊँचा किया गया । पीछासूचक स्वर किया । (सुता-
विर्भाव से (वार्षि मुँह गयीं । (निष्पीडार्थ) चिर हिन्नाया गया । इस

१- वार्यासप्तशती ४५२

२- .. ६२

प्रकार तरुण वीर तरुणी ने परस्पर एक दूसरे का स्पर्श न करके भी
तृप्ति का आनन्द पानों पा लिया ।

इस प्रकार कथर रूपों से प्राप्त मिठास
का वर्णन करता हुआ नायक नायिका से कहता है :

“ व्यथतमधुना समेतः सण्डो मदिराणि दशनवसने ते ।

यन्नवमुधिसारं लोमिनि तत्किमपि नाद्रादाम् ॥ ” १

हे मदिराणि । तेरे कथर परक शर्करा लगी है- यह अब निश्चित जाना,
किन्तु हे लोमिनि । जो केवल वसुधा का ही नहीं, अपितु त्रिभुवन का सार
हे उस विन्यास को कभी मीक नहीं देता ।

सुरत^२ तथा विपरीत^३ वर्णन से सम्बद्ध अनेक
जायाँ हैं। एक जायाँ में कवि ने प्रथम सुरत में परिणाम होने वाली नायिका
का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

“ विविधागर्भगिणू गुरुनूतनशिष्या मनोभववाचार्यः ।

वैद्यन्तयेन बाला तन्मे नर्तयति स्तरीत्या ॥ ” ४

विविध अंग- भंगियाँ में गुरु , मनोभव रूप वाचार्य, बाला रूप नूतन शिष्या
की, वैद्यन्तता के सम्मान स्तरीति से शय्या पर नचा रहा है।

किन्तु बाद में दूसरे सुरत में यही नायिका

१- जायाँसप्तशती ५१६

२- .. ६६, ८८, १२५ , ३२२, ३२४, ३२७

३- .. (श्र० १२, १४) , १२१, ३७३, ५३५, ५६१

४- .. ५४८

प्रिय का वीर्य स्तब्ध होने पर भी उसे झोड़ना नहीं चाहती है -

‘कातरताकैरतिस्मरलज्जारोचनमसृणमधुराक्षी ।

मीकतुं न मीकतुमयथा वन्तेऽसावर्धलब्धरतिः ॥’ १

कातरता (मय) से टढ़ी, काम, लज्जा, रोचन से स्निग्ध और मधुर
नेत्रवाली, वादीही रति प्राप्त कर (मय, लज्जा, रोचन के कारण)
नायक को झोड़ने तथा (कामावेश से) न झोड़ने को उक्त होती है।

अब विपरीति- रत का एक उदाहरण
लीजिए- जिसमें बाजी लगाकर विपरीति - रत में लकी नायिका के प्रति
नायक की यह उक्ति सुनने लायक है -

‘वक्ताः प्रणयिनि सान्द्रस्वासे वाङ्मात्रसुभटि धनधर्म ।

सुतनु ललाटनिवे शितललाटिदे तिष्ठ विजितासि ॥’ २

(धक कर सोने के लिए) वक्तास्थल में अनुराग रत रही हो, स्वास लम्बी
मल रही है केवल वक्तामात्र से ही शूर बन रही हो, पत्नी से लयपय हो
रही हो, है सुन्दरि । तुमने वक्ता मस्तक का तिलक मेरे मस्तक पर लगा
दिया , अब रुक जाओ, तुम हार चुकी हो ।

वार्तासप्तशती में स्वकीया और परकीया
दोनों के ही प्रेम का सुन्दर चित्रण किया गया है। नैतिकता, वाचन,
मर्यादा आदि की कल्पना इस विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विवेचना करने
पर भी स्वकीया प्रेम का चित्रण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। परकीया प्रेम

१- वार्तासप्तशती १७५

२- .. ५२६

में जीवन की उदाम वासनारें सुतरित हुई हैं। उसमें कूट विदग्धता, पर-
प्रसारणा, वात्म प्रवेदन, अविचारित कार्यता और क्वाथ तरलता है।
जिनका अन्तर्तीगत्वा अवश्यम्भावी परिणाम है विरति, घोर निराशा
और हृदयबाही पश्चाताप।

इस वस्ती की चतुराई तो देखिए-

“अमुना हस्तमिदमिदमिति हवती प्रतिवेशिनेऽङ्गमङ्गमियम् ।
रौचमिषादलितज्ज्वा गृहिणी दर्शयति पतिपुरतः ॥” १

रौचो हुई, मिथ्या-कीप से लज्जा नष्ट कर, यह गृहिणी इसके द्वारा
यह यह ऋण प्रकाशित हुआ है, पति से सामने प्रत्येक ऋण की फड़ोसी को
दिखाती है।

चोरी से किये गये दुरत की प्रशंसा इस
प्रकार की गयी है -

“रौचो भूमावके प्रियोभयं मनसि पतिभुजे गौलिः ।
गदगदगो वदने दुरतमिदं श्रेष्ठं त्रिविवम् ॥” २

भूतल पर नितम्ब, कंक में प्रिय (उपपत्ति), मन में भय, मुस में गुप्त
गवास, इस प्रकार का दुरत यदि अच्छा हो तो स्वर्ग भी उसके जागे तुम्ह है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि परकीया
प्रस चित्रण के रत्नाकर में से यह कड़ी दूर की कौड़ी गोवर्धनाचार्य लाये
हैं पर कौड़ी कौड़ी ही है, इसका कोई मूल्य नहीं है। केवल दूषित रुचि

१- वायसिप्तशती ७३

२- ,, ५६

ही की इससे अभिव्यक्ति होती है।

परकीया रति के कृक उदाहरण कार्या-
सप्तशती में भी हैं। ^१ देवालय, ^२ सेत, ^३ केसर की बयारी, सन्निधान, ^४ कठार-
कुंजर, ^५ नदी आदि में प्रचलित प्रेम की विविध सीलारे चित्रित की गयी हैं,
जिनमें जीवन का उन्माद बिसरा पड़ा है। परकीया प्रेम में स्थायित्व न
सही आकर्षण है, उसे स्मरणीय नहीं कह सकते पर जीवन उसके बन्धन से
नकार भी नहीं कर सकता। वह झिल्ला है परन्तु उसमें नव-जीवन की
हुँवा देने की शक्ति है। उसे अच्छी नजर से नहीं देखा जाता पर उसे नजर
बन्दाज भी नहीं किया जा सकता। इसलिए कार्यासप्तशती में इसका चित्रण
हुआ है, प्रभूत मात्रा में हुआ है और अपने स्वामयिक रूप में हुआ है। जीवन
जीवन के छतने व्यापक फल पर ऐसा यथार्थ-चित्रण संस्कृत साहित्य में
अन्यत्र शायद ही मिले।

इसके साथ ही प्रेम का वह स्वल्प भी है।
जिस पर सबकी नजर पड़ती है पर उँगली नहीं उठती, जो छाना ऊँचा है
कि जीवन ढलने और रूप के हिसकने पर ध्यान तक नहीं देता, जो गंगा जल
के समान पावन, गिरि निर्भर के समान निर्मल और विश्ववरा के समान
उर्वर तथा त्याग, सहिष्णुता और विश्वास से अनुप्राणित होने के कारण
ज्वर-ज्वर है। बानगी प्रस्तुत है। नवीदा की वामता ही प्रियतम के अर्प-
नीय आकर्षण का कारण बन रही है-

१- कार्यासप्तशती ४१७

२- ,, ७२

३- ,, १६

४- ,, ३०२

५- ,, १६०, ४६५

६- ,, ४३९, ४५८

‘ भंकृतकंकणपाणिदीपः स्तम्भाजलम्बनेमनिः ।

शोभयसि शुष्करुदितैरपि सुन्दरि मन्दिरद्वारम् ॥ ’ १

हे सुन्दरि । (बार बार तु) हाथ की बाधा हटाने के लिए धर उधर चल्ती है जिससे कंकण भंकृत हो उठती है, (केलि मन्दिर के द्वार का) स्तम्भ फट रही है, मीन शुष्क रहने लगती है। इस प्रकार भी तुम मन्दिर द्वार की शोभा बढ़ाती हो ।

मोजन बनाने में लगी हुई गृहिणी के प्रति नायक की यह उक्ति सुरतोदीप की सूत्रक है :

‘ विषुज्ज्वालावल्लयि जलधरपिठरीदराद्रि-निर्यान्ति ।

विशदीदनश्रुतिमुणः प्रेयसि पयसा सर्प करकाः ॥ ’ २

हे प्रेयसि । विषुज्ज्वाला से व्याप्त जलधर रूप, जलाधारभूत बटनीहँ से स्वच्छ जौदन की कान्ति हटने लगे (उपल) जल (दूध) के साथ बरस रहे हैं।

इस प्रकार निरन्तर क्रुराग रत्नी के कारण स्त्रीजित रूपी कर्क को सहने वाले नायक ने उसे दूर करने का जो उपाय अपनी पत्नी को बताया, वह गर्व भरी उक्ति में प्रस्तुत है :

‘ श्रुतं दर्शय सुन्दरि मुक्तेन्दुमोघात्प्रपामपाकृत्य ।

वायाजित इति त्वा जन्तुतिर्म यतो भवतु ॥ ’ ३

हे सुन्दरि । लज्जा त्याग कर (अपनी) मुक्तचन्द्र को लोगों को दिखा दो

१- वार्यासप्तशती २४६

२- .. ५५२

३- .. २६५

बिसे स्त्रीकित होने का भरा कर्क यश ही जाये ।

बुद्ध तथा लम्पट पति से प्रेम रखने वाली
किसी सुना फनी का प्रसीसात्मक उल्लेख करता हुआ कवि कहता है :

‘वफ्नस्य पन्तिर्लाक्षितिकृरं दयितस्य मीलिवन्नोदय ।
लेखी जितेऽपि समये संपदमेवाददे गृहिणी ॥’ १

परगिनालम्पट प्रिय का सिर, बुद्धापि से चिह्नित देखीं वाला देखकर, लेख
के अवसर पर भी गृहिणी ने आनन्द ही प्राप्त किया ।

सपत्नियों के होने पर भी उनके समान
ही अनुराग रखने वाले पति की प्रसीसा करती हुई उसकी फनी अपनी सती
से कहती है :

‘सति चतुराननभावादमुखां नवापि नैव दर्शयति ।
अयमेकहृदय एव गृहिणी एव प्रियतमस्तदपि ॥’ २

हे सति । (भरा) प्रियतम विधाता के समान (चातुर्यान् अथवा चार
मुखों वाला होने के कारण) किसी में भी विमुक्ता (विरसता अथवा
मुखाववत्ता) नहीं दिखाता है, तो भी यह एक हृदय ही है।

स्वकीया के विनय, सेवा, विधेयता आदि^३
गुणों से वाकृष्ट प्रिय उसकी प्रसीसा करता हुआ उससे कहता है -

‘तव सुतनु सानुमत्या बहुधातुजनितमितम्बरागाया ।
गिरिवरभुष एव लभिनाजोपि दयन्तुनेन दिवम् ॥’ ४

१- वार्यासप्तशती २२१

२- ,, ६०

३- ,, २०३

४- ,, २४६

है सुन्दरि । अनुमति सहित जिसने बहुत प्रकार से नितम्ब-विषयक प्रीति उत्पन्न कर दी , इस प्रकार की तुफि , शितरपती , अनिक गैरिकादि धातुवीं से उत्पन्न किये गये विविध राग वाले कटक प्रवेश से युक्त हिमालय भूमि से, पाकर में स्वर्ग को अपने से दो ही वर्ग दूर समझता हूँ ।

तात्पर्य यह है कि वार्यासप्तशती में कुल-बलू से लेकर कुण्डा और गणिका तक तथा नवीदा से लेकर प्रीदा तक की अवस्था में तत्कालीन नायिका के प्रणय का यथार्थ चित्रण हुआ है। ऐन्द्रिय संभोग के स्थूल चित्रों की भी कमी नहीं है जिनका वर्णन पीछे उनके वार्यावीं में किया जा चुका है जो वस्तुतः मासिक संभोग के नमूने हैं।

विप्रलम्भ शृंगार

समय का कुछ ऊपर नीचे घूमता ही रहता है। सब दिन किसी के एक से नहीं रहते । शिशिर के भयंकर शीत के पश्चात् वसन्त का मादक पवन आता है तो वसन्त के बाद शीत का ताप देखा जाता है जिसमें इन्हें भी इन्हें की आवश्यकता पड़ जाती है। प्रेमियों के जीवन में भी परिवर्तन होता है। जहाँ संयोगावस्था में वे विभिन्न केन्द्रों द्वारा पुष्ट और मधुर रस का आस्वादन करते हैं वहाँ वियोग में उन्हें पारस्परिक दर्शन का विषय विषय भी पीना पड़ता है। संयोगावस्था में प्रेम का कितना प्रसार और पोषण होता है वियोगावस्था में उतनी ही तीव्र वेदना सहनी पड़ती है। अतः अनुराग की गहनता का मापपण्ड संयोग है, वियोग नहीं ।

भरतमुनि ने विप्रलम्भ के कोई भेद-उपभेद नहीं किये हैं। सर्वप्रथम भोजदेव ने शृंगार प्रकाश में विप्रलम्भ के भेदों का

निरूपण किया। धर्नजय ने शृंगार के तीन भेद अवश्य किये थे और भिन्न से पूर्व की अवस्था को वयोग नाम दिया था। बाद के वाचार्थ में विप्र-
न्म के भेदों को लेकर दो मत प्रतिष्ठित हुए। एक अनुसार वह वमिलाज, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप वाला हुआ और दूसरे के अनुसार उसके पूर्व-
राग, मान, प्रवास और करुणा थे चार भेद हुए। पण्डितराज जगन्नाथ ने पहले प्रकार में कोई विशेष अन्तर स्वीकार न करके उसके पंच भेद ही माने हैं। किन्तु विशेष अन्तर न होने पर भी इनमें मनोदशागत यत्ति यत्कि-
चित् अन्तर तो होता ही है। उदाहरणार्थ प्रवासजन्य विप्रन्म में सताप का वाधियोग होगा और ईर्ष्याजन्य में रोषमिश्रित विजाद की तीव्रता।
क्तः पण्डितराज जगन्नाथ का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। उक्त दोनों मतों में समन्वय किया जा सकता है। वमिलाज और पूर्वराग में कोई अन्तर नहीं है। धर्नजय का वयोग भी इससे भिन्न वस्तु नहीं है। करुणा और शाप भी प्रायः समान ही हैं। दोनों ही विप्रन्म के कारण पात्र हैं। उनका अन्तर्भाव प्रवास में किया जा सकता है। जब केवल विरह रह जाता है जिसमें सखिदता या विप्रबुद्धा की भावना की मनोदशा का वर्णन हुआ करता है। यह न तो पूर्वराग में अन्तर्भूत हो सकता है और न ही प्रवास में। प्रणयमान भी इसे नहीं कह सकते और जब अन्य स्त्री विषयक का स्पष्ट फल न चल जावे तब तक ईर्ष्यामान नहीं कह सकते। क्तः विरह उपोद मो स्वीकार करना पड़ेगा।

१- अपरस्तुवमिलाजविरहेर्ष्याप्रवासशापैस्तु हति पैवविधः ॥

- मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास

२- सः पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धास्यात् ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१८७

३- इमं च पैवविधं प्राजः प्रसासदिमिरुपाधिमिरामनन्ति ।

ते च प्रसासामिलाजविरहेर्ष्याशिपानां विषयानुक्रममात्माभिः

प्रपञ्चिता । - पण्डितराज जगन्नाथ- रसगंगाधर

विप्रलम्भ के इन भेदों में से पूर्वराग में उत्कट वात्सल्य मात्र रहता है। प्रियतम के सान्निध्य का पूर्व अनुभव न होने के कारण उसके आग में तीव्र अनुभूति सम्भव नहीं। मान भी कुछ समय के लिए होता है, वह भी घर के भीतर ही। अतः वेदना की तीव्रता इसमें भी उतनी अधिक सम्भव नहीं है। वस्तुतः मान को विप्रलम्भ के अन्तर्गत माना ही नहीं जाना चाहिए। वस्तुस्थिति तो यह है कि मान संयोग की अधिक बना देता है। अतः एक सीमा तक स्फूर्णनीय है। मान थोड़ी देर ही रहता है, फिर उसकी शान्ति ही जाती है। अन्य संनारियों की भाँति मान का कोप भी संतर्पण कर दृप्त हो जाता है और फिर संयोग का संयोग। कायिक वियोग इसमें कम ही होता है, हाँ मनोदण्ड में अन्तर अवश्य हो जाता है। यही बात विरह के विषय में कही जा सकती है। अतः प्रवास ही तीव्र विरहानुभूति के निवृण का उपर्युक्त लक्षण रह जाता है।

वार्यासप्तशती में विप्रलम्भ के सभी रूपों का सहज सुन्दर और मार्मिक निवृण हुआ है।

पूर्वराग

‘निश्चिन्ता निश्चितानुष्मति निर्यतं मम पार्थिवानपि प्रेम ।

प्राप्यं प्राप्यं तिष्ठति तत्रैव कुलान्वयमिव ॥’ १

मेरा निर्यत प्रेम प्रवास्य भूपतियों को भी त्याग देता है। ऊपर निश्चित घटादि त्यागने वाले कुम्हार के चाक के समान घूम घूमकर उसी (प्रिय) में ठहरता है।

नायिका की इस वासक्ति से उसके प्रिय को अलग कराती हुई दूती कहती है :

‘अणितगुणैः सुन्दर कृत्वा नास्ति मय्युपासीनम् ।
भवतानन्यगतिः सा विहितवर्तेन तरणिरिव ॥’ १

हे सुन्दर । तसंख्य गुणों से आपने उसे अस्ति के प्रति उदासीन और तपने प्रति अनन्यगति बना दिया । अब उसकी दशा भँवर में पड़ी उस नाव जैसी है जिसे न तो बन्धनरज्जु रोक पाती है और फवार भी दूसरी ओर से जाने में असमर्थ रहती है और वह उसी जगह घूमती रहती है।

यही बात एक अन्य और शायद में इस प्रकार कही गयी है :

‘भ्रामं भ्रामं स्थिता स्नेहं तव पयसि तत्र ततैव ।
आवर्तपतितनीका यित्तमनया विनयमपनीय ॥’ २

तैरे स्नेह रूपी जल में घूम घूमकर स्थित रह (नायिका) शोक की शीदकर जल में घूम घूमकर अन्यत्र गमन त्यागकर भँवर में पड़ी नाव के समान आचरण करती है।

ऐसी स्थिति में वीत्सुक्ता तिशय के कारण नायिका के प्राणों पर ही वा बनती है :

‘जीवनं ह्यतोर्मिन्विता मुञ्चति करकर्णणेन न क्लृप्ताम् ।
नीरिव निम्नं सुन्दर मुग्धा ताद्विरसतां मा गाः ॥’ ३

१- आर्यासप्तशती ४७

२- .. ४२४

३- .. २४१

जिस प्रकार नाव हाथ से सींची जाने पर भी डालू स्थान को नहीं छोड़ती है उसी प्रकार है सुन्दर । जीवनार्थ मिनी वन मुग्धा तैरे हाथ द्वारा सींची जाने से तुमको नहीं छोड़ती है। अतः उसके विनाय में कुरागहीन (जन्माव-वान्) मत बनी ।

वन्योपित के माध्यम से नायक की यह दिलावसी की प्रीति से उत्पन्न प्रेयसी को निरन्तर देखी रहने की भावना किानी तीव्र है :

‘ यस्यां दिशि यस्य तरोयमित्य शिर्षा यथीन्नतश्चोषम् ।
वृष्टा सुधासुन्दरा निशा चकोरस्तथा नयति ॥ ’ १

चकोर ने जिस दिशा में, जिस वृद्धा की जिस शाखा पर जाकर जिस प्रकार ग्रीवा ऊँची कर चन्द्रकेला को देखा उसी प्रकार वह रात व्यतीत कर रहा है।

मान

कार्यासप्तशती में मान का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। नायिका को अवस्था के भेद से मान के विविध रूप रूपों चित्रित किये गये हैं। मान दो प्रकार का बताया गया है- प्रणयमान और ईर्ष्यामान । प्रणयमान में नायिका - नायक परिहास कला केस्वित्त ही बिना किसी समर्थ कारण के रुठ जाती है। अतः प्रणयमान अधिक समय तक नहीं चला करता । ईर्ष्यामान प्रियतम के वन्य रमणी में वासकत होने के कारण हुवा करता है। यह अधिक समय तक घोर रूप का प्रदर्शन करता

१- कार्यासप्तशती ४८५

है। यह अधिक समय तक धीरे रूप का प्रदर्शन करता है। फिर नवीडा मुग्धा का मान मुहु होता है क्योंकि मोक्षिण और लज्जा की और प्रेम की अधिकता के कारण उसमें लठने की प्रवृत्ति प्रायः होती ही नहीं। प्रीडा का मान अधिक स्थायी और दारुण होता है। यदि वह धीरे प्रकृति की हुई तब तो कड़वी और नीमरूढ़ी कहावत ही सारितार्थ हो जाती है। मान के बलाबल के अनुसार ही प्रियजन, अपोष्ट वस्तुदान आदि उसको दूर करने के साधन हैं। अन्तिम उपाय है चरणों में गिरकर लामा-याचना। वार्यासप्तशती में इन सभी रूपों की पूरी फाँकी दिखाई गयी है।

प्रणयमान

“मम कृप्तिरायाश्चायां भूमावा लिंगिय एसि मिल्लपुः ।

स्नेहमयत्वमनुज्ज्वलकरोति किं मेव मायहृद्यम् ॥” १

हे सखि ! कृप्ति मेरी छाया का भूमि पर वास्तिन कर रोमान को प्राप्त हुआ, स्नेहमयता को न छोड़ता यह प्रिय मुझ को परदिल देवा नहीं बना देता है ?

प्रिय को देखते ही मान को त्यागनेवालों इस गृहिणी की चेष्टा तो देखें-

“दर्शनविनीतमाना गृहिणी हर्षात्मिकसत्कपोल्लसम् ।

सुम्बननिषीधमिषती वदन् पिप्याति पाणिभ्याम् ॥” २

दर्शन मात्र से ही उसका मानक लपटा गया है, हर्ष से कपोल-तन प्रसन्न

१- वार्यासप्तशती ४४६

२- , २७६

हो रहा है। तुम्हें- निषीध के बहाने गृहिणी हाथों से मुक्त हो रही है।

निषीध के माध्यम से हाँ करने वाली भाव-
गोप्ता की क्लृप्ताईं कैसी स्फूर्णनीय है जिसका उत्कृष्ट नायक अपनी मित्र से इन
शब्दों में करता है :

“सुग्रीहास्मितमन्दश्च सितं मां मा स्फूर्ति शंसन्त्या ।

वाकोमित्य वातायनं पिधाय स्थितं प्रियया ॥” १

(सुग्रीह में डारा झड़ी गयी) प्रिया ने लज्जा, मुस्कान और (मदना-
विभाव से) मन्दश्वास युक्त , मुक्ति मत हूना- ऐसा कहते हुए, धीढ़ा
सा झीप जाकर लिङ्गी बन्द कर ली ।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए- जिसमें
प्रिय को मिथ्या कोप से डराने वाली इस नायिका का प्रणयमान कितना
बाधमग्न है :

“प्रणयनक्षितीऽपि सकृत्कोपकटाक्षीर्मया स्तिस्तम्भः ।

व्रासतस्मी गृहीतः सहासस्मिं प्रियः कण्ठे ॥” २

प्रणय- व्यापार से लज्जा भी प्रिय का स्वर्य में मिथ्या- कोपकटाक्षों से
बनाये रही । वह व्रास से काँप उठा (उसकी यह सरलता देखकर) में
उसके कण्ठ में लग गयी ।

१- वायसिप्तशती ६२

२- .. ३७६

ईर्ष्यामान

‘ यस्मिंश्चित् शैलस्यसि मान्वा सा यातु सठ नवन्तमिति ।
प्रहरन्ती शिरसि प्ला सारामि तां गर्वगुरुकोपाम् ॥ ’ १

जिसकी दी गयी मान्वा की शिर पर भूषण रूप में धारण कर रहा है,
हे सठ । वहीं तेरे पास जाय, ऐसा कहकर शिर पर चरण प्रहार करती,
गर्व से महाकोप वाली उसको स्मरण करता हूँ ।

एक अन्य आर्या में मानिनी की वाग्नि
कालीन चेष्टारं उसने प्रिय से तुम्हें -

‘ तमिन्नितवदनमपीहितवदो रुहमति विदूरजगती रु ।
सप्यशतेन मुजाभ्यां केवलमाणिगितीडस्मि तथा ॥ ’ २

केवल (मेरे) चकटों शपथ लेने पर (किसी तरह विश्वास कर पूर्ण रूप
से मान न होकर) उसने मुझ से मुझ बिना मिलाये, स्तनों की मन्त्री मांति
मेरे हृदय में दिना लगाये, जघन वीर उरु प्रवेश को अत्यन्त दूर किये, मुजाओं
से मेरा (जलूरा) वाग्निन किया ।

नायक के परागिना समीप अपराध को
सुनकर खड़ी हुई नायिका का यह ईर्ष्यामान भी कितना चापा भंगर है :

‘ क्लीणोरपराधान्मम तथैव कथय मन्मसै वीर्यम् ।
वमिधोयस्ते न किं यदि माननीराननः कितनः ॥ ’ ३

नायक प्रकृता है- तू ने मेरे अपराध सुने हैं, जरा मेरा मुँह देकर सन सन

१- आर्यासप्तशती ४७२

२- .. २०

३- .. २५

कता क्या मैं अपराधी प्रतीत होता हूँ । तो उसका मुँह देखकर ही तथा उसके चापूसी पूर्ण बन्नों को सुनकर नायिका कहती है- हाँ, क्यों न कहती, किन्तु तू धूर्त यदि मेरे सामने न होता और तेरा मुँह देखती ही मेरा मान न चला जाता तो क्या मैं कुछ कह नहीं पाती ?

नायकवैसाय अन्य स्त्रो को देखकर मान करने वाला नायिका को चतुराई से मनाते हुए नायक का यह उपकार देरिए-

“ हनूमदोप्राप्ताही पूर्त मानग्रहश्च है सुतनु ।

मूर्च्छिका च तवेयं भी रसमधिकमावहति ॥ ” १

हे सुन्दरि । श्रेष्ठ दासों से चढ़ायी जाने पर माधुर्याग्निशय देती है, नदी प्रवाह सेतु बन्धन भंग होने से अधिक जल रस्ने लसता है, युवा पराजय होने पर खेल का उत्साह बढ़ाता है स्वं तुम्हारा मान तथा जाफे तारा मेरा परित्याग राग को और अधिक बढ़ाता है, तुम्हारी भूलतः वध होने पर प्रसाद की अधिकता ही करती है।

नायिका के मान और नायक के प्रेम की चरम सीमा देखती हो तो उस मानिनी को देखें- जिसे समझाती हुई उसको सती कहती है -

“ कोपाकृष्टभ्रुस्मरशरासने संवृणु प्रिये । फलतः ।

हिन्नज्याममुपा निव कज्जलमग्निनाशृजमबिन्दुन् ॥ ” २

१- वागसिप्तशती -११०

२- ,, १८५

है कोप से नू रूपी काम- धनुष को खींचने वाली । टूटे ज्या रूप मधुपों के सदृश (नरणाँ में गिरे) प्रिय पर पड़ने वाले, कज्जल से मलिन कज्जल बिन्दुओं को रोको ।

नति का एक उदाहरण नीधिर- जिसमें कीर्ति विदग्ध रसिक अपनी रीति छाये मित्र की मानिनी की जानने की सोच देता हुआ करता है -

° केन गिरिशस्य कृत्ता हृदिर्भुजं जटावनेऽर्पयितुम् ।

येन रसिस्त्वकान्ताकरन्किराकर्षणं मुञ्चति ॥ ° १

स्निग्ध को, जटास्पर्शन में, जटाओं की रक्षा के निमित्त, सर्प को धारण करने का परामर्श करने दिया, जिससे रसि वेग से कान्ता से करारा केशों का लीला जाना नष्ट हो गया ।

अनुनय- विनय करने से मानवती के निरन्तर बढ़ते हुए कोप से उपेक्षित नायक की सम्झना तो हुई होती करती है :

° मुञ्चति किं मानवती व्यसरायाद्भिगुणमन्युषेति ।

स्नेहमवः पयसाग्निः सान्त्वेन च रोष उन्निवृत्ति ॥ ° २

मान को दूर करने के लिए किये गये उपायों से उसका कोप वेग दूर हो गया (इसी कारण से) मानिनी की क्यों कहते हो ? स्नेहजन्य (प्रीति-जन्य) कोप अनुनय से और स्नेहजन्य (तेजजन्य) वाग, पानी से और बढ़ती है।

१- वायसिप्तशती १६६

२- .. ४५९

मान साध्य नहीं साधन है। प्रिय की प्रेम-वृत्ति को अपने में केन्द्रित करने के लिए ही तो मान किया जाता है। अतः नायक ने मानिनी के प्रेम की उन्मिष्ट हो प्रतीति की है :

“ हृदयशया गवाणी विसृज्य किमपि कृजितं सन्ना ।
यत्कलहमिन्नतन्पा मयस्मृष्टादिति मां हतनुः ॥ ” १

नायिका का अभिप्राय जानने वाली सखी ने मयभीत बना देने वाला अव्यक्त शब्द झरोखे से किया कि कलह से मिन्न शय्या वाली सुन्दरी मय के बहाणों से भरे निकट आ गयी ।

विरह

न सवर्णां न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः ।
बाला त्वद्विरहापदि जाताप्लुशमाजीव ॥ ” २

उसकी फरस की सी कान्ति नहीं, रूप नहीं, संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृति का परिष्कार) नहीं, न वह स्वभाव ही है। वह बाला जेरे विरह की विपत्ति में अप्लुश भावना सी हो गयी है जिसमें भी सवर्ण-काय, साधुता, प्रकृति प्रयय-निष्पन्न शब्द रूप, प्रातिपदिक आवि का आव होता है।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए- जिसमें विरहिणी की दशा से उसके प्रिय को इस प्रकार अवगत कराया गया है :

‘ सा विन्नाया निशि निशि सुतनुर्बहुतुस्तिशोते तन्मे ।
ज्वरति त्वदीयविरहादोषाधिखि हिमवतः पृष्टे ॥ ’ ३

१- वार्यासप्तशती ६८६

२- .. ३४२

३- .. ६३८

जिसके बर्णों की कान्ति नष्ट हो चुकी है, वह सुन्दरी हिम के समान अत्यन्त शीतल शय्या पर तुम्हारे विरह से (अत्यन्त हिम के कारण शीतल) हिमालय के पृष्ठ प्रदेश पर प्रत्येक रात मर, हाया शून्य बीजाधि के समान जन्ती रहती है।

किन्तु कुछ दिनों बाद विरहिणी की
दशा उसकी सखी से सुनी -

‘ तव विरहं विस्तारितरजनीं जनितेन्नुत्पन्नद्वेषी ।

विसिनीव माष्माणि विना हृताशिन सा दग्धा ॥ ’ १

तेरे विरह में जिसने रात लम्बी कर दी, चन्द्रमा त्वर चन्दन से जिसने द्वेष पैदा कर दिया, माघ मास में कमल्वी की माँति, वह बिना नाग के ही मरम हो गयी ।

प्रास- विप्रलम्भ

किसी कार्यवश प्रियतम के विदेश गये जाने पर हृदय में जो संतापमयी वृत्ति जागरित होती है वह प्रासजन्य विप्रलम्भ है। इसके तीन रूप होते हैं :

- १- प्रियतम के विदेश गपन के समय की बेचैनी
- २- उसके प्रासकाल में ताप की दारुण अनुभूति और
- ३- लौटकर आये हुए प्रिय के दर्शन का अतीसर्बय ।

१- आर्यासप्तशती २५५

वार्तासप्तशती में इन तीनों रूपों का मार्मिक चित्रण मिलता है।

वर्णाकाल में परदेश जाने के लिए तैयार
हुए नायक को रोकने के लिए नायिका की सखी की यह उक्ति सुनिये-

“विन्ध्यमहीधरशिशिर मुदिहीणीकृपाणमयमनिः ।

उपदिशुज्ज्योतिः पथिक्वधार्थेव शातयति ॥” १

विन्ध्याक्षक के शिखर पर, मेघों की पवितरूपी कण्ठाल को, विस्तृत रूप
स्फुरणशील चिनगारी वाला यह फन , पथिकों के वध के लिए ही तीक्ष्ण
हो रहा है।

सखी से याचना करने पर भी जब नायक
आवश्यक कार्यवश जाना ही जाता है तब उसे अपनी मूलकाञ्चीन विरह वेदना
से परिचित कराती हुई नायिकाबद्धी है :

“गत्वा जीवितलेश्यमन्यस्तः सौहृमतिरिरादिरहः ।

तद्वरुण । पुनरपि नित्ससि पुरादुरभ्यासमस्मात् ॥” २

हे अरुण ! पीता की सन्देश में आकर, बहुत सारा मैं विरह सहने का
अभ्यास ही करता, अब फिर उसी सुरत का कठिन अभ्यास मुझ करना चाहते
हैं ।

ऐसा कहती हुई नायिका की बातों से
गिरे बाँसुवों से सँकित हुआ नायक उल्टे कहता है :

१- वार्तासप्तशती ५५६

२- , २०५

‘जलविन्दवः कतिपये नयनाद् गमनीयमे तव स्सन्निताः ।

कान्ते मम गन्तव्या पूरे तैरेव पिच्छिन्निता ॥ १

परे प्रस्थान के समय तैरे नेत्र से कतिपय जो जल की बूँद टपकी उन्हीं से मेरा मार्ग किसलने वाला होगया ।

परदेश जाते समय प्रियताम को सरोवर तक पहुँचाने वाली इस गृहिणी और उसके पति की पारस्परिक वासन्ति तो वैसे-

‘वाच्याकुलं प्राप्तागृहिणी निवर्तस्व कान्त गच्छेति ।

यातं दैवत्योर्दिनमनुगमनावधि चरस्तीरे ॥ २

प्रिय कहता है- गृहिणी, लौट जाओ, किन्तु वह लौटती नहीं और कहती है- कान्त । जाओ, परन्तु वहल जाता नहीं । इस प्रकार बार बार क्लृप्ता एक दूसरे वृथा ही कहते कहते उन दोनों का सारा दिन अनुगमन की सीमा सरोवर के तीरे पर बीत गया ।

परदेश में रहते हुए नायक को नायिका की सेवीभावस्था से प्राप्त हुए सुखों का ध्यान वा जाना स्वाभाविक ही है । यही कारण है कि प्रजासी नायक कभी नायिका के रूप का स्मरण करता है तो कभी रति व्यापार में नायिका द्वारा की गयी श्रेष्ठावृत्तियों का स्मरण करता है। इस प्रकार की मधुर स्मृतियों का चित्रण कौक वाय्यावृत्तों में हुआ है जिससे विदेशस्थ नायक को तीव्र विरहानुभूति नहीं हो पायी है। उदाहरण प्रस्तुत है :

१- वायसिप्ताश्वती २३५

२- ,, ४०६

‘घटितजघनं निपीडितपीनीरु न्यस्तनिस्त्रिभुक्कारम् ।
जाग्निन्त्यपि बाला वदत्यसौ मुञ्च मुञ्चति ॥’ १

जघन सटाकर, मांसिल जंघाओं को दबाकर, सारा स्तन मार हाँकर जाग्निन करती हुई भी वह बाला ‘होडो- होडो’ ऐसा कहती है।

जन्य स्थान पर रतिगृह में नववधू को
संभोगादि की इच्छा से फसने पर उसके द्वारा की गयी चेष्टाओं के स्मृति-
सागर में गीता लगाने वाले इस नायक को देखिये-

‘पतिते शुक्रे स्तवार्पितस्तौ तौ निबिहजघनपिहितोरुम् ।
रदप्यविकल्बितकृत्कृतिशतधुतदीपा मनः स्मरति ॥’ २

वस्त्र गिरने पर स्तनों पर हाथों को रख लिया, समेट कर जंघों से जघन
भाग को कत्यन्त ढक लिया, होठों की विकल सीकड़ों फूकों से जो दीपक
को केवल कम्पित भर कर सकी, उसको मेरा मन स्मरण कर रहा है।

एक जन्य वार्या में सुरत के थकी नायिका
की सुप्तावस्था का स्मरण करता हुआ नायक अपने मित्र से कहता है-

‘वायर्जिताल्लागि स्वासीत्कम्पस्तनापिक्कमुजम् ।
शयनं रतिविवशतनीः स्मरामि शिथिलाशुर्क तस्याः ॥’ ३

जिसने कर्कश संयमित कर ली है, स्वासी से काँपते हुए स्तनों पर एक भुजा
फड़ी थी वीर वस्त्र शिथिल था, इस प्रकार रति से विवश शरीर वाली

१- वार्यासप्तशती २१८

२- .. ३६

३- .. ६३

उसके शयन का मैं स्मरण करता हूँ ।

तत्पश्चात् प्रतापी नायक^१ धीने से उठी
कनसायी दृष्टि वाले नायिका के मुस का स्मरण करता है तो कभी वह
सुरत में उसके रसने , मिथ्याहवन करने कादि की याद करते लगता है।^२
दी वार्यावाँ में नायक के हृदयलपी गज की बाधने वाली नायिका की स्तम्भ
लपी बंधावाँ के स्मरण का भी उल्लेख हुआ है।^३

इस प्रकार विदेशस्थ नायक नायिका के
साथ की गयी रति श्रुतिवाँ का बार बार स्मरण जाने से घर लौटने के
लिए उत्कण्ठित होकर सोन्ने लगा-

“ एकेन पूर्णकुन्तलमपरेण करेण चिबुकमुन्मयम् ।

पश्यामि बाष्पधौतश्रुति नगरद्वारि सखदनम् ॥ ४

मैं एक हाथ से कन्क की, दूसरे से चिबुक की ऊपर उठाता हुआ, नगर
द्वार पर बाधू से धुने कान वाला उसका मुस देखूंगा ।

ऐसा सोचकर प्रतापी नायक घर के लिए
चल पड़ा । मार्ग में भी प्रिया की स्मृतियों में ही डूबा हुआ वह अपनी मन
में कहने लगा -

“ प्राणिना एव कदा मां शिष्यवन्तो मन्थुकम्पितकनका ।

कंसनिगणामुखी सा स्नपयति बाष्पेण मम पृष्ठम् ॥ ” ५

१- वार्यासप्तशती २३६

२- .. ७६, ३२०

३- .. २३०, ५६६

४- .. १४६

५- .. ३६४

प्रणिप म ही मेरा वाञ्छित करती, क्रोध से काँपते हुए हुक्कनवाली, कन्ध पर मुस रत्कर, वह वाँसू से मेरी पीठ को कब भिगा देगी ।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए- जिसमें नायिका की दशा और उसके वाग्म्यदण्ड की कल्पना में ध्यानमग्न पथिक जीवने लगा -

‘ क्वे निवेश्य कूणितपुशः अनैकरुणीति शंसन्त्याः ।

मोदयामि वैष्णवन्धं कदा नैर्गन्धतैलावतैः ॥ १

(वफा) गीद में बैठकर, मुँदी वालीकी और अकरुण । धीरे से (सील) ऐसा कहती हुई (प्रिया का) वैष्णो बन्धन (वफा) हुनन्धित तैल लगे नसी से कब सीलूंगा ।

ऐसा सोचते- सोचते पथिक ने ज्यों ही घर के समीप कमलिनी की नवीन पत्तों से युक्त देसा त्यों ही वह वफा प्रिया के मरने के भ्रम से जिस दि दशा को प्राप्त हुआ उसे उसकी पत्तों वफा सली को बताती हुई कहती है :

‘ स्वसदननिकटे नल्मिमीममिनवजातन्कदा निरीर्ष्यम् ।

हा गृहिणीति प्रपेशिरागतः सति पतिः पतितः ॥ २

हे ससि । वफा सदन के निकट कमलिनी की नवीन पत्तों से युक्त देसकर ही हा गृहिणि । इस प्रकार प्रणाम करता हुआ पति मूर्च्छित हो गया ।

अन्य स्थान पर प्रिया के ध्यान में लगा

१- वायसिप्तस्ती ३६

२- ,, ४७६

नायक द्रुतगति से मार्ग तय करके घर वाया- जिसकी पुष्टि उसकी पत्नी द्वारा कही गयी उक्ति से ही जाती है :

‘ससि व्रणु मम प्रियोऽयं गेहं येनैव वर्त्मनायातः ।

तन्नगग्रामनदीः प्लवति सममागतानन्यान् ॥’ १

हे ससि ! सुनी यह मेरा प्रिय जिस मार्ग से ही घर को वाया, उसी मार्ग में पड़े नगरों, गावों वीर नदियों को अपनी साथ वाये अन्य साथियों से पूछता है ।

वार्यासप्तशती में विदेशस्थ नायक की मनः स्थिति के स्वरूप ही नायिका की मनोव्यथा के भावपूर्ण चित्र कतिपय बड़े वार्याजी में उपलब्ध होते हैं। प्रियतम के परदेश जाने पर उ के घर की दशा उसकी पत्नी से सुनें -

‘सुतातन्तुनिरुद्धदारः शून्यालयः पतप्लवगः ।

पथिके तस्मिन्निवसिष्विमुक्षी रीदितोऽसि ॥’ २

हे ससि ! जिसका द्वार मकड़ों के जालों से आच्छादित है, जहाँ पत्नी उड़ रही है, ऐसा सुना घर उसके विदेश चले जाने पर मानों वस्त्र से मुस दक कर रो रहा है।

प्रियतम के परदेश से जाने की ख़ाधि के निकट हो कदाचित् विरहिणी अपनी फटकी हुई बायी भुजा का सत्कार करती नजर आती है :

१- वार्यासप्तशती ५६५

२- .. ५०६

° प्रणमति पश्यति बुभुक्षति संश्लिष्यति पुष्कमुकुन्तिरिति ।

प्रियसंगाय स्फुरितां वियोगिनी वामबाहुन्ताम् ॥ ° १

प्रिय संगम के लिए फड़कती हुई बायीं भुजा को विरहिणी प्रणाम करती है, देखती है, झाँती है, रोमान्ति जों से उसका आश्लिष्य करती है ।

प्राप्त हो जीटे पति को अपनी बुभुक्षता से ज्वलत कराने के लिए कीर्तों को दो गयी बलि का प्राप्त हो ही सुन्दर दृग् से निमित्त किया गया है :

° वीर्यं गेति पथिकः पीवरबहुवायसं निजावाहम् ।

लीन्दर्यं निधिरपि वक्रियायाश्चरितमविनश्वितम् ॥ ° २

पथिक अनेक रूढ़ कीर्तों वाले अपने घर को देखकर ही, सशक्त लीन्दर्य-शालिनी भी प्रिया का आचरण अनुगुण है, ऐसा जान लेता है।

घर आते ही पति का पत्नी से जिस प्रकार उत्कार किया उसका वैसा ही वर्णन नायक से सुनिर :

° व्यालम्बमानवेणीभूतहृदि प्रथमम् मिथितम् ।

वायातस्य फल मम गेहिन्या तदनु सल्लिख ॥ ° ३

घर जाने पर गृहिणी ने वागे की जोर लटकती हुई वेणी के चरणों की धूल पीछकर पहले उन्हें वासुकों से धोया, बाद में जल से ।

इस प्रकार निरकाल पश्चात् मिले प्रियतम

१- वायासिपाशतो ३४७

२- .. ५३९

३- .. ५६०

के प्रति उसकी फनी की वासवित का बढ़ना स्वाभाविक ही है। इस सम्बन्ध में यह आर्या उल्लेखनीय है :

प्रतिवेशिमित्रजन्तुषु दूरात्कृच्छ्रागतोऽपि गेहिन्या ।
अतिक्षिप्त्वा तया दिनमेकमगोपि गेहपतिः ॥ १

गृहिणी ने , दूर से कठिनाई से आये भी गृहस्वामी को अत्यन्त ही वासवित से एक दिन तक फड़ोसियों, मित्रों और बन्धुओं से हिमा किया ।

काव्यशास्त्रियों ने विप्रलम्भ के प्रसूत वस
ज्वारियों के आधार पर वियोग की जो वस त्वत्कार्य बताये हैं। उनमें से
अनेक के मार्मिक उदाहरण आर्यासप्तशती में उपलब्ध हैं ।

अमिलाना

अकुरुणा कातरमनसो दर्शितनोरा निरन्तराज्यम् ।
त्वामनु धावति विमुक्तं गंगैव भगोऽर्थं दृष्टि ॥ २

हे अकुरुणा । कातर मन वाली की लक्ष्मि गिराती अविविक्त्त यह दृष्टि
मुड़कर न देखी वाले भगोऽर्थ के छोड़े गंगा के समान दौड़ रही है।

व्याधि

त्वदिच्छापदि पाप्मस्तत्त्वद्गी शायकैव केवल्या ।
हंसोऽप्योत्सनाया सा सुभग प्रत्यभिज्ञया ॥ ३

१- आर्यासप्तशती ४०१

२- .. ३४

३- .. २५१

हे सुमन । वह दुर्बल शरीरवाली तुम्हारे विरह रूप बाण में (स्तनी) पीली हो गयी है कि जिनमें मैं इसी के समान केवल शायद से हो पहि-चानी जा सकती है।

चिन्ता

‘ दृष्टयैव विरहकातरताख्या प्रियमुत्तमप्रिया ।

यान्ति पुणवल्म्बायाः पुच्छिन्दवाणा दिताः प्राणाः ॥ १

मृग की प्रिया के व्याध- बाण से पीड़ित प्राण, विरह- मग से कातर फूटती वाली, प्रिय (मृग) के मुख पर गदायी गयी दृष्टि से ही जा रहे हैं।

गुणकथन

‘ उत्तरं मयूरी निष्कं वड्डी वृत्तं कलाधरो दयिताः ।

स तु वैद न द्वितीयामकम्कः प्रतिपदिन्दुरिष ॥ २

वह सुन्दर (मेरा) प्रिय वड्डी कित्ति कुशल, कामकला विज है, यह सत्य एवं निश्चित है किन्तु अपवादशून्य द्वितीय तरुणी को वेते ही नहीं जानता जैसे कि - सुन्दर, वड्डी, कलाधर निष्कम्क प्रतिपदिन्दु द्वितीया तिथि को नहीं जानता ।

स्मृति

स्नातन्तु निरुद्धदारः शून्यान्वः पतपतगः ।

पथिके तस्मिन्त्रज्जलपिहितमुत्ती रोदितोव सति ॥ ३

१- वार्तापशती २३

२- .. ६९

३- .. ५०६

है सखि । जिसका द्वार भक्ती के गानों से आन्धरा दित है, जहां पानों उड़ रहे हैं, ऐसा सुना घर , उसके विदेश बने जाने पर पानों वस्त्र से मुस डाल कर बी रहा है।

उद्ग

जनार्णतिशय ये प्रसूत स्रम जन मेष्टाओं
द्वारा अभिव्यक्त होता है तो वह उद्ग उद्गता है :

‘ भ्रमरीविकीर्णगर्भं गन्धकृता कुसुममनुसरन्ती त्वाम् ।

वाय्वन्तं धूयन्ती केतं तमसि सा भ्रमति ॥ १

गन्ध से बर्धन कर ली गयी कुसुम का अनुसरण करती , कीर्ण गर्भ में भ्रमरी के सनान, तुम्हें खोजती , वाय्वन्त धूयती वह कीर में सदैव तथा में एवर उधर घूमती है।

उन्नाद

गायति गीति शंसति वशी वादयति सा विफलोष् ।

पाठयति फेरशुकास्तिव सेवादाचारं वाचा ॥ २

तेरे सेवाद का वदार्, वह वाचा गीति में गाती है, वशी में सुनरित करती है, वीणाओं पर बजाती है, फेरशा शुका को पढ़ाती है।

सन्मयता

‘ नानावर्णिकरूपं प्रकल्पयन्ती मनोहरं जन्ती ।

चित्रकरतुल्यैव त्वां सा प्रतिभित्ति भावयति ॥ ३

१- वार्यासप्तशती ४२३

२- ,, २११

३- ,, ३७७

प्रत्येक दीवार पर नाना रंगों से रूपान् मनोहर चित्रों को बनाते हुए
चित्रकार को तुलिका के समान वह कृशार्णो तुम्हारा ही ज्ञान करते हैं।

प्रणाम

प्रियहृन्मैत्र हृदय स्फुटसि यदि स्फुटनमपिप्रवर्त्ताज्यम् ।
तत्कै तिसमस्तत्पोकृतस्य वसनचित्रस्यैव ॥ १

हे हृदय । प्रिय के हृदयस्थित से यदि फट जाते हो, तो तुम्हारा फटना
भी उसके कैलि संग्राम में बिखीना बनाये गये वस्त्राञ्जल के समान प्रशंसनीय है।

मरण

काव्यशास्त्रियों के अनुसार मरण वर्णन
अमंगल होने से अश्लीलत्व दोष का कारण होता है। अतः कवि लोग
मरण का० सीधा वर्णन नहीं करते वरन् प्रारम्भिक प्रारम्भिक से उसका समावेश
करते हैं। बाणसप्तशती ने इस मान्यता का पावन किया है :

“ रोदनमितद्वर्त्य ससि किं बहु मृत्युरपि ममानघः ।
स्वप्नेनैव हि विवित्ति नयनमनोहारिणा तेन ॥ ” २

हे ससि । नयन वीर मन को अधीन करने वाले स्वप्न के समान उसके द्वारा
किया गया मेरा यह रोदन सर्वोत्कृष्ट है, अधिक बया कहूँ (मेरा) मरण
भी समीचीन है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि बाणाय

१-बाणसप्तशती ५०१

२- .. ५०१

गौतार्धन के काव्य में शृंगार- इस अपने सूक्ष्म अंग प्रत्येक के साथ चित्रित हुआ है। कवि मूल प्रवृत्ति- निमित्त वहीं है। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों और काव्यशास्त्रीय रुढ़ियों का भी उसमें पालन हुआ है। कवि को नीकिल रूप-रूप के कारण वे चित्रण तत्कालीन समाज के संघर्ष वर्ग के विनाशो जीवन का सजीव रूपायन करने में निरतान्त उद्योग हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है कि शृंगार के लक्षित-रिक्त अन्य इस भी जायासप्तशती में समाविष्ट दिने को है और वे प्रधान इस के रूप में प्रायः नहीं हैं। शृंगार के अंग बनकर जाते हैं। उदाहरण नीचे-

हास्य

‘ केचिन्नित्यं ससीमिव नयति नवीढा स्वयं न मां मज्जे ।
हृत्थं गृहिणीमर्थं स्तुवति प्रतिवेशिना हसितम् ॥ ’ १

सखी के समान नवीढा को झीझा ग्रह में फँसती है और स्वयं मेरा सेवन नहीं करती- इस प्रकार वैश्य द्वारा गृहिणी की प्रशंसा होने पर फूँसी इस पद्य ।

यहाँ नायक अपनी जगह फनी के फूँसी के प्रति प्रवृत्त प्रेम से अभिज्ञ है, जिसके कारण प्रतिवेशी उसके बुद्धि पर हँस रहा है। यह मुस्कान कारक रूप से गहरी है और शृंगार का संचारी - मात्र है।

दन्ति फलाण्डुषि वृषभं परिभवति गृहफती क्षुप्ति ।

निमुत निभा न्तिवदनी हन्तिवधूदेवरी हस्तः ॥ २

१- जायासप्तशती १५०

२- . . . ३०२

पुत्राच का दे तितर बितर होने पर गृहस्वामी क्षुब्ध होकर बैल को पीटने लगा, (यह देखकर) लम्बिकवधू और देवर एक दूसरे का गुप्त रीति से मुस देखकर हँसने लगे ।

राँद्र

“ चफम्बुजगीमुक्तीज्जित । शीतलगन्धवह । निशिप्रान्त ॥
अपराधां पुरयिषु प्रत्युपलदागते । गच्छ ॥ ” १

चफम सर्पिणियों द्वारा पान करके त्यागा गया । शीतल गन्ध वहन करने वाला । रात में प्रमणालीन । निरन्तर प्रातःकाल जाने वाले । (वह तु) दूसरी की वाशा पूरी करने के लिए जा ।

यहाँ शिल्पा द्वारा वाए की मूर्त्तिना के नाट्यम से नायिका नायक को गानियाँ देती हुई अपना राँद्र रूप व्यक्त करती है। यह वाए संयोगानस्थान में सुष रंजित करती है किन्तु लज्जिता के लिए तो वह विपरीत भाव का ही उदीप्त है। अतः उसके कौप की गहनता और भी बढ़ जाती है।

बीर

“ विविधासुखणार्तुष विषमवशाः स्यन्ति प्रियतमस्य ।
श्रीरपि बीरवधूरपि गर्वात्पुष्का सुतं स्वपिति ॥ ” २

नाना प्रकार के वायुधों के धावों के मर जाने से तज्जन्य मांस ग्रंथियों से कठोर

१- वायसिप्तशती २२३

२- .. ५१८

प्रियस्य के वदास्थल पर गर्व से रोमांचित होकर लक्ष्मी और वरपत्नी धूल से सीती हैं ।

प्रिय वरः शयन की उपर्युक्त स्थिति में शत्रुघ्न व्रण कादि वीर एवं दीर्घीय तत्त्व विशेषण के रूप में ही स्थित है। वर यहाँ प्रत्यक्षतः वर्तमान में शृंगार का ही झीड़ा स्थल है जिसे वीर तत्त्वों के समावेश से पोषण हो मिला है।

वात्सल्य और शृंगार

वात्सल्य और शृंगार की भी यह संसृष्टि देखने लायक है :

“ हर्षतृहिर्णां जनने करुणाद्रां प्रियतमै च रागमयो ।

मुग्धा स्तामियोगं न मन्यते न प्रतिदिपति ॥ १

दखिकापिनी मुग्धा पर करुणा रखती है और हृषर पति के प्रति भी वर-राग रखती है। इस प्रकार किंकर्तव्यविमूढ़ एवं योजना की न स्वीकार करती है और न स्वकीकार करती है।

वदभुत , वीमल , मयानक , करुणा

“ प्रेतैः प्रशस्तसत्त्वा साह वृकेर्विदितास्तन्मृगाः ॥

दुम्बति मृतस्य वदनं भूतमुखीके पितं बाला ॥ २

प्रेतों द्वारा जिसके सामर्थ्य की प्रशंसा की गयी, मिरते हुए ग्रास वाले भेड़िये

१- वायसिप्तशती २६६

२- .. ३६५

ने जिसे आँसों में आँसू भरकर देखा, वह जाना, मृतों के मुँह के मसाले के प्रकाश में दिखायी देते मृत-प्रिय के मुँह की झुमकी है।

इस प्रकार भावबल के निष्पन्न के अतिरिक्त लोक जीवन के व्यापक अनुभव से अर्जित व्यक्ति अमाहित सामान्य ज्ञान विषय-युक्त उक्तियाँ भी आर्यासप्तशती में प्रारंभ मात्रा में उपलब्ध होती हैं।

अन्य विषय

सांसारिक अनुभवों पर आधारित कथनों में सज्जन-प्रशंसा विषयक उक्तियाँ प्रायः सबसे अधिक हैं। सत्पुरुष की किसी पर शोध नहीं जाता। अगर यह कृपित ही मीजाता है तो इसके सामने किसी की भी दृष्टि नहीं उठ सकती। वह दृष्ट के साथ रहने पर भी अपने उत्कृष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ता है। सज्जन विपत्तिग्रस्त को वस्त्र, अन्नादि अपनी सामर्थ्यानुसार देता है और अपनी अपकारियों को भी शरण प्रदान करता है। वह जिन कार्यों को अंगीकार करता है, उन्हें पूरा करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। संसार में अकार, पृथ्वी समुद्र क्रमशः विशाल, विस्तृत गम्भीर हैं, किन्तु विचार करने पर वे सभी उसके सामने अयोग्य प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि उस पर महापुरुष

१- आर्यासप्तशती २-२

२- .. २७६

३- .. ४८६, ५३२

४- .. ४८४

५- .. ६१७

६- .. ५४६

भी विश्वास करते हैं^१ एक स्थान पर उसका प्रतिष्ठापूर्ण लौकिक जीवन भी उत्तम माना गया है^२ तो अन्य स्थान पर उसके विरथायी जीवन की कामना भी की गयी है।^३

सज्जन प्रसीसा के समान ही दुर्जन निन्दा भी आर्याकार की कृति का विषय रहा है। दुष्ट व्यक्ति के कटुवचन कान पर भिनभिनाते मन्त्र के समान कष्टकारी लगते हैं। उसका जलज्वन लेकर आरम्भ किये गये कार्य का परिणाम भी अनर्थकारी होता है।^४ सब दूसरों के दोषों की ही ग्रहण नहीं करता है^५ अपितु उनकी निन्दा भी करता है। उनके धर्मातिशय में भी दूसरों की हिसा मुत्स्य प्रयोजन होता है।^६ एक स्थान पर उसे उच्च फल पर आनन्द न करने की शिक्षा दी गयी है,^७ क्योंकि उसके उत्कर्ष चीज दुःखी ही रहते हैं।^८ यदि देववश कभी उसका महत्त्व दिखाने भी देता है तो वह कौनों की स्वेतता के समान जन्दी ही अनर्थकारी होता

१- आर्यासंस्कृतो ४५३

२- .. ३९

३- .. ६७६

४- .. ५६

५- .. ६२

६- .. ४०७

७- .. १६६

८- .. ३०७

९- .. ६९

१०- .. ६६८

- है।^१ उसकी संगति से धनवान हुए व्यक्ति का विनाश होना भी निश्चित है।^२
है। दुष्ट द्वारा किया गया दान उसके मद की वीर भी बढ़ाता है।^३

दुर्जन निन्दा के समान ही एक वार्या में
दुष्ट की निन्दा करता हुआ कवि कहता है :

दुष्टग्रहेण गृहिणि तेन कुप्टेण किं प्रजातेन ।

मीमेनेव निर्जं कुलमङ्गारकवत्कृतं तेन ॥ ४

हे गृहिणि । दुष्टग्रह (बुरे वाग्रह वाला) उत्पन्न कुप्ट (१- कुत्सित
पुत्र २- पृथ्वी पुत्र) से कुछ भी फल नहीं होता । जिसने मंगल की भाँति
वफे कुल की अंगारकवत् (१- अंगारे वाला अर्थात् मरमोमृत, नष्ट, २-
अंगारक नाम वाला) कर दिया ।

आदर्श मित्र के गुणों का ख्याप्त करता
हुआ वार्याकार कहता है कि ऐसे व्यक्ति से मित्रता करनी चाहिए जो
आपत्ति में भी देशकाल आदि की सोचा छोड़ कर साथ में और सदा प्रकाश
से जाने रत्नप्रदीप के समान ब खुलने वाला हो । सच्ची मित्रता वही है
जो सन्नों के प्रयास करने पर भी विघटित न हो सके तथा जो सुख- दुःख
आदि सभी अवस्थाओं में समान रहे ।

१- वार्यासप्तशती ४६७

२- .. ४७५

३- .. ६६३

४- .. २६३

५- .. ३१७

६- .. ४६८

७- .. १६३

हुष्टों की मंत्री ग्रीष्मकालीन दिन के समान
 आरम्भ में मधुर, मध्य में युवावस्था की भाँति मादक तथा अन्त में सन्ताप-
 कारी होती है। इनके सम्पर्क से सत्पुरुष वैदिक ही कृटि^१ बन जाता है जैसे
 काव्य का रस विजातीय कुन्दों के जाने से समाप्त हो जाता है। यही कारण^२
 है कि महापुरुष को उनका सम्पर्क झट् झट् देने की शिक्षा दी गयी है।

वायुद्वय बुरी बला है। यह सब प्रकार के
 दोषों का मूल है। इस कथन की पुष्टि में उक्ति ही कहा गया है कि सम्पत्ति^३
 से मनुष्य में गुण जाते हैं और वायुद्वय गुणों को दूर करता है। एक स्थान
 पर सम्पत्तिज्ञानियों के दोष भी गुण माने गये हैं तो अन्य स्थान पर वि-
 त्तस्था से तिरस्कृत गुणी दष्टि के पश्चात्ताप करने का उल्लेख हुआ है।
 परिस्थितिवश मित्र भी उसकी सहायता नहीं करते हैं।^४ किन्तु वह दष्टि
 होने पर भी अपनी सामर्थ्यानुसार परोपकार करी में बना रहता है।^५

वायसिप्तशती में कर्म के प्रति आस्था
 प्रकट की गयी है और कहा गया है कि कार्य को शीघ्र विचारकर करने के
 साथ साथ उसमें जन्मजातों नहीं करने चाहिए नहीं तो वह कार्य विनता

१- वायसिप्तशती ६१८

२- .. ६७४

३- .. ५०५

४- .. ५१८

५- .. ४६३, ५८४

६- .. २७२

७- .. १७२, ४८६

८- .. ६६६

के पुत्र वरुण के समान कूरा कूरा हो रह जाता है।^१ कार्य करने में दीर्घ-
 क्षी भी नहीं होना चाहिए और उसके गुणों - अवगुणों की चिन्ता में
 देर तक उत्सन्न नहीं चाहिए।^२ दो कार्यावली में फट के लिए छ्दर उधर
 हाथ फैलाने वालों को फटकार कर उन्हें पुनः कार्य करने के लिए प्रेरित
 किया गया है^३ तो अन्य स्थान पर दक्षिणों को वस्त्र, वस्त्रादि देने वाले
 व्यक्ति का प्रसिद्धात्मक उत्प्रेषण हुआ है।^४

भाग्यवादिता से संबद्ध दो कार्यावली हैं ।

एक में सम्पन्न कृषा दक्षिण परिवार में जन्म लेना भाग्य के कथन माना
 गया है^५ और दूसरीमें लक्ष्मी की स्थिरता भी भाग्य के कथन ही मानी
 गयी है।^६

काल की अबाध एवं निरंकुश गति के सामने
 किसी की कृष् नहीं चलती । यही कारण है कि कालजनित परिवर्तन से
 महापुरुष भी होन दृष्टि से देखा जाता है :

‘ ते दृष्टिनः अब संप्रति शक्रव्रज येः कृतस्तवोन्मृशयः ।

हंशा वा भटि वाऽधुनातनास्त्वा विधित्सन्ति ॥ ’ ७

हे इन्द्रव्रज । जिन्होंने तुमसे ऊँचा उठाया था इस समय वे सेठ कहाँ हैं ?

१- कार्यावलीशती ६६६

२- .. ६७०

३- .. १४५ , ४११

४- .. ६७६

५- .. ६

६- .. ११६

७- .. २६६

वाञ्छित के लोग तो उन्हें हम की हरिष कथा सम्पादना चाहते हैं।

काल ही क्यों अपनी कर्म से भी तो बड़े से बड़ा व्यक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाता है। जिसे बाद के गौरव से भी दूर नहीं किया जा सकता है :

‘ अग्रे लक्ष्मि पश्चान्महतापि पिधीयते नहि महिम्ना ।

वामन इति त्रिविक्रममभिधत्ति दत्तावतारविदः ॥ ९

पहले की लक्ष्मी बाद के गौरव से नहीं छिपायी जा सकती (हरि के) दश अवतारों के जानकार त्रिविक्रम की वामन कहते हैं।

निःसन्देह कृष्ण वार्यालों में नीति और तथ्य कथन बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं। अन्य उदाहरण नीजिए-

‘ नीता स्वभावमस्तिवपुरपि वाप्ययं न कामिनी त्यजति ।

हरदेहार्थग्रथिता निदर्शनं पार्वती तत्र ॥ २

स्वात्म्य भाव से अपनी समान कर ली शयी भी अपना शरीर भी जित दे दिया गया फिर भी स्त्री अपनी वामता को नहीं छोड़ती है। उक्त बात में शिव के अधि शरीर में संबद्ध पार्वती प्रमाण है।

लोक में प्रायः यह देखा जाता है कि सोधि लोचि लोगों की अपेक्षा दुष्टों का अधिक वाद किया जाता है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति इन्द्र शास्त्र की लघु और बड़ रत्नाओं द्वारा इस प्रकार की गयी है :

१- वार्यासप्तशती ६०

२- .. ३११

‘ यथाजीवेन लघुता गरिमार्णं यद् वदन्ता तनुते ।

हन्वःशास्त्रमिवास्मिन्लीके सरलः सते किमसि ॥ १

जैसे हन्वशास्त्र में सरल रेखा (।) लघु और वक्र रेखा () गुरु का बोध कराती है उसी प्रकार इस संसार में सरल होने से लघुता और वक्र होने से गुरुता की वृद्धि होती है । अतः हे सते । तुम सरल क्यों बनते हो ?

महापुरुषों के सामने अपना प्रताप प्रदर्शित करने वाले लघु व्यक्तियों को चेतावनी देते हुए कहा गया है :

‘ दीप्यन्ता ये दीप्ये घटिता मणयश्च वीर पुरुषाश्च ।

तेजः स्वविनाशाय तु गुणा गुणानामिव लघुनाम ॥ २

मणियाँ और वीर पुरुष जिन्हें विधाता ने दीप्ति (चमक और तेज) के लिए ही बनाया है अपनी चमक और तेज दिसायेँ । यदि गुण के समान तुच्छ व्यक्ति भी अपना (लघु) तेज दिसाते हैं तो वह उनके विनाश के लिए होता है।

कमो कमो लघुता भी गौरव का कारण बन जाती है। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक उद्गम प्रमाण हैं :

‘ स्वल्पा इति राम बलैर्य न्यस्ता नाशये फ्योराशः ।

ते शैलाः स्थितिमन्तो हन्त लघिम्नैव बहुमानः ॥ ३

वाश्चर्य है । लघुता से अत्यन्त गौरव प्राप्त हो जाता है जिन्हें शीटा

१- वायसिस्तुती ४८६

२- .. ३०३

३- .. ६३९

समझकर राम के सैनिकों ने समुद्र में नहीं डाला वे ही फलतः पुण्यी पर स्थित रहे अर्थात् उन्हें ही महत्परिमाणशाली होने का गौरव प्राप्त हुआ ।

परिवारगत व्यक्तियों की संख्या से अधिक द्रव्यार्जन करने वाले को वन्योक्ति के माध्यम से इस प्रकार फटकारा गया है :

‘ शिरसा वहसि कर्षं रुद्र रुदित्वापि रजतमर्जयसि ।
वस्याप्युदरस्यार्धं भक्तस्तव वेत्ति कस्तत्त्वम् ॥ १

हे रुद्र ! बाधा पेट ही तुम्हारे है तथापि (तुम इस प्रकार द्रव्यार्जन करते हो) कर्ष (१- जटाजूट २- कौड़ी) सिर पर रखी हो, रौंकर भी चाँदी का अर्जन करते हो ।

दुष्टों पर विजय पाने के लिए बताया गयी युक्ति सीखने लायक है :

‘ प्लिजः स्रु सुजनानां सन्निव पुरो विधाय जेतव्यः ।
कृत्वा ज्वरमात्मीयं जिगाय बाष्पं रणे विष्णु ॥ २

यदि सज्जनों को दुष्ट जीतना है तो निश्चय ही स्रु को आगे करके जीते । विष्णु ने ज्वर को आत्मीय बनाकर रण में बाष्पासुर को जीता ।

भक्ति विनायक उक्तियाँ

नीति कथन एवं सूक्तियों के अतिरिक्त

१- वार्यासप्तशती ५८१

२- .. ३६६

शुद्ध उक्तियाँ भी मिलती हैं। इन्हें निश्चित रूप से साधनापरक तो नहीं कहा जा सकता फिर भी देव विशेष के प्रति नमस्कार तथा लीलाओं का वर्णन इसका विषय है। शुद्ध भक्तिपरक दो आर्याद्वे ही मिलते हैं जिनमें विष्णु के प्रति ही आस्था प्रकटकी गयी है।

‘ रोमावन्नीमुरारेः श्रीवत्सनिष्ठाविताग्रभागा वः ।

उन्नाम्नामिनस्त्रिन्शद्विषोत्तामपहरत् ॥ १

विष्णु की रोमावन्नी जिसका अग्र भाग भृगु के नरुण चिह्न से युक्त है, क्लृप्त जिसकी डंडी ऊपर की है उस नाभिकमल की मानों लाया है वह तप सभी के महासन्ताप को दूर करे ।

शिव तथा ब्रह्मा की उत्सर्गता प्रकट होने पर समुद्र के जल से व्याप्त पृथ्वीका उद्धार करने वाले भगवान् विष्णु की उदारता का उल्लेख करता हुआ आर्याकार कहता है :

‘ विमुले चतुर्मुलेऽपि त्रितवति त्रान्नीशभावमीशिऽपि ।

मग्नमहीनिस्तारि हरिः परं त्वद्व्यरोमाभूत् ॥ २

समुद्र निमग्न पृथ्वी का उद्धार करने के विषय में जब विप्राता ने उद्योग करना वनीकार नहीं किया, ईश (शिव) ने भी वनीश (उत्सर्ग) भाव को अपना लिया , तब विष्णु ने वराह रूप धारण किया और वे (धरोद्धारोत्साहवत्) रोमांचित हो उठे ।

शिव पार्वती का आर्यासप्तशती की प्रथम

१- आर्यासप्तशती-ग्रन्थारम्भप्रज्ञा १४

३- .. ५३२

नी कार्यावाँ में क्रमानुसार स्तुति है^१। तत्पश्चात् विष्णु^२, हयग्रीव^३, महावराह^४, शेष^५, पार्वती^६, लक्ष्मी^७, ब्रह्मा^८, गणेश^९, देवी देवताओं की मन्त्रित क्रमानुसार स्तुति की गयी है। वस्तुतः ये सभी कार्यावँ देव-विरोध के प्रति नमस्कारात्मक होते हुए भी शुद्ध भक्तिपरक नहीं कही जा सकती, क्योंकि इनमें शृंगार का पुट भी मिलता है।

राधाकृष्ण की प्रेम विषयक उक्तियाँ भी कार्यावँ-शतों में मिलती हैं, परन्तु इसमें भी भक्ति विषयक प्रेम पर कोई स्पष्ट कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता, फिर भी राधाकृष्ण के प्रेम वर्णन का यह प्रायः प्राचीन साहित्यिक उदाहरण कहा जा सकता है जो उत्तरवर्ती कवियों की स्तुतिपरक भक्ति एवं शृंगारपरक उक्तियों का पूर्ण लक्ष्य कहा जाना चाहिये। कम से कम रीतिकालीन शृंगारी कवियों में मन्त्रित विषयक जो उक्तियाँ पाई जाती हैं, उनसे इन उक्तियों का सीधा सम्बन्ध प्रतीत होता ही है।

राजप्रशस्ति

राजप्रशस्ति के सम्बन्ध केवल एक ही कार्या

१-	कार्यावँ-शतों- श्रव्या रम्भज्या	१ से ६ तक
२-	..	१० से १४ तक
३-	..	१५
४-	..	१६
५-	..	१७
६-	..	१८ से २० तक
७-	..	२२ से २४ तक
८-	..	२६
९-	..	२७ से २८ तक

है जिसमें लक्ष्मणसेन का प्रशंसात्मक उल्लेख इस प्रकार हुआ है :

‘सकलकलाः कल्पयिषु प्रभुः प्रबन्धस्य क्षुण्णबन्धीनः ।

सेनकुलतिष्कभूपतिरेको राजाप्रदीपमानः ॥’ १

प्रबन्ध तथा सन्दर्भा को (क्रमशः नीसठ तथा सीलह) कलावी को करने
कथवा दिसाने में सेनकुलतिष्क भूपति (लक्ष्मणसेन) तथा पार्णमासी का
सन्ध्याकाल ही समर्थ है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शृंगा-
रिक ग्रन्थ होने पर भी वार्तासप्तशती में नीति, भक्ति, विषयक
उक्तियाँ और राजप्रशस्ति विषयक उक्तियाँ आयी हैं। संस्था को दृष्टि
से शृंगार के पश्चात् क्रम से नीति, भक्ति और राजप्रशस्ति विषयक उक्तियाँ
रखी जायेगी। नीति विषयक उक्तियों की संस्था प्राप्त है। इस प्रकार
सप्तशती के आकार- प्रकार गठन एवं वर्णन- विषय को तुलना इसकी उत्तर-
वर्ती अन्य सप्तशतियों से सहज ही की जा सकती है और यह बात एक दम
स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत को पश्चात् वार्तासप्तशती और रीतिकान्ति
हिन्दी सप्तशतियों की रचना का आदर्श वायासप्तशती के समान गोवर्धनाचार्य
की वार्तासप्तशती भी रही है। सभी में शृंगार इस की प्रधानता है। नीति,
भक्ति, राजप्रशस्ति सज्जन प्रशंसा, दर्शन निन्दन आदि भी सभी में मिलती
है। हाँ, हिन्दी सप्तशतियों में भक्ति विषयक उक्तियों की संस्था अपेक्षाकृत
अधिक है। यही बात राजप्रशस्ति परक उक्तियों के सम्बन्ध में भी कही जा
सकती है।

...

१- वार्तासप्तशती ग्रन्थारम्भग्रन्था ३६

तृतीय अध्याय

समाज और संस्कृति

वार्यासप्तशती में तत्कालीन नागरिक एवं ग्रामीण दोनों ही प्रकार के जीवन का चित्रण हुआ है। यातायात, व्यापारिक, सामाजिक सुसुजाता जाति की दृष्टि से नगर नदियों के किनारे अवस्थित थे। प्रयाग, मथुरा, हस्तिनापुर आदि तत्कालीन प्रमुख नगर थे। नगर निवेश की अपनी एक विकसित तकनीक थी। प्रवेश द्वार पर एक फाटक होता था। जिसके अन्दर गलियाँ चौड़ी होती थी। नगरों में प्रासाद थे और उनके शिखरों पर फलाकार छत लगाने की प्रथा थी। प्रासादों के द्वार पर सिंह तथा दीवारों पर चित्र बने होते थे। इनमें स्नान और शीतल वायु के लिए बने फरोसे तथा सिद्धकियों का उल्लेख अनेक वार्याजों में हुआ

१- वार्यासप्तशती ५६५

२- .. ५४८

३- .. २८६

४- .. २८६

५- .. १४६

६- .. २३६

७- .. ७६

८- .. ५२४

९- .. ५७५

१०- .. २६६ , ५१२ , ६८६

११- .. ६०५, ६२८

है। उनके अन्दर एक विस्तृत वागिन होता था^१। जीर्ण-शीर्ण प्रासाद प्रेमियों के सीमांग स्थान बने हुए थे^२। एक कार्या में नगर में दुर्ग पाये जाने का उत्प्रेषण हुआ है।

सप्तशतीकाचीन समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित था। ब्राह्मणों की जादर की दृष्टि से देखा जाता था। दात्रिय वीर होते थे तथा उनकी वीरता पर उनकी पत्नियाँ की गर्व था^४। वैश्य व्यापार करते थे तथा व्यापार के लिए उन्हें कभी कभी परदेश भी जाना पड़ता था^५। वर्णाश्रु में कीमद्वादि के कारण वावागमन की अनुमिधा से उनका व्यापार अवरुद्ध हो जाता था जिससे व्यापारियों की परिस्थिति-वश पर ताना पड़ता था। यही कारण है कि वर्णाश्रु को समीप आती जानकर उनकी पत्नियाँ हर्षित हो उठती थी, वे जानती थी कि उनके पति अब निश्चित ही नीट जायेंगे^७।

जो लोग वैधक का कार्य करते थे वे रोगों के उपचार के लिए रोगियों के घरों पर भी जाते थे। सेट-सेठानी का

१-	कार्यासप्तशती	३५२
२-	..	५६७
३-	..	३५६
४-	..	५१८
५-	..	३६, १४६, २२५, ४०६
६-	..	५६०, ५६५, ६६८, ६६०
७-	..	६४
८-	..	६७, २४०, ४६२, ६४७

बर्णन दो कार्यावाँ में हुआ है जिससे आभास होता है कि इनका कार्य व्याज- दर पर रुपया देने का था क्योंकि इस बात की पुष्टि निधन वर्ग की समस्यावाँ से ही जाती है।^२ निधन व्यक्तियों की पत्नियों की सम्पन्न व्यक्तियों की पत्नियों की वपेक्षा अपने पत्नियोंकी सम्पत्तिता पर अधिक गर्त था।^३ रासायनिक तपती कला से मिथ्या निर्मित सोना बेतकर सीधे साधे नागरिकों को ठगते थे।^४ चित्रकार भित्तियों पर चित्र बनाने का कार्य करते थे।^५ रेशमी वस्त्र- बुनने वाले फैक्टर भी थे। एक कार्या में घिरे हुए वर्तनों को रागकर उन्हें मोम से जोड़ देने का उत्प्रेस हुआ है।^७

बाजारी में क्रय- विप्रय करी समय वस्तु जिस तराजू से जौली जाती थी उसे "पर्यट" कहा जाता था।^८ इसी तराजू में गुजाफलों को रखकर पुवर्ण को तोलते थे। एक तीर मिथुन तीर

१- आर्यासप्तशती १५०, ४०५

२- .. १४५ , १६४ , ५०५

३- .. ३१८

४- .. १६०

५- .. ३४५ , ५७५

६- .. ६ , ५८६

७- .. २७०

८- .. ५४५

९- .. २०८

उनकी पत्नियाँ परिस्थितिवश भिक्षा माग कर जीवन व्यतीत करते थे^१,
तो दूसरी वीर उच्छृंखल लोग भिक्षुक वेश धारण करके स्त्रियों को जंगल में
फाँसने का प्रयत्न करते थे^२। ऐसे भिक्षुकों के कारण ही देवालय भी
व्यभिचार के लुहरे बन गये।^३

मनोरंजन की दृष्टि से नागरिकों ने
वेश्याओं को सबसे अधिक महत्त्व दिया था क्योंकि वे उनकी नृत्य, संगीत
आदि से आनन्दित करती थीं। यही कारण है कि वेश्याएँ पुरुषों के लोगों^४
का परम सर्वस्व होती थीं। इसके अतिरिक्त संगीत^५, वीणा^६, जलविहार,
नौका-विहार^७, चतुरंग का खेल^८, घृत क्रीड़ा^९, हाँपों का खेल^{१०}, नट-
नाटिका^{११}

१-	आर्यासप्तशती	४६४
२-	..	४६५
३-	..	४९७
४-	..	४३५
५-	..	१७ , ५६६
६-	..	४५५ , २९९
७-	..	६३३
८-	..	४७
९-	..	६२३
१०-	..	११० , १५७ , ३५४ , ६२२
११-	..	१८७

नटी का स्नान^१, बीती हुई घटना का अभिनय देना^२, वादि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। विशेष पर्वों पर मेल लगते थे। पाच मेल इत्यादि पर्वों पर स्त्री पुरुष दोनों स्नान के लिए जाते थे। दो कार्यार्थों में स्त्री पुरुषों के मदिरापान करने का भी उल्लेख हुआ है। मैना-तोता वादि पक्षियों को पालकर पिंजरे में रक्ता और उन्हें पढ़ाना भी उस समय एक मनोरंजन का साधन था।^५

ग्रामीण संस्कृति

नागरिक संस्कृति की अपेक्षा ग्रामीण संस्कृति वार्यासप्तशती में अधिक प्रतिबिम्बित है। सप्तशती काल में गावों की दशा बड़ी शोचनीय थी। कुशाग्रों में बाण्डाल व्यक्ति से अनुग्रह ही सुरक्षा हो पाती थी। इसी कारण गावों की जनसंख्या तिराव थी। ग्रामवासियों की आजीविका का प्रमुख साधन कृषि कर्म था। स्त्री का कार्य स्त्री पुरुष दोनों ही करते थे। जिससे दोनों की ही स्वच्छा रिता कबसर मिल जाता था। स्त्री फँदने तथा लल्लुहानों में रहे हुए पुत्राल वादि

१-	वार्यासप्तशती	५३८
२-	..	१७४
३-	..	२६
४-	..	२६० , ४२७
५-	..	१५८ , ५६२ , ५८०
६-	..	२६२
७-	..	३७१
८-	..	१४६
९-	..	१४६
१०-	..	७२

के डेर उनके सीमों स्थल बने हुए थे^१। हजिक पत्नियों के समान उनकी बाल्मार भी स्त्रियों पर जाकर^२ कार्य करती थीं जिससे उन्हें भी वमिसार के लिए कसर मिल जाता था। एक बार्ग में इन बाल्मारों पर वास्ट के लिए प्रमण करने वाले शिकारियों के मुग्ध होने का भी उल्लेख^३ हुआ है।

स्त्री का कार्य प्रमुक्तया जंगों पर ही निर्भर था^४, किन्तु मेसा भी काम में लाया जाता था^५। गाय वादि पशुओं की पुरस्ता के लिए गोशालार होती थी। गायों की दीपात्सव पर तर्जुन करके गीत गाते जाते थे^६। इन पशुओं के गले में घण्टी बाधने की प्रथा थी। इनके वतिरिक्त हरिण, हाथी^७ वादि पशु जंगलों में पाये जाते थे।

बार्गसिप्तालो नामक भोजी प्रदेश में मिली गयी थी। उक्तः प्रमुक्तया धान के पाँधों का उल्लेख हुआ है। इस में धान के खेद हुए पाँधों की कल्प कहते थे तथा उनकी रखवाली करने वाली "कमल-रक्षिका"

१-	बार्गसिप्ताली	३०२
२-	..	३४६
३-	..	१०१
४-	..	५८ , ३०२
५-	..	२६२ , ५२२
६-	..	१४१
७-	..	१४१
८-	..	३३३
९-	..	२६४ , २८३
१०-	..	१७३ , ३१६

कहलाती थी^१। खेत की कल्मी से वाच्छा दितहीते थे^२। धान के सूते हुए
 पीधों को^३ 'पुवाल' कहते थे। ईत को खेती होती थी जिससे लीम गुह^४
 तथा शक्कर बनाना जानते थे। इसके अतिरिक्त गहूँ^५, कपास^६, सन^७,
 तिल^८, सीठ^९, हल्दी^{१०}, फेसर^{११}, हुकुम^{१२} आदि फसलें उगाई जाती थी।
 ग्रामवासी गृहिका धनुष (गुमल) से परिचित थे।^{१३} एक जार्या में मिथ्या^{१४}

१- तार्यासप्तशती १०१

२- .. ३४६

३- .. ३०२

४- .. ११०, १६८, २१५, ४४६

५- .. १२४

६- .. ५२०

७- .. ५८

८- .. ३८८

९- .. ४७८

१०- .. ५६२

११- .. २७१

१२- .. ५३६

१३- .. १६

१४- .. ४३५

१५- .. १८८

पुरुष के हाथों में धनुष-बाण बनाकर उठे क्षेत्रों में लड़ने का उत्प्रेषण होता है। कदाचित् पशु-पक्षियों को क्षेत्रों से दूर भगाने के लिए इनका प्रयोग किया जाता था। फसल फसने पर काटकर (सक-सक सगान) सज्जिहान में एकत्र कर ली जाती थी जहाँ उन्न के दाने जलाने किशे जाते थे^२।

गावियों के चारों ओर जलाशय और उपवन होते थे। जलाशयों में कमल^३ और कमलिन^४ के पौधे पाये जाते थे। इनके किनारों पर केतकी के वृक्ष पाये जाते थे। उपवनों में आम, जामुन^५, बिल्व, केला, वादि वृक्ष पाये जाते थे। कुरवक^६, बकुल^७, मल्लिका^८, कुन्द^९ आदि पुष्प तथा सल^{१०} और लहारं^{११} भी लगाई जाती थी। गाँव से लगे जंगलों में नीम^{१२}, बट^{१३},

१- वायसिपशती २६४

२- .. ५८

३- .. २३२

४- .. ३७८ , ६७६

५- .. ५३२

६- .. ६४ , ३४६

७- .. ५८०

८- .. ५६७ , ३४०

९- .. ५५३

१०- .. ३२४

११- .. २६० , २६७

१२- .. २४३

१३- .. ६४६

१४- .. ३४६

१५- .. २६२

करिब^१, चन्दन^२, पुन^३ वादि वृक्षा पाये जाते थे। पर्वतीय भागों में बरगद, कीरिया, शाल, सेमर, काम, सदिर, सिन्दुवार वादि वृक्षा पाये जाते थे। नदियों के किनारे बेल के जंगल भी होते थे।

कृषि के अतिरिक्त जीविकोपार्जन हेतु अन्य कार्य भी कियेजाते थे। रुई धुनकर उसे गदे वादि वस्त्रों में मरने वाले परिवार लोगों से वस्त्रादि लेते थे। जुलाहे लोगों के घरों पर जाकर कूत लाते थे और उससे उन्हें कैंक प्रकार के सूती वस्त्र बुनकर देते थे। उन्हें उनके पारिवर्त्मिक के रूप में फीस वादि दिये जाते थे। धोबी उच्च वर्णों के कपड़े धोते थे जिससे उन्हें अपने उपजीव्यों से वस्त्रादि के साथ साथ अन्य सहायसहारे भी मिलती थीं। कुम्हार मिट्टी से कसोरा^६, घड़े^{१०} वादि बर्तन बनाकर उन्हें वस्त्रादि से बेचते थे। तेली तिल वादि को यन्त्र (कौन्डू) में पीरकर तेल निकालते थे जिसे आवश्यकता पड़ने पर ग्रामवासी उनके सहीदते थे। मील^{११} लोग मधु नदिसर्या द्वारा एकत्र कृत मधु भी जंगल से लाकर गाँवों में बेचते थे।^{१२}

१- वायांसप्तशती	६६६
२- ..	४८६
३- ..	६१
४- ..	५४१
५- ..	४५७
६- ..	३०८
७- ..	३१२
८- ..	६०
९- ..	१२६
१०- ..	३१८, ५६२
११- ..	६६६
१२- ..	१००, २६४

व्याध, भीम आदि जंगली जातियाँ शिकार से जीवन निर्वाह करती थीं^१।
इस प्रकार गाँव में विभिन्न श्रेणी की रक्षक जाति लोग रहते थे।

शासन की दृष्टि से गाँव एक इकाई था।
उस समय गाँव को 'पल्ली' कहा जाता था तथा उसके शासन की रक्षा का भार 'पल्लीपति'^२ यथा 'ग्रामाधिपति'^३ पर रहता था। उसे कर एकत्र करके पूरा अधिकार था। स्पष्ट है कि गाँव में यह सर्व सामान्य व्यवस्था होता था जिसका प्रभाव कीर्ति और अर्थात् पूरे गाँव पर पड़ता था, किन्तु कुरु वंश से पीड़ित होकर लोग इसे कृपण आदि कहकर अपमानित करते थे। वस्तुतः उसकी स्थिति गाँव में वैसी ही होती थी जैसी देश में राजा की। अतः रत्न सदन का स्तर भी अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर का होता था। यह इसी से प्रकट होता है कि उसके घर में गुलाब आदि की फुलवारी लगी होती थी^४। साधारणतः ग्राम जीवन आहम्वर रहित था। मार्ग कच्चे होते थे और वर्षा ऋतु में गलियाँ में कीलू हो जाती थी। घर प्रायः कच्चे होते थे। उनके तारों और परकोटों से बाहरी काम ले लिया जाता था^५। एक वार्ड में दहियों के बीर्ण-शीर्ण घरों का भी उल्लेख हुआ है^६। कुरों में प्रायः कच्चे होते थे^७। जिनसे घड़े में रखी बाध

१-	वार्यसिप्तस्ती	१००, २६४
२-	..	४१७
३-	..	४७८
४-	..	३७९
५-	..	४७८
६-	..	(ग्रन्थारम्भग्रन्था रु)
७-	..	६६
८-	..	३५६
९-	..	३५६
१०-	..	२६७
११-	..	२६५

कर पानी सींचा जाता था^१।

शासकों का पर नयन चाफूसी के बाधार् पर होता था जिससे वयोग्य व्यक्ति भी 'अमात्य' जैसे उच्च पदों की प्राप्ति हो जाती थे^२। इस प्रकार वयोग्य व्यक्तियों की उच्च पदों पर नियुक्ति देकर गोवर्धनाचार्य चुप नहीं रह सके। उन्होंने ऐसे अधिकारियों के प्रति कटुक्ति करते हुए सीधे तौर पर लोगों को उनसे बचने के लिए उपदेश दिये हैं- वयोग्य व्यक्तियों के सामने गुण प्रकट करना कलाभकारी ही नहीं बल्कि अनर्थकारी भी है^३। उनके सामने विद्वानों को मौन धारण करना ही चाहिए क्योंकि उसकी सेवा में जरा भी छुट्टिहीने पर बहुत ख़री हानि उठानो पड़ती है^४। यदि वे कौणभी उपरिष्ठ करें तो भी उन पर विश्वास नहीं करना चाहिए^५। इस प्रकार दुष्ट और वयोग्य पदाधिकारियों के शासन में रिश्वतों की सुरक्षा सम्भव नहीं थी क्योंकि उनके द्वारा प्रेषित वृत्तियाँ माँति-भाँति के प्रलोभन दिलाकर रिश्वतों को पक्ष्रष्ट बनाने का प्रयास करती थी^६।

सप्तशती काय राजा के देवी अधिकारों का गुण था। लोगों का विश्वास था। 'मन्त्री देवता ह्येणा नर रूपेण सिष्ठति।' श्रीमद् राजा का वार्त्तिक लोगों के हृदय पर छाया रहता था। वे उसके प्रष्टाचार के विरुद्ध कुछ कहते हुए भी डरते थे। सुरक्षा के

१- वार्यासप्तशती १६४

२- .. ४१

३- .. ६

४- .. ५५४

५- .. ३१५

६- .. ६००

७- .. ४६७

८- .. ३७९

लिए फहरदार होने पर भी जोरियाँ होती थी^१। जोरों की जाल के लिए गर्म तेल में सुवर्ण-गुटिका डाली जाती थी और जिसे न डूने वाले को उप-राधी घोषित किया जाता था^२। इसी शात होता है कि उपराधियों को दण्ड भी प्रायः कठोर ही दिये जाते होंगे। युद्ध आदि में विजय होने पर नगाड़े बजाये जाते थे।

पुरुष उत्तरीय वस्त्र^४, अधोवस्त्र (धीती)

नौला परिधान^५ आदि वस्त्रों को पहनते थे। अपिसारिकार^६ शूल पद्म में श्वेत और कृष्ण पद्म में काले वस्त्रों को पहनते थी। विरहिणी नायिका^७ पीले वस्त्रों को पहनती थी। स्त्रियाँ गले में कुल्लहार^८ और मुक्ता-हार^९ को पहनती थी। इसके अतिरिक्त कानों में कुण्डल^{१०}, हाथों में बंकण^{११} और पैरों में तूपुर^{१२} पहने जाते थे। एक वार्या में नायिका के कर्धनी पहनने

१-	वार्यासप्तशती	१३३
२-	..	४१४
३-	..	२४७
४-	..	४८
५-	..	४५८
६-	..	२४३
७-	..	२०
८-	..	४७८
९-	..	३३९
१०-	..	१२९ , १३५
११-	..	२२६ , ४१५
१२-	..	२६८ , २७६
१३-	..	२९४

का उत्प्रेषण हुआ है। केशों का प्रसाधन कलात्मक ढंग से करके सिन्दूर से मणि मरी जाती थी। केशों में मल्लिका वादि के पुष्प को लगाने का रिवाज था। शरीर की कान्ति को बढ़ाने के लिए स्त्रियाँ हल्दी के उबटन से स्नान करती थीं। शरीर पर कस्तूरी का लेप करती थीं। बालों में काजल और चरणाँ में लाक्षारस लगाया जाता था। इसके अतिरिक्त वे वन पर केशु-लिका (चीली) फसती थीं।

वैश्वभूषण के ही समान इन लोगों का

खान पान भी अत्यन्त सादा और सात्त्विक था। जो वन क्षेत्रों में पैदा होता था उसे ही ये लोग खाते थे। गेहूँ^{१०}, जामुन^{११}, बूध^{१२}, बड़ी^{१३}, घृत^{१४}, तिल^{१५}, गुड़^{१६} वादि इनका मुख्य भोजन था। ये आम, जामुन, केला, ताड़

१- वार्याचिप्तशती	८५	१७- वार्याचिप्तशती	६४
२-	२३१	१८-	५८०
३-	४०४	१९-	५५३
४-	२४३	२०-	५६७
५-	६६०		
६-	२८०		
७-	२१		
८-	१८		
९-	५२३		
१०-	५८		
११-	५५२		
१२-	६१६		
१३-	३४४		
१४-	७९		
१५-	५६२		
१६-	१२४		

वादि फलों को खाते थे। सुरापान की प्रथा थी। स्त्री पुरुष दोनों ही मदिरापान करते थे। इसके अतिरिक्त पान के साथ सुपारी और तम्बाकू की भी नशे के लिए प्रयोग में लाया जाता था। व्याध, मील आदि जंगली जातियाँ नास मल्लण करती थी।

सप्तशतीकालीन लोग शिव^४, विष्णु^५, पार्वती^६, लक्ष्मी^७, रीति^८, इन्द्र^९, ब्रह्मा^{१०}, गणेश^{११} आदि देवी-देवताओं की पूजा करते थे सभी तो गौवर्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती में उनका उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि शिव और वैष्णव धर्म के एष्ट देवों की पूजा होने के कारण दोनों धर्मों का व्यापक प्रसार होना निश्चित ही है। इसके अतिरिक्त एक एक आर्या में जैन धर्म^{१२} और बौद्ध धर्म^{१३} का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध सभी धर्मों के अनुयायी पाये जाने के कारण तत्कालीन संस्कृति को समन्वयशील कहा जाना उपयुक्त ही है।

१- आर्यासप्तशती	२६० , ४२७
२- ..	६९ , २८७
३- ..	१०० , २६४
४- ..	ग्र० ब्र० १ से ६ तक
५- १० से १४ , ५३२
६- १६ से २०
७- २२ से २४
८- १७
९- १५
१०- २६
११- २७
१२- ..	२९
१३- ..	४०८

इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से देवी पर
पौराणिक विचारधारा का भी प्रत्यक्ष गवाँ में अधिक प्रतीत होता है।
अमृत-मंथन^१, मिथुन-वध^२, बलि-वामन^३ आदि पौराणिक उपाख्यान
वीर राम-जन्म की रामायणीय कथा लोगों में प्रसिद्ध थी। राधा-
कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण के प्रेम कथानक भी प्रसिद्ध थे।

पुराने जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों में कोई नहीं
जाता था। वे नायक-नायिकाओं के सकेत स्थल बन जाते थे। मन्दिरों में
देवो-देवताओं की प्रतिमाएँ पायी जाती थी जिन पर पुष्प चढ़ाए जाते थे।
इन प्रतिमाओं की देवता माने दे देसी वाले व्यक्ति की अभीष्ट फलमिप्ता
है- ऐसाउन लोगों का विचार था^६। एक जाया में दुष्ट शत्रुओं की अनुकूलता
के लिए उसकी प्रतिमा को अत्यधिक सेल में स्थापित करके पूजा करने का उल्लेख
हुआ है।^{१०} मूर्तिपूजा के लिए मन्त्रों का ज्ञान आवश्यक माना जाता था।
यह इस उचित से प्रतीत होता है :

१-	वार्यासप्तशती	३१४-४८४
२-	..	१७८, २०४
३-	..	८६
४-	..	१५५, ६३१
५-	..	५१०, ५११
६-	..	३१०
७-	..	४१७
८-	..	६५७
९-	..	४३
१०-	..	४४७

“ पूजा विना प्रतिष्ठा नास्ति न मन्त्र विना प्रतिष्ठा न ।

तदुभयविप्रतिपन्नः पर्यस्तु नीर्वाणपाशाणम् ॥ ९

बिना प्रतिष्ठा (कीर्ति) के पूजा नहीं होती और बिना मन्त्र के प्रतिष्ठा नहीं होती । जो (मन्त्र और प्रतिष्ठा) उन दोनों का विरोधी है, वह देवता की प्रतिमा को देखे । एक बार्या में मन्त्र जानने वाले को माला से जप करते हुए फेंक दिया गया है^२ अन्य स्थान पर पीफल को ढूँढ़कर उसकी पूजा करने का उल्लेख हुआ है^३ । शक्ति के उपासक भी थे जो देवी पर भस्त्र की बलि चढ़ाते थे^४ । कर्मवाद और माग्यवाद दोनों में ही विश्वास किया जाता था । एक ओर कर्म को ही शरण^५ मानकर उसे सोल विचारकर किया जाता था^६ तो दूसरी ओर उन्हें कुल में जन्म देना तथा नदमी की विधियों को माग्य के अधीन माना जाता था ।

स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के व्रतों में रुचि रखती थीं । शिव चतुर्दशी को व्रत रखकर शिवजी की पूजा करती थीं^७ । वी तिथि वाले दिन की दूसरी तिथि रात में पूज्य होती थी । नवरात्र में अष्टमी की बेल के टहनियों जाकर उसे पूजकर नवमी को विसर्जित करती थीं^{११} ।

१- वार्यासि-पञ्चशती ३८६

२- .. १४४, ६०३

३- .. ६४१

४- .. २६२

५- .. ५७६

६- .. ६६६

७- .. ६८

८- .. २१६

९- .. ६३४

१०- .. ५८८

११- .. ३४०

हस्त्यष्टि पर्वा पर पुजा के बाद गन्ना ब्रूने का रिवाज था^१। एक बार्गा^२ में वाशिन शुक्ला पैतमी को चित्रा देवी के पूजन करने का उन्नेत हुआ है। दीपावली पर गायों को अंकुत करके गीत गारे जाते थे। माघ के मने वादि विशेष पर्वा पर स्त्री पुरुष दोनों स्नान के लिए जाते थे।^४

लोगों का शकन एवं भूत प्रतीति में अधिक विश्वास था। प्रीणित- पतिका^१ प्रिय के शीघ्र सकुशल घर लौट जाने की वांछ से कौनों को बलि दिया करता थी^५ तो कदाचित्त वे अपनी बायीं भुजा फुड़कने पर उसका वाग्निन कटती थी। पति के घर जाने पर उसके घर धीकर मंगल गीत गाय जाते थे। प्रिय प्रिय की परिले जाते समय परीवर तक पहुँचाने जाते थे^६। किन्तु उसे विदा करते समय रोना अपक्कन^{१०} माना जाता था^{१०} तो अन्य स्थान पर स्वप्न में रोना शुभ माना गया है। दिन भूरा रहने पर पुर्णिमा की रात शुभ कार्या के योग्य मानी जाती थी।^{१२} भूत प्रतीति से प्रायः सभी डरते थे। यही कारण है कि उनका

१- बार्गासप्तशती १६१

२- .. ४६४

३- .. १४१

४- .. २६

५- .. ५३१

६- .. ३४७

७- .. ५६०

८- .. १०६

९- .. ४०६

१०- .. २३५

११- .. ५०१

१२- .. ३०१

१३- .. ३६५

किसी वृद्धा पर वास होने से पुष्प और फल ग्रहण नहीं किये जाते थे^१।
 सुबह की जल्दी उठना^२, कुशल नीम मालूम करने के लिए फल चिन्ता^३, राज्या-
 मिचीक के समय सिर धोना आदि अन्य आचार थे। धन रखने की एक ही
 विधि प्रचलित थी- घड़े आदि में भर कर भूमि में गाढ़ कर रखते थे^४ और
 उसके ऊपर यादगार के लिए लतादि चिह्नों को निश्चित करते थे।

समाज में अन्य की भिन्न भिन्न प्रकार
 के आचार विचार प्रचलित थे। प्रिय व्यक्तित्व के लागमन के समय मंगलघट रीति
 जाती थे और फल पावने विश्रुते जाते थे^५। मंगल कार्यों में बार पर काम के
 फलोंकी मान्यता बनाकर जाधी जाती थी^६। विवाह के समय नर और कन्या
 दोनों सात बार अग्नि के चक्कर लगाते थे^७ तथा उनके निरन्तराली जीवन
 की वांछा से शुभ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था^८। उसी अवसर पर
 त्रिज्या अम्बन्धियों के बस्त्रों पर हन्दी से थाप लगाती थी^९। कन्या के विदा

१- जार्यातप्तशती ६७४

२- .. १६, १०७

३- .. ५४७

४- .. ४६०

५- .. २७

६- .. ३३८

७- .. ४६७

८- .. ४६७

९- .. ६१७

१०- .. ८९

११- .. ५३६

करते समय सभी सम्बन्धी दृःक्षित होते थे^१। विवाह के बाद जामाता के स्वसुराल में जाने पर अतिथि सत्कार किया जाता था^२। साव्वी स्त्रियाँ प्रातःकाल देर तक नहीं सोती थीं और अपने से कहीं का वादर करती थीं^३। ये पति वृद्ध हो कष्टा निर्धन^४ उसकी सेवा करना अपना प्रधान कर्तव्य समझती थीं। स्त्रियाँ पति के मरने पर बूढ़ियाँ नहीं पकनती थीं^५। सती प्रथा का प्रचलन था। साव्वी नारियाँ पति के शव के साथ जीवित जल जाया करती थीं^६। एक वार्या में सपत्नियाँ को समान दृष्टि से देखने वाले गृह स्वामी का प्रशंसात्मक उल्लेख हुआ है^७। धार्मिक कार्यों में पति के साथ पत्नी उपरिक्त होना अनिवार्य माना जाता था। यही कारण है कि उसे "सर्वधर्मनारिणी" कहकर सम्मानित किया जाता था^८। गृहस्थ लोग कुलीनपत्ति को वाशा से "प्राजापत्य" यज्ञ करते थे^९ जिसमें सभी सम्बन्धी एकट्टे होते थे^{१०}। मित्रने बुलने वाले परिचित व्यक्ति को रुग्णावस्था में लोग कुशल - दीप देने के लिए जाते थे^{११}।

१- जार्यासप्तशती ३८

२-	..	३७५
३-	..	१६ , १०७
४-	..	२५ , ३१०
५-	..	१३६ , २२१
६-	..	१६४ , २८६ , ३१५ , ५७६
७-	..	२७४
८-	..	५५५
९-	..	६८०
१०-	..	६७३
११-	..	६२६
१२-	..	६२०
१३-	..	२४० , ४६२

लोग पुनर्जन्म में विश्वास करने के कारण
 उनके कार्य करते थे^१। सम्पन्न-लोग जन्मादि दान करते थे^२। एक शरीर में निम्न
 व्यक्ति के आयुर्मानुसार परीकार करने का उत्प्रेष हुआ है। पीसनी पर
 पानी फिफाने का कार्य स्त्रियाँ भी करती थीं। लोगों में लज्जिता, करुणा,
 मैत्री और विनय आदि भारतीय संस्कृति के गुण पाये जाते थे। यही कारण
 है कि जिसकी को हीन दृष्टि से देखा जाता था जिससे वे हिंसा करने से डरते
 थे^३। साज्बी स्त्रियाँ गाय आदि दान करती थीं^४। महान् व्यक्ति दया
 मान के कारण अपना उपकार करने वाले को भी शरण देते थे^५। एक लार्वा
 में मैत्री भाव से सभी अवस्थाओं में सहायता प्रदान करने वाले का उत्प्रेष हुआ
 है। अवाचारी पुरुष विनम्रता से ही स्वाति को प्राप्त होते थे^६। यही
 कारण है कि वे दृष्टों के साथ रहने पर भी अपने उत्कृष्ट स्वभाव को नहीं
 छोड़ते थे क्योंकि वे जानते थे कि दुरे कार्यों से लगे कर्मों को बाद के मोक्ष^{११}
 से नहीं छिपाया जा सकता^{१२}। सत्पुरुष सभी को समान दृष्टि से देखते थे^{१३}
 तथा वे पक्षपात रहित न्याय करते थे^{१४}। ऐसे लोगों का प्रतिष्ठापूर्वक साणिक

१- आर्यासिपात्नी ६७८

१४- आर्यासिपात्नी २०८, २४५

२- .. ६७६

३- .. ४८६

४- .. ९

५- .. ४३९

६- .. १००

७- .. १६२

८- .. ४८४

९- .. १६४

१०- .. ६३९

११- .. २७६

१२- .. ६०

१३- .. २०८

जीवन भी उत्तम माना जाता था । यह इस उचितसे प्रतीत होता है :

“ क्वञ्चिद्वि लोके मर्णनिमनास्तत्त्वैर्वरञ्जिता जगती

संय्या एव वसतिः सान्ध्यापि सते सुसायन । ” १

हे सहे । लोगों ने (वर्धमान के लिए) हाथ जोड़ रहे हैं, बिना निस्तेज हुए ही संसार को रंजित बना देता है। इस प्रकार का सन्ध्याकाल सा सांणिक जीवन में सुस्कार ही होता ।

नारी की रिवति

उत्सर्गकालीन नारी का नाना रूपों में चित्रण हुआ है वह कहीं कन्या के रूप में चित्रित है तो कहीं पत्नी तथा माँ आदि के रूप में चित्रित हुई है। उसके अतिरिक्त कहीं कहीं तो नारी का अपकृता के रूप में भी चित्रण हुआ है। अपहरण के भय से नारी की सुरक्षा के लिए वेग रक्षिकारें रखी जाती थीं। संभवतः इसी कारण विवाह योग्य कन्याएँ माता पिता की चिन्ता का कारण बनती जा रही थी जिससे बाल विवाह को अधिक प्रोत्साहन मिला । अल्प आयु में विवाह होने से बालिकाएँ विवाह के वास्तविक महत्व को नहीं समझती थीं। यही कारण है कि वे विवाह की गृहियों का सेवा सम्भार पति घर जाते समय छोड़ती थीं।

१- वार्यासिप्ताशती ३१

२-	..	६८ , ४२५
३-	..	१३० , ३०२
४-	..	७८ , ३७५
५-	..	३२, १७८ , ४६२
६-	..	१०१
७-	..	२८३, ६१
८-	..	२८

इसके अतिरिक्त बहु-विवाह भी प्रचलित था। पति का दूसरा विवाह होने पर सपत्नियाँ भी ईर्ष्या-द्वेष का बदला स्वाभाविक ही था। सपत्नियाँ भी पुत्रवती को अधिक वादरूपा करके दया जाता था क्योंकि उसका पुत्र पिता को नरक जाति से बचाने का कारण माना जाता था। इस प्रकार पुत्रवती को सम्मानित देकर अन्य पत्नियाँ दुःखित रहती थीं^१। वे कभीपति के मत्तक पर सुरत में लगी महावर को देकर दुःखित होती थीं^२ तो कभी पति की उपेक्षा का कारण बफाई की कमी मानकर दुःखी होती थीं^३। ऐसे बाजावरण से दुःखित नारी बफा मरण की उक्ति समझती थीं^४।

अमल विवाह भी होते थे जिससे नारी की दुर्दशा और भी होने लगी। धनाभाव से पिता कन्याओं का विवाह ऐसे पुरुषों के साथ कर देते थे जो आयु में उनकी उपेक्षा करे बफा निर्धन होते थे। युवा कन्याएँ वृद्धों के साथ विवाह होने से बाजीवन दुःखी रहती थी जिससे वे परित्यक्तवश मृत्यु से यौन सम्बन्ध स्थापित करती थीं। निर्धन के साथ विवाह होने पर उनके साथ भिला मंगिती फिरती थी, जिससे उन पर कामुकों की कुदृष्टियाँ पड़ती थीं^५। सपत्नियाँ बफा पति के साथ विवाह होने पर उससे सपत्नियाँ ईर्ष्या करती थीं^६। दुर्भाग्यवश पुत्रत्व-

१-	वायसिप्तशती	२
२-	..	५२
३-	..	१८
४-	..	१०५
५-	..	२३८-१०९
६-	..	४१८
७-	..	४६४
८-	..	५२ . ६९

हीन के साथ विवाह होने पर उनकी उपपत्तियों के साथ सुरत-क्रीडारं भीष थी।^१

द्वितियाँ दो अपरिचित कृत्यों में प्रेम उत्पन्न कराके उसे स्थायी बनाती थीं। इसके अतिरिक्त मनमुटाव होने पर सन्धि कराना, सन्देश उत्पन्न होने पर उसका निराकरण करना आदि इनके महत्वपूर्ण कार्य थे। प्रेमियों का प्रेम व्यापार इनकी कुतूहल से ही सफल हो पाता था। द्वितियाँ प्रेमियों के रहस्यों की गुप्त-रक्षायी थीं जिससे वे उनकी विश्वास पात्र बन गयीं। एक और द्विती नायक की आसक्ति का माँति माँति प्रकार से वर्णन कर नायिका को उससे मिलाने के लिए बाध्य कर देती है^२, तो दूसरी और वह नायिका की आसक्ति के वृत्तान्त से नायक को आकृष्ट करती हुई कहती है कि तुम बड़े भीमाग्रहाणी हो जो बिना रोजे सम्भोग ही तुम्हमें आसक्त हो गये किन्तु तुम्हारा विपरीत आचरण उसके लिए दुःख का विषय है।^३ वह आपके विरह से सन्तप्त होने के कारण गौरों के अपमान वाधी हो गयी है।^४ आपके संवाद का एक वचन भी उसे प्राणप्रिय है।^५ इस प्रकार की बातें बना बनाकर द्विती नायक को नायिका से मिलने के लिए उत्कण्ठित कर देती है। द्विती के रूप में नारी की जला सम्माननीय नहीं थी क्योंकि वे उच्छृङ्खल होने से प्रेमियों के पास जाकर सुरत-क्रीडारं करने लगती थीं।^६ एक बार में द्विती को सर्प को "दंष्टा" कह कर अपमानित किया गया है।^७

१- वायसप्तशती ४०५

२- .. ५

३- .. १४

४- .. २३

५- .. २९९

६- .. ४६

७- .. ५०३

८- .. ५६२

तो अन्य स्थान पर उसकी फटकाती हुई साध्वी नारी की उक्ति सुन लीजिए :

वयि वि विधवन्नरत्ने ददासि वन्द्यं करो समावीय ।

व्यसनदिवसेषु दूति व्व पुनस्त्वं वर्त्तनीयासि ॥ १

हे नाना प्रकार के वचन रत्न वाली दूति । वन्द्यता को लाकर मेरे हाथ में दे रही है, वफाीति फलने के दिनों में फिर तुम कहाँ विसाईफ़ोगी, अर्थात् कहीं नहीं ।

सम्पन्न लोग सेवा के लिए दासियाँ रखते थे । जो स्वामी के लाने के बाद उसे हुए जीवन को लाती थी । छाना ही नहीं उन्हें स्वामी की सेवा में भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी क्योंकि एक वार्या में दासी के चरित्र पर सन्देह करके उसी रत्नवाली नारी का उत्प्रेषण हुआ है। अतः स्पष्ट है कि दासी के रूप में नारी कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी ।

उस रसिक समाज में वस्तु परिरक्षित-वश वेश्याएँ अधिक पायी जाती थीं । जो नगरों में होती थी । नागरिक उन्हें नृत्य, गीत, संगीत आदि से अधिक महत्त्व देते थे । इनके पास कामुकी का वै- लक्ष्मी जाना जाता था । ये सीधे सादे पुरुषों को मिय्या प्रेम में फँसकर उनसे धन ठगती थी । इस प्रकार वेश्याओं से ठगा गया

१- वार्यासप्तशती ४

२-	..	२५७
३-	..	६९९
४-	..	४३५
५-	..	९५३
६-	..	११२, ५६

धन तो थोड़ा ही माना जाता था किन्तु उनके साथ शूद्र वाणि-क्रीड़ाओं से जो लोक निन्दा होती थी वह बहुत बड़ी होती थी। वेश्यासभता से प्रेम न पाकर उनकी पत्नियाँ दुःस्ति रहती थी^२। एक स्थान पर शरीर से सास्मृत वस्तु को लेने वाली वेश्या को समता केंचुल को त्यागने वाली सर्पिणी से की गयी है^३ तो अन्य स्थान पर इसके कटाक्षों से बने रहने का उपदेश दिया गया है।^४ अतः स्पष्ट है कि वेश्या के रूप में नारी के दृष्टि से देखी जाती थी।

उत्कृष्ट वातावरण में स्त्रियों पर विनय करने वाली नारियाँ के समीप शयन खड़ी हुई फसलें^५ तथा पुत्राल के डेर होते थे। प्रष्ट स्त्रियाँ पूजा के बदले देवानियों में जाकर व्यभिचार करती थी^७। ये पत्नियाँ के परदेश जाने पर पर-पुरुषों के साथ स्त-क्रीड़ा करती थी। इतना ही नहीं एक जगह में तो शय्या पर साथ सोये हुए पति से भी न हटकर जार के साथ सम्यग करने वाली नारी का उल्लेख हुआ है।^६ अन्य स्थानों पर बाहरदीवारी में बन्द रहने वाली प्रष्ट नारियाँ भी ताक फाँक का उल्लेख हुआ है।^{१०} उत्तम कुलीनपन्न स्त्रियाँ परमा करने पर

१-	वार्यासप्तशती	१६०
२-	..	२६३
३-	..	३२८
४-	..	५५१
५-	..	७२
६-	..	३०२
७-	..	६५७
८-	..	५७३
९-	..	५६८
१०-	..	५४४, ३७, २६७

मो उन्कीस पुरुषों की बुद्धियाँ से नहीं बन पा रही थी। यह इस उक्ति से प्रतीत होता है-

‘त्वमसूर्यपश्या सति फमपि न विनाकार्ण प्रमदि ।

शाये । किमिह विधियं मुञ्चस्ति न भूर्तिमन्तस्त्वाम् ॥ १’

ऐ छायाहमे सति । तू सूर्य का दर्शन भी नहीं करतो , बिना व्यवधान (परदा) के एक पग भी नहीं चली , फिर भी तुमको शरीरधारी (लोग) नहीं झोड़ते , इस विषय में क्या किया जाय ?

उस विज्ञासम्पूर्ण समाज में पतिव्रता एवं साध्वी नारियाँ भी पायी जाती थीं। उनमें विनय सेवा निषेका आदि गुण पाये जाते थे। वे घर के सारे कार्यों को करती थी। पति वृद्ध हो जयवा निर्धन उसकी सेवा करना उनका प्रधान कर्तव्य था। पति के कई विवाह होने पर भी साध्वी को ही अधिक सम्मान दिया जाता था। घर के सारे अधिकार उसी के हाथ में होते थे। साध्वी स्त्रियाँ नाथ-पयार्थी की व्यवस्था करके पति का मरण पोषाण करती थी। वे अपने पति से ही कुराग रत्न के कारण दूती एवं वामी पुरुषों को निरुत्तर कर देती थी। उस समय सती प्रथा का प्रचलन होने के कारण वे अपने पतिगो के साथ जोड़ित हो जा जाती थी, इनको गणना होती थी। क्रतः स्पष्ट

१- कार्यसप्तजती	२५४	७- कार्यसप्तजती	६१
२- ..	२०३	८- ..	५६६
३- ..	५८८	९- ..	४,१६४
४- ..	१३६ , २२१	१०- ..	१३
५- ..	१६४, ३१५, २८६, ५७६	११- ..	५५५
६- ..	२०३, २५७		

है कि उन्मुख वातावरण के होने पर भी उस समय पतिव्रता एवं नारियों का आग नहीं था ।

इस प्रकार के विवेक से स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में विनासपूर्ण वातावरण होने से नारी की स्वायत्तता पर कौन बन्धन लगा दिये गये किन्तु आश्चर्य की बात तो यह थी कि उन पर जितने अधिक बन्धन लगाये जाते थे उतना ही उनका नैतिक पतन हो रहा था, क्योंकि पति सपत्नियों में तथा अन्य स्त्रियों में आसक्त रहते थे तब ऐसी परिस्थितियों में उनको पत्नियों का पय प्रष्ट होना स्वाभाविक ही था । इसके अतिरिक्त बाल विवाह, बहु विवाह, वृद्ध विवाह, अनपेक्षित विवाह इत्यादि स्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध किये जाते थे जिससे नारी वर्ग सदा दुःखित रहता था । निश्चय ही तत्कालीन नारी चित्रण उसके स्वभाव और गुण दोषों के आधार पर हुआ है। अतः स्पष्ट है कि उस काल में नारी की दशा बहुत शोचनीय थी क्योंकि उस पर विनासपूर्ण वातावरण, अशिक्षा तथा पुरुष वर्ग की उन्मुखता का व्यापक प्रभाव पड़ रहा था ।

...

चतुर्थ अध्याय

नायिका-भेद और कामशास्त्र का प्रभाव

नायिकाभेद

वार्तासप्तशती पर नायिकाभेद का भी कसौप प्रभाव द्रष्टव्य है। नायिकाभेद के अन्तर्गत नायिका को विभिन्न पनीदशाओं का चित्रण किया जाता है। वारु की विभिन्न अवस्था, विप्र-लम्प दशा, संयोगावस्था की भावना^१ नायक की अन्य नायिका के प्रति वासपित वादि का नायिका की पनीवृत्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है ? वादि तय्य नायिकाभेद के आधार हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में इन दशाओं और अवस्थाओं का शास्त्रीय दृष्टि से उल्लेख हुआ है। काव्यशास्त्र में नायिका भेद के समावेश का प्रेरक श्रोत वही है। जिससे ज्ञात होता है कि नायिकाभेद की बहुत प्राचीन परम्परा है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं की प्रकृति के आधार पर उनके तीन भेद किये हैं- उत्तमा, मध्यमा और अधमा^१। इसी आधार का प्रायः अनुसरण करते हुए परवर्ती शास्त्रकारों ने सामान्यतः नायिकारं- स्वकीया, परकीया और सामान्या (वेश्या) भेद से तीन प्रकार

१- सर्वासामिव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिर्मता ।

उत्तमा मध्यमा नीमा वेश्यानां तु निबोधत ॥

- भरत- नाट्यशास्त्र २५।५६

की मानी है।^१ इनमें शिष्टाचार, निष्कपटता आदि गुणों से युक्त गृह कार्य में करनेवाली पतिव्रता स्वीकृत की गयी है। जो मुग्धा, मध्या और प्रीढ़ा भेद से तीन प्रकार की होती है। मुग्धा में लज्जा की अधिकता रहती है, मध्या में लज्जा और उत्कण्ठा समान कोटि की जाती है और प्रीढ़ा में लज्जा की न्यूनता तथा काम का आधिपत्य होता है।

जो नायिका विवाह बन्धन के अन्तर्गत लोकावर्जित होने से सामाजिक संकोच एवं भय के कारण नायक का स्वच्छंद उपभोग न कर सके वह परकीया कहलाती है। इसके परोढ़ा और कन्या दो भेद होते हैं।^४ दोनों में अन्तर इतना है कि कन्या के स्वीकृत में परिणत होने की सम्भावना हो सकती है, परोढ़ा के अन्य विवाहित होने से यह सम्भावना उसके विषय में नहीं होती। इसके अतिरिक्त परोढ़ा काम-कला से अभिज्ञ होती है जबकि कन्या को उसका अनुभव नहीं होता। इनके अतिरिक्त परकीया के गुप्ता, विदग्धा, लज्जिता, कुण्टा, अनुशयाना, मुदिता अन्य छह भेद और माने गये हैं।^५ कुछ आचार्यों ने स्वयंदूतिका भेद भी माना है। अनुशयाना और मुदिता तो

१-(क) रुद्रट-काव्यालंकार १२।१६-१७

(क) अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति ।

- विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ३।५६

२- विनयार्ज्वादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।

- विश्वनाथ-साहित्यदर्पण ३।५६

३- सा पि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रणमेति ।। वही ३।५७

४- परकीया द्विधा प्रीवता परोढ़ा कन्यका तथा । वही ३।६६

५- मानुसम्-रसमञ्जरी ५० ५५

परकीया हो क्यों ? अन्य नायिकाएँ भी हो सकती हैं।

सामाजिक संकीर्ण एवं पिन्न की उत्कण्ठा दोनों के अभाव में केवल धन प्राप्ति के उद्देश्य से प्रसूत होने वाली नायिका साधारणी या वैश्या कथना कथमा कहो गयी है।

इन भेदों के अतिरिक्त नायक के प्रेम स्तर के आधार पर नायिकाएँ ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद से दो प्रकार की होती हैं। अवस्था भेद से - मरत एवं उनके परवर्ती वाचारायों ने नायिकाओं के वासक-सज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनपतिका, कल्हान्तरिता, सण्डिता, विप्र-लब्धा, प्रीणितपतिका और अभिसारिका आठ भेद माने हैं। प्रीणितपतिका भी प्रसूतस्यत्पतिका, प्रसूतपतिका, और वागतपतिका भेद से तीन प्रकार की मानी गयी है। अभिसारिका के कई वाचारायों ने कृष्ण, शुभ्र, गर्व, काम, प्रहसन और प्रकाश भेद किये हैं, पर इनमें पक्ष दो सर्वमान्य रहे हैं।

चार्यासप्तशती यद्यपि लक्षणा ग्रन्थ नहीं है, किन्तु उसमें प्रायः सभी प्रकार की नायिकाओं के लीक उदाहरण लीजे जा सकते हैं :

१-(क) तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कण्ठितापि वा ।

स्वाधीनपतिका वापि कल्हान्तरितापि वा ॥

सण्डिता विप्रलब्धा वातया प्रीणितपतिका ।

तथाभिसारिका के इत्यष्टौ नायिका स्मृताः ॥

- मरत- नाट्यशास्त्र २४।२०३ , २०४

(क) विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।७२-७३

व- स्वकीया

जब प्रवृत्ति, उत्कण्ठा, सुत-दुःख, स्त्री-पुरुष दोनों समान होती हैं, और वे विवाह के सामाजिक बन्धन में बंधकर पारस्परिक स्वामित्व की भावना के साथ लोकानुमत स्वच्छन्द विहार के अधिकारी होती हैं। इस प्रकार 'रति' भाव की जाचमच नायिका स्वकीया कहलाती है। उसके गुणों का उल्लेख करते हुए गोवर्धनाचार्य कहते हैं :

‘गृहिणीगुणेषु गणिता विनयः सेवा विधेयति गुणाः ।

मानः प्रसूता वाम्य विभूषणं वाननयनानाम् ॥’ १

स्वकीया के गृहिणी गुणों में विनय, सेवा, विधेयता प्रमुख हैं और कामिनो रूप में मान, प्रसूता, कूटिलता ये तीन विभूषण हैं।

स्वकीया के विनय, सेवा, विधेयता आदि गुणों से आकृष्ट हुआ नायक उससे कहता है :

‘तव सुतनु सानुमत्या बहुधातुजनितनितम्बरागायाः ।

गिरिवरुण ह्य जामिनाप्नोमि द्रव्येणैव दिवम् ॥’ २

हे सुन्दरि ! कथनानुसार वावरण की अनुमति सहित जिसने तीन प्रकार से नितम्ब विनायक प्रीति उत्पन्न कर दी, इस प्रकार की तुमके, शिररूपती, तीन गैरकादि धातुओं से उत्पन्न किये गये विविध राग वाले कटक प्रवेश से युक्त विनायक भूमि से, पाकर वे स्वर्ग की भी वर्षा से दो वृक्ष ही दूर

१- वायसिधस्तो - २०३

२- .. - २४६

समझता हूँ ।

एक अन्य उदाहरण वीर लीजिए- जिसमें
त्वकीया की प्रशंसा उसके पति से सुनी -

“ तन्मे प्रसुरिव गुरु रिव मनसि जतन्त्रे ध्रुव मुजिष्यसे ।

गहि श्रीरिव गुरुजनपुत्री मूर्तिव सा व्रीडा ॥ १

शय्या पर वह प्रसू सी, कामशास्त्र में गुरु सी, ध्रुव में दासी सी, घर में
लक्ष्मी सी, गुरुजनों के नाग मूर्तिमती लज्जा सी है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि त्वकीया
नायिका के तीन भेद होते हैं : मुग्धा, मञ्जा, प्रीडा ।

(क) मुग्धा

वयः सन्धि के द्वार पर ली नायिका को
मुग्धा कहते हैं। यौवन का प्रथम अवतार, कामनाओं का प्रथम संचार, रति-
व्यापार में वामाचरण, मान में मृदुता और लज्जा का आधिपत्य, मुग्धा
नायिका की प्रमुख विशेषताएँ हैं। वार्याकार ने इस नायिका का वर्णन
कोई वार्यावी में किया है।

मुग्धा के यौवनागम के उपलक्ष्य में अभिनन्दन
करता हुआ कवि कामना करता है :

“ दत्तस्तेऽक्षाणि वक्षसि दरीन्मते तव मुले च द्रवसि ।

वास्तां हृस्मं वोरः स्मरोऽधुना चिन्नधनुषापि ॥ ” ३

१- वार्यासप्तशती- २५७

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।५७

३- वार्यासप्तशती- ३००

तेरा नेत्र थोड़ा नन्हा हो रहा है। वक्षःस्थल कुछ ऊँचा हो रहा है। मुँह थोड़ा थोड़ा मुस्कराहटयुक्त हो रहा है। कामदेव का धनुषरूप पुष्प तो दूर रहे, तेरे इस जीवनकाल में कामदेव चित्रगत धनुष से भी तेरे कारण बँट ही ।

मुग्धा के लज्जाधिनय की व्यंजना नायिका के प्रति नायक की इस उक्ति में द्रष्टव्य है :

‘मंकुलकिणपाणिदीपैः स्तम्भावलम्बनेमनिः ।

शोभसि शुष्करुदितैरपि सुन्दरि मन्दिरागम् ॥’ १

हे सुन्दरि । (केलि मन्दिर में सलियों द्वारा अलम्बक प्रवेश कराते समय) बार-बार बाधा प्रस्तुत करनेके लिए तू हाथों की धर उधर चलाती है, जिससे किण पाकृत हो उठते हैं, मन्दिर द्वार का स्तम्भ फट जाती है, मीन शुष्क - रुदन करती है, इस प्रकार भी तू मन्दिर द्वार की शोभा बढ़ाती है।

जब प्रेम की उत्कण्ठा व लज्जा की अधिकता मन में दुविधा है वत्पन्न कर देती है, तब अन्तरंग मन ‘हाँ’ कहता है तो बाह्य मन लोक लाज के भय से ‘ना’ कह देता है, प्रिय के कुलाने पर प्रेम व लज्जा के सागर में गोते लगाने वाली, इस नायिका का असमंजस और दुर्ती कीक कठोचितपूर्ण चुल्लू भी उत्प्रेक्षणीय है :

‘एकं वदति मनी मम यामि न यामीति वृथयमपरं त्रै ।

वृथयमयमुचितं तव सुन्दरि वृत्तकान्तचित्तायाः ॥’ २

नायिका दूती से कहती है कि - एक वृद्ध तो कहता है कि जाऊँ और दूसरा वृद्ध कहता है कि न जाऊँ । नायिका के जाने में सन्देह है, ऐसा अनुमान लगाकर नायिका के प्रति दूती का चूटीला व्यंग भी सुनने योग्य है- ठीक ही है कि नायक का मन तुमने हर लिया है न, वतः तुम्हारे पास वी मन का होना स्वाभाविक ही है। एक अन्य कार्या में गोवर्धन ने मुग्धा के मानमुहुता की तुलना बर्षा के जोलों से की है जो पौड़ी ही दर में पिघल कर पानी पानी हो जाती है।^१

दूती का गण है कि सखियाँ जब मान करने को कहती हैं तो वउ अपनी निश्चया प्रकट करती हुई कहती हैं :

‘ हस्तस्पर्शप्रसरत्याग्निमिष्टे नतं प्रियं प्रति मे ।

प्रौढस ह्य निम्नं प्रति रागस्य त्रिगुण आवेगः ॥ ’ २

जैसे जन प्रसार वाले प्रसार का वेग निम्न स्थान की ओर होता ही जाता है, उसी प्रकार सखियाँ द्वारा रोकी गयी स्वकुन्वता जाने, मेरे पुराण का आधिक्य, आगे नत प्रिय के प्रति होता ही जाता है।

नायक के परिणता संभोग अपराध की सुनकर हठी हुई नायिका का यह ईर्ष्यामान भी कितना पाण भंगर है :

ऊर्ध्वोपरप्राधान्यम तथैव कथय मन्सुतं वीर्यम् ।

वमिधीयते न किं यदि मानं चौराननः कितवः ॥ ’ ३

नायक प्रस्ता है- तुने मेरे अपराध सुने हैं, जरा मेरा मुह देखकर सच सच बता

१- आर्यासप्तशती- ५००

२- .. - ४६३

३- .. - ५

क्या मैं अपराधी प्रतीत होता हूँ। तो उसका मुँह देखकर ही तथा नाफूसी पूर्ण वचनों को सुकर नायिका कहती है- हाँ क्यों न कहती, किन्तु तू धूर्त यदि मेरे सामने न होता और तेरा मुँह देखते ही तेरा मान न लज्जा जाता तो क्या मैं कुरूप वह नहीं पाती ?

(स) मध्या

मध्या नायिका का सामान्य लक्षण यह है कि यह मुग्धा नायिका की लक्षणा का अधिक कामपरवश होती है। इसका सौन्दर्य प्रिय की वश में करी में सार्व होता है। नायिका के प्रति सखी की यह उक्ति उसे इसीगुण का साक्षर उल्लेख करती है :

“ यो न गुरुभिर्न मित्रैर्न विवेकेनापि नैव रिपुहस्तिः ।

नियमितः सुन्दरि । स विनीतत्वं त्वया नीतः ॥ ” १

हे सुन्दरि । गुरुजन (जिनका वचन उल्लंघनीय नहीं होता) के वचन भी उसे सीधे रास्ते पर न ला सके, मित्रों का उपदेश उसके लिए व्यर्थ ही सिद्ध हुआ, विवेकशीलता को लेकर शत्रुओं द्वारा उपपन्न होकर भी जो नियन्त्रित नहीं हो सका था, उसे तुमने विनीत बनाकर अपने अधीन कर लिया है।

मुग्धा में लज्जा व उत्कण्ठा की समानता के कारण ही यह होता है कि वह प्रिय की साक्षात् दृष्टानुसार नहीं देख पाती जबकि मध्या प्रिय के मित्रों की भी जो भरकर देखती है :

‘ नानावर्णकरूपं प्रकल्पयन्ती मनोहरं तन्वी ।

चित्रकस्तुल्लिव त्वां सा प्रतिमिति भावयति ॥ ’ १

प्रत्येक दीवान पर नाना रंगों के रूपान् निर्वा की बनातेहुए मनोहर का ही चित्र बना देने वाली चित्रकार की तुलिका के समान वह कृपांगी नाना प्रतिमाओं के रूप की देखती हुई सबमें तुझे ही देखती है, तेरा ही ध्यान करती है।

(ग) प्रीटा

प्रीटा नायिका की प्रसूत विशेषता यह है कि उसका काम मुसहर ही उठता है और लज्जा मारी ज्वानर खरों खिस्का जाती है और फिर उसकी जो दशा होती है उसकी एक माला यह है :

‘ नेत्राकृष्टो भ्रामं भ्रामं प्रेमान्धरा यथाउचितं तया ।

ससि मथनाति मनो मन दधिपाण्डं मन्यदण्डं ह्य ॥ ’ २

हे ससि ! मेरे नेत्र से वाकृष्ट प्रिय घूम घूमकर ज्यों ज्यों रहता है त्यों त्यों मन्यदण्ड जैसे दधिपात्र की, मेरे मन की मथता रहता है।

मध्या और प्रीटा के अवान्तर भेद

काव्यशास्त्रियों ने मध्या तथा प्रीटा नायिकाओं के तीन तीन अन्य भेद इस प्रकार किये हैं कि पति के अन्या-

१- आयासिपाशती - ३४५

२- , , - ३४४

सबत होने पर इन नायिकाओं के हृदय पर क्या प्रतिक्रिया होती है ।
 सभी का स्वभाव एक सा नहीं होता । कुछ में सहनशीलता दृष्टि होती
 है, जो किसी में द्रोध की भावना । इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के
 आधार पर मञ्चा तथा प्रीटा नायिकाओं के तीन तीन अन्तर भेद किये
 गये हैं- पीरा, अपेरा, पीराधीरा ।

मञ्चा पीरा

प्रियम के अपराध को देखकर नायिका
 नाक से विमूढ नहीं हो पाती , न तो वह कठोर पल्ल कल्पती है और
 न रोती है, फिर भी वो ही कारणर उन्माद में प्रिय प्रिय को जता देती
 है कि वह वह उसकी अन्य- प्रणय लीलाओं से तपरिणित नहीं है :

“ लज्जायितुमस्मिन् गोपीनिपीतमनसं मधुलिङ्गं राधा ।

अत्रैव पुनश्च कथां शमीदंयिता धृतुष्टस्य ॥१॥

अपने प्रियों के मन को अपने लक्ष्मी किशोरा रूपी वृष्ण से उनकी लज्जित
 करने के लिए, राधा अनजान सी लीला, पार्वती के लक्ष्मी भाग से वृष्ण के
 लीला की कथा सुनती है।

बादल की तरह कहीं गई गई अन्योचित

भी द्रष्टव्य है :

“ प्रावृष्णि शैलेणीनितम्बमुष्णं न्दिगन्तरे प्रमसि ।

चक्रान्तरं घटं किं तव चक्रोर्गो पवनवशीडसि ॥” २

१- वार्यासप्तशतो - ५१०

२- " - ३६०

बर्बादिकाम में फँसत श्रेणी के कटकर प्रवेश को त्यागकर तू झर- उधर घूमता है, है चक्रान्तर फन । तेरा क्या अपराध है क्या तेरा दोष नहीं है, क्योंकि तू वायु के अधीन है।

मध्या अधीरा

यह नायिका गम्भीरता का बोध दूटने पर तथा धैर्य से विचलित होने पर भी प्रीति के समान कटु उक्तियाँ नहीं बोलती है किन्तु फिर भी उसमें निहित व्यंग अधिक हटीला तो ही उठता है :

“ करुणशिक्षा निहात प्रान्त्वा विश्रान्त रजनि दुरवाप ।

रवि रिव यन्त्रील्लिखितः कृशोऽपि लोकस्य हरसि दृशम् ॥ ” १

है बहुलसजातशालिन् । झर उधर घूमकर शान्त, रात्रि में दुर्लभ । यन्त्री-
लिखित सूर्य से दुर्बल और निस्तेज भी तुम संसार को सुन्दर लगते हो ।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए-

“ परपति निर्दयकृन्टाशीणित शठ नेर्ष्या न कीपे ।

दग्धममतीक्ष्णता रीदिमि तव तानर्ष वीक्ष्य ॥ ” २

जरे शठ । अन्य स्त्री के पति पर क्या न करने वाली कृन्टावी से तेरे शरीर का सार हर लिया गया । उन कृन्टावी से ईर्ष्या से नहीं, और न कीप से ही, बल्कि बली ममता से संतप्त मैं तेरी कृशता को देखकर रोती हूँ ।

१- आर्यासप्तशती - १६५

२- .. - ३६३

मध्या धीरा धीरा

कुछ नायिकाएं ऐसी होती हैं, जो कबसर पर न तो गम्भीरता ही धारण करती हैं, न कटु शब्द कहने में प्रवृत्त होती हैं। न तो वे इतनी धीराएं होती हैं कि उनका रोना उपहास में परिणत हो सके, और न इतनी अधीराएं होती हैं कि तत्काल रो-वृष्ण शब्द उनके मुँह से निकलने लगे। इस प्रकार की नायिकाएं या तो रीने लगती हैं या रुष्ट होकर माँ ज़डाकर एक ओर बंठी रहती हैं, कुछ कहती नहीं। ऐसी नायिकाओं को मध्या धीरा धीरा कहते हैं। जैसे- गोवर्धन के नायक द्वारा वर्णित इस सुन्दरी- की ही वैस लीजिए-

“अधीरितोऽपि निद्रामिषेण माहात्म्यमसृणया प्रियया ।
अबोधितोऽस्मि जपन्तो बाष्पास्तिमितेन तन्मे ॥” १

निद्रा के बहाने उसने मेरा तिरस्कार किया, किन्तु तुरन्त ही अपनी प्रशस्त वृत्तःकरण से स्निग्ध प्रिया ने कानिष्ठों से काई सेज द्वारा मुझे जपन बताया कि वह मेरे जपन स्वभाव के कारण दुःस्ति है। इस प्रकार प्रत्यक्षा न कहकर अप्रत्यक्षा रूप से मुझे अपराध से परिचित कराया ।

जिस नायक के कारणस्तना वलेश है उसकी उपेक्षा कर देना ही डीक है- ऐसा उपदेश देती हुई सली से नायिका कह रही है :

“रोक्नमैतद्वन्धं सति किं बहु मत्युरस्मिमानर्थः ।
स्वप्नेनैव हि विक्षितो नयममोहारिणा तेन ॥” २

१- वायसिप्तशती - ५०

२- ,, - ५०१

है सति । नयन व्यापार के साथ ही मनोव्यापार का उभाव कर देने वाले स्वप्नके समान नायक द्वारा विहित मेरा यह रीदन सर्वोत्कृष्ट है, अधिक बया कहूँ, मेरा मरण भी (जीवन की उपेक्षा) उचित है ।

जैसा कि कहा जा चुका है कि मध्या नायिका के समान प्रीढा नायिका के भीतीन भेद होते हैं- प्रीढा धीरा, प्रीढा अधीरा और प्रीढा धीराधीरा ।

प्रीढा धीरा

प्रीढा धीरा नायिका अपने रीति की पूर्णतया बिना लेती है। मध्या धीरा अपना रीति न तो हथे रखकर ही प्रकट कर सकती है, और न कटुवचन रखकर ही अपना आवेश हल्का कर सकती है। फलतः उसे वक्रवचन का वाक्य लेना पड़ता है। प्रीढा धीरा अपने रीति की शब्दों द्वारा प्रकट न करके चेष्टाओं और व्यवहार के माध्यम से अभिव्यक्त करती है, जो उसकी शिष्टता का प्रतीक है, कभी कभी तटस्थ भाव भी धारण कर लेती है। इस प्रकार का परिवर्तन उसके मान की सूचित करता है। जैसे सफ़्तनी यौवनाकृष्ट पति का विशेष उपकार करने वाली यह फ़्तनी-

“ अतिवत्सला सुशीला सेवाचतुरा मनो नुसूला च ।

अजनि विनीता गृहिणी सपदि सफ़्तनीस्तनीद्वये ॥ ” १

सफ़्तनी के स्तनों का प्रादुर्भाव होते ही (विलम्ब करने से नायक हाथ से चला जायेगा) तत्काल ही उस चतुर गृहिणी ने पहिले का सा रसिया झोड़ कर नायक के विनाय में अत्यन्त स्नेहवती, सुशील, सेवानिपुण, मनोनुसूल

वीर नम्र होगयी ।

ऐसा ही एक अन्य उदाहरण वीर लीजिए-

‘ सान्तर्यं मुनिष्या यथा यथा नरति समर्थां सेवाम् ।

साक्षरैश्चसमया तथा तथा गैहिनी तस्य ॥ ’ १

दासी हृदय में भय सहित, ज्यों ज्यों गृहस्वामी की अधिक सेवा करती है, त्यों त्यों गृहिणी वारंका से, ईर्ष्या से, भय से युक्त होती है। अतएव सर्वदा स्वामी की सेवा स्वयं करनी चाहिए, दासी आदि के द्वारा नहीं ।

प्रीडा कधीरा

प्रीडा कधीरा में कोप की पराकाष्ठा होती है। यह अत्यधिक कटु वचनों द्वारा नायक की तिरस्कृत नर्तकरीति अफ़िद उसके चरण प्राणिपात करने पर पेरों द्वारा ठहराती है। इसका कृपित रूप चण्डी रूप ही होता है। यह व्यवहार कृन्वपुत्रों के लिए उचित नहीं है। उदाहरण प्रस्तुत है -

‘ चफ़्फ़मुर्जगीमुबती जिम्मत । शीतलगन्धवह । निशिप्रान्त ।

वपराशां प्ररयितुं प्रस्यूषसदागते । गन्ध ॥ ’ २

चफ़फ़ सर्पेणियों द्वारा पान किया गया वीर बाद में त्यागा गया अतएव अतएव सविचन होने के कारण अस्पृश्य, वीरों से शीतल गन्ध लगाए हुए ,

१- बार्यासप्तशती - ६११

२- .. - २२३

प्रातः समीरण की भाँति सुगन्धित रात्रि में स्वर उधर भटकने वाले निशा-
चर, अब तू दूसरी (की) वाशा की पुरा करने के लिए जा ।

प्रीडा का नायक यदि शठ ती फिर
ऐसे दृश्य भी देखने की मिला सकते हैं -

‘ कृप्तिं नरणप्रहरणभयेन मुञ्चामि न स्तु नष्टि । त्वाम् ।
वलिर्निष्क नप्लक्सितय- ताडनसक्तो तर्ता भजते ॥ ’ १

हे मिया कीसी । तुम्हारे नरण प्रहार के भय से मैं, कृप्ति तुम्हें छोड़ने
की समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि मीरा , वायु द्वारा जबल किसलय का ताडन
सहकर ही लता का रसास्वादन करता है।

इस नायिका के मान का वर्णन भी देख
लीजिए-

‘ यन्निहितां शैशरयसि मालां सा यातु शठ भवन्तमिति ।
प्रहरन्ती शिरसि पद्म स्मरामि तां गर्भगुह्यकीपाम् ॥ ’ २

(मेरे मस्तक पर माला की देखकर) जिसकी दी गयी माला की सिर पर
मुष्णतात्वेन धारण कर रहा है, है शठ वहीं मेरे पास जाय, ऐसा कहकर
मेरे सिर पर चरण प्रहार करती, गर्भ से महाकीप वाली उसकी स्मरण
करता हूँ ।

प्रीडा धीराधीरा

यह न तो प्रीडा धीरा के समान रीण

१- आर्यासप्तशती - १८४

२- ,, - ४७२

की छिपाने में समर्थ होती है, न प्रीडा अधीरा के समान कटू वाक्य ही कह पाती है। यह नायिका इन दोनों के बीच का मार्ग अपनाती है। वह ऐसे वचनों द्वारा क्रोध प्रकट करती है जिन्हें कटूवित भी नहीं कहा जा सकता और सरल उक्ति में भी नहीं कहा जा सकता ।

मध्याधीरा भी व्यंग्य कथन का वाध्य होती है, किन्तु वह नायक के अपराधों को स्पष्ट नहीं कहती । प्रीडा-धीराधीरा स्पष्ट रूप से नायक के दोष का प्रस्थापन करती है ।

“ कृतकस्वाप मदीयश्वासञ्च निदत्तकर्णं किं तीव्रैः ।

विध्यसि मां निःश्वासेः स्मरः शरैः शब्दवैधीव ॥ ” १

हे मिथ्यासुप्त । (जब यह तो जाये तो मैं उसके पास जाऊँ-इस वाक्य से) मेरी श्वास ध्वनि की वीर कान दिशे, शब्दवैधी कामदेव की तरह अपने दीर्घश्वास रूप तीक्ष्ण शरों से क्यों पीड़ित कर रहे हो ? (कल से क्यों ? जाना है तो रो ही जाओ । मैं तुम्हें कब रोक्ती हूँ) ।

ब- परकीया

काव्यशास्त्रियों ने परकीया नायिका के कन्या, परीडा , गुप्ता, विदग्धा, मृदिता आदि कई भेद माने हैं । जार्यासप्तशती में इनके सभी भेदों के उदाहरण उपलब्ध हैं।

१- जार्यासप्तशती- १५२

१- कन्या

कन्या यद्यपि परस्त्री नहीं होती है फिर भी 'पिता रक्षति कीमारे' के अनुसार गुरुजन के अधीन रहने के कारण उसका मित्त, सुरत आदि स्वकीया नायिका के समान सुलभ नहीं है। धर्मशास्त्र एवं लीकदृष्टि से कन्या का प्रेम अनुचित माना जाता है। हाँ वात्सल्य प्रेम के रूप में परिणत हो जाये तो धर्मशास्त्र की दृष्टि से बुरा नहीं माना जाता। अतः जिसकी शादी न हुई हो वह लज्जाशील, नवयौवना कन्या कहलाती है। उदाहरण लीजिए-

“ वाकृष्टिमग्नकटकं केन तव प्रकृतिकीर्त्यं सुमगं ।
धन्यैः मुजमृणालं ग्राह्यं मदनस्य राज्यमिव ॥ ” १

हे लौभाग्र्यशालिनि । बलम्बन मात्र से जिसका कंकण टूट गया, जो स्वभावतः कीमल है, तुम्हारे भुज मृणाल को कौन पुरुष कामदेव के राज्य से ग्रहण करेगा ।

एक अन्य उदाहरण वीर लीजिए -

“ मत्स्यपह्वनीऽपि गिरिशैः स्नेहमयी त्वमुचितेनसुमगासि ।
मीनस्त्वयि जनवासी यदीनाधिप्रस्यदुक्षितेति ॥ ” २

मत्स्य से मत्सि, शिव में भी प्रीति रहने वाली तु सबभुव ही सुमगा है (यद्यपि शिव भी तुम्हारे प्रति वाकृष्ट है) । वीनाधिमय तिसरी वाली हिमालय की कन्या है (बातः जादू टीना, वीनाधि आदि उप-

१- वायसिस्तुती -६८

२- .. -४२१

चारों से प्रिय को बल में कर लिया तोरे विषय में यह लीकवाद मिया है) ।

२- परोढा

परोढा नायिका का प्रेम न तो लीकस्मृत है, न इसे प्रधान रस के रूप में स्वीकार किया गया है। यह नायिका लीरी से रस करती है। इस प्रकार लीकाचार के विरुद्ध आचरण कर पति के वति-रिपत वन्य से प्रेम करने वाली स्त्री परोढा नायिका कहलाती है। वार्या-सप्तशती में परोढा का वर्णन अनेक पदों में किया गया है। परोढा जीलप भुजंग की लफापाती पत्नी जीम की गोवर्धनाचार्य ने कहते हुए हुना है कि -

“ वसती कृष्णा धीरा मीढा प्रतिकेशिनी यदाववितम् ।

कुरुते सरसा न तदा ब्रह्मानन्दं तृणं मन्ये ॥ ” १

वसती (प्रिय से हो, पति से नहीं, अन्य प्रेम करने वाली) उद्दीमवा अतएव स्थिर प्रेम करने वाली मीढा अर्थात् कैलिकला मर्मत पदासिन जब आचवित रहती है, तब ब्रह्मानन्द को भी तृणवत समझता है ।

पड़ौसी के प्रति अन्य आचवित रत्नेवात्री इस वंश्य पत्नी की उदारता भी देखते ही बनती है जो नवीढा सप्तनी की सखी के समान पति के कैलिकुह में पहुँचाती है पर पति से किनारा काट जाती है -

“ केलिनिबन्ध सखीमिव नयति नवीढा स्वयं न मां भजते ।

वृत्त्यं गृहिणीयं स्तुवति प्रतिकेशिना वसितम् ॥ ” २

१- वार्यासप्तशती - ७०

२- .. - १५०

सती की भाँति नवोढा को ढीढ़ागृह तक पहुँचाती है और स्वयं मेरा उप-
भोग नहीं करती- इस प्रकार वेश्य के प्रथम पत्नी की प्रशंसा करने पर पड़ोसी
इस पड़ा -

वैय जी मैं वास्तव इस नायिका का ज्वर
के प्रति भी यह समर्पण भी कुछ कम रसिक नहीं है :

“ ज्वरवीतीषधबाधस्तिष्ठ सुखं दत्तमगमस्मि ते ।

बहुन्मलोहाकर्षणपाद्याण सते न मोक्ष्यसि माम् ॥ ” १

हे ज्वर । (तुम सदा बने रहो- इसलिए मैं बीजध सेवन नहीं करूँगी)
तुम्हारी बीजध - बाधा छट गयी । मैं सारा शरीर बड़ी प्रसन्नता से
तुम्हें समर्पित कर दिया । तुम्हें वेश्यरूप लीहे की सत्किर लाने वाले तुम्हारे
ससे । वागे भी तुम मुझे कभी न छोड़ना ।

२- गुप्ता

जब नायिका अपने सिद्धों द्वारा स्पष्ट
प्रकट प्रेम व्यापार की छिपाने का प्रयत्न करती है, तो वह गुप्ता कहलाती
है। इसे भाव- गोप्ता और सुरगोप्ता भेद से दो प्रकार की मान सकते हैं।
भावगोप्ता का एक उदाहरण लीजिए-

“ वरुण विनीतमाना गृहिणी हर्षास्त्वस्तुपीयतम् ।

बुम्बननिषेधमिच्छती वदनं पिधति पाणिभ्याम् ॥ ” २

१- वार्यासप्तशती - २४०

२- .. - २७६

नायक को देखते ही उसका मान चला गया है, बहुत दिनों के बाद प्राप्त दर्शन के दर्शन से उसके मुसमण्डल में कपीलतन प्रसन्न हो रहा है। केवल इस भाव को बिपाने के लिए ही तृप्ति निषेध के बहाने वह गृहिणी हाथों से मुस्कृत रही है।

निषेध के माध्यम से 'हां' करने वाली भावगोष्ठा की कुराहें कैसी स्पष्ट हैं कि जिसका उल्लेख नायक अपनी मित्र से इन शब्दों में करता है :

‘सखीडस्मितमन्दश्वसितं मां मा स्मृति शिस्तया ।

वाकोपेत्य वातायनं पिथाय स्थितं प्रियया ॥’ १

(सुरतार्थ मेरे द्वारा झेदी गयी) प्रिया ने सखियों के देखने से लज्जा (मनोनकूल कार्य के संपादन होने की वाशा से) मुस्कान और (मदना-विभक्ति से) मन्दश्वास सुवत, मुझे मत भूना- ऐसा कहते हुए सिद्धको बन्द कर ली ।

सुरतगोष्ठा का यह तप गौवर्धनाचार्य की अपनी कल्पना है कि वह सुरत को ही नहीं अपितु प्रवास से लीटे हुए पति को ही पूरे एक दिन तक लीनों की नजर से बिपाये रखती है :

‘प्रतिवेशि मित्प्रबन्धुषु दूरात्कृच्छ्रगतोऽपि गेहिन्या ।

वतिके लिलम्पटतया दिनमेकमगोपि गेहपतिः ॥’ २

गृहिणी, दूर देश से बड़ी कठिनाई से वाये गृहस्वामी को अत्यन्त श्रद्धा-सक्ति के कारण एक दिन तक पड़ीसियों, मित्रों और बन्धुजों से बिपाये

१- वायसिप्तशती - ६२

२- .. - ४०१

रही वधातु ये लोग एक दिन तक जान नहीं पाये कि वह घर जागया है।

नायिका के शरीर और मन की द्विधा स्थिति में संपन्नमान सुरत की इस वीमत्स परिकल्पना के जाग्राम भी देखिए- जो बरबस ही लक्ष्मीय शृंगार की दुर्गन्ध से लम्पट भुज्जों की भी नाक - पीह सिकोड़ने के लिए बाध्य कर सकती है :

‘श्रीणी भूमावकी प्रिया मय मनसि पतिभुजे मौलिः ।

गुहस्वासी वदने सुरतमिदं चैत्तृणां त्रिविधम् ॥’ १

भूतल पर नितम्ब, ली में प्रिय, मन में कदाचित् पति जान जाये ऐसा मग गुहस्वासी के उपधानरूप भुजा पर शिरोभाग, मन में पति सुन लेगा इस मग से गुप्त श्वास, इस प्रकार का सुरत यदि लम्ब्य ही तो स्वर्ग भी उसके समक्ष सुन्द है।

एक अन्य उदाहरण भी लीजिए जिसमें नायिका ही नहीं वरिष्ठ नायक भी मावगोप की चेष्टा करता प्रतीत होता है :

‘त्वत्प्रकथां मुसुरः समिन्दसानन्दसावहित्थ ह्य ।

उ त्तु सखीनां निभृतं त्वया कृतार्थकृतः सुमगः ॥’ २

वह सौभाग्यशाली नायक, सखियों से द्विपाकर वेरे द्वारा कृतार्थ किया गया, कहीं तेरी चर्चा करने पर समिन्द, सानन्द, वाकारगोपान्- वा , बार-बार उत्तर प्रत्युत्तर करता है।

१- वागसिप्तशती - ५६

२- .. - २६६

४- विदग्धा

वफो मनीभाव की उत्तरार्धपूर्वक अन्य जीगों के समझा भी प्रिय के प्रति प्रकट करने वाली नायिका विदग्धा कहलाती है। इस नायिका के दो भेद होते हैं। वाग्विदग्धा वाणी द्वारा और क्रिया-विदग्धा चेष्टाओं द्वारा अपनी बात व्यक्त करती है।

५- वाग्विदग्धा

“मम सत्या नयनपथे निहितः शक्नो न कश्चिदपि चर्तुः ।
पतितोऽसि पथि विषामे घट्टकृटीर्यं कृत्स्नकैतौः ॥” १

हे पथिक । मेरी ससी के कटाव जिस पर पहुँच गये आज तक उनमें कोई नहीं जा सका (उसका सौन्दर्य देखकर कौन नहीं आसक्त हो गया) वतः तु वापत्ति में पहुँच गया है। यह मदनराज की महसूज उगाहने की लीको है। (नोट- घट्टकृटी- महसूज उगाहने की लीकी होती थी और लोग इस महसूज से बलने का प्रयत्न भी करते थे) ।

इस उक्ति में नायिका की ससी का तान्त्रिक-दृष्ट्य दर्शनीय है जिसके द्वारा वह नायिका के मौलिक सौन्दर्य की ही नहीं उसकी सहज उपलब्धता की भी बड़ी कारणर अभिव्यक्ति कर देती है।

इस अन्य प्रसंग और लीजिए -

“वासाय भगमनया धूते विहिताभिहृषितकैलिपणी ।
निःसारतापानिति कष्टरुणीत्सरिताः सत्यः ॥” २

१- वार्यासप्तशती - ४५६

२- .. - ७

पूछल श्रीदा में जिसमें हारा हुआ व्यक्तित्व, विजयी की ह्मशानुसार सुस्त
दान है- यही पण दान पर लगायी वस्तु था, नायिका ने पराजित होने
पर - पासों को दूर करी - इस प्रकार मिय्या कोष प्रकटकर सहियों को
हटा दिया ।

स- क्रियाविदग्धा

“ निरुविदारणतियंङ्गतकण्ठी निमुसृत्तिरपि बान्ता ।
त्वा मियर्गुन्नि निफाकवानकाशा विलीकयति ॥ ” १

बान्ता की फाड़ने से जिसका कण्ठ नीचे लुका है, ऐसी प्रतिकूल दिशा में
होते हुए भी बान्ता लीगलियों से बान्ता के बीच खकाश (जगह) बनाकर
हमें देख रही है।

नायक के प्रति नायिका की लगी की इस
उचित में जहाँ चाह है वहाँ राह है बान्ता लीकयति लीगलियों के लगे हुए
नायिका ने नायक को नयन भर देख लेने के लखर की फटक से की जातुरी
कितनी निग्रात्मक है।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए- जिसमें
पत्नीया का उपपति किस बकिफ के साथ पति- सेवा में लगी अपनी
प्रेमशी को देखकर वास्तव हो रहा है :

“ संवाहयति शयानं यथोपजीवयति गृहपतिं गृहिणी ।
गृह वृत्ति विवरनिवेशितवृशस्तथाश्वासनं दूनः ॥ ” २

१- वायसिप्तशती - २३१

२- .. - ६४२

गृहिणी शयन करी गृहस्वामी का जितना पेर दबा रही है, मन्द मन्द पैसा फर रही है, जिसने घर की दोवार के छिद्र से दृष्टि डाल रही है, (बाहर से मरुति नाक ये सब उपाय मेरे पास आने के लिए किये जा रहे हैं - यह जानकर) कितना आश्चर्य प्राप्त करता है।

२- विलक्षिता

प्रयत्न करने पर भी जब नाशिका अपने मान या सूरत का गोपन नहीं कर पाती, तो लक्षित होजाने के कारण वह विलक्षिता कहलाती है -

“ जीवामि लक्षितावपि दिनेति तज्ज्वातशेन गेहिन्या ।

मयि निष्कृताऽपि बाह्यैरखैर्व्यज्जिता मानः ॥ ” १

मैं अवधि दिन बिताकर भी जी रही हूँ, इस लज्जावश गृहिणी ने यद्यपि बहुत शिपाया तथापि मदविषयक उसका मान, बासुजी से, जो किसी प्रकार रोकें नहीं जा सके, फूट ही गया ।

“ युनः कण्ठविटपा निवाञ्चग्राहिणस्त्यजन्ती सा ।

वन ह्य पुरेऽपि विचरति पुरुषाणां त्वामैव जानन्ती ॥ ” २

वन में जंगल के सा जेने वाले कण्ठक वृक्षाँ के समान नगर में भी फल जेने वाले युवकों की शोइल। हुई तुमकी ही पुरुष समझती विचरती है।

“ कुरुष्वतरामया सुरागतये स्यापितीत्तरीयस्य ।

वयैकवासस्तव सर्वयुगलोऽधिका शोभा ॥ ” ३

१- आर्यसिप्तशती - २२८

२- .. - ४६२

३- .. - ४८

(हे सुभा) अबो कहाने से तुम पुनः जा सकी- इस प्रीति से अत्यंत समझी ने जो तुम्हारा उत्तरीय बल्ल रंग लिया । अतः तुम्हारे पास एक ही बल्ल है फिर भी यह लज्जा की बात नहीं है, क्योंकि उसका प्रेमपात्र होने के कारण अमस्त ऐश्वर्याशाली सुभा है तुम्हारी सीमा ही अधिक है। (अतः लज्जा की बात अन्य सुभा के लिए है) ।

६- कुन्टा

“ वन्तर्निपतितगुणानुपमस्यणीयशब्दास्ति देवदारः ।

निपणीपीविनयव्ययसैनेन विदीर्णहृदय एव ॥ ” १

कुन्दर गिरे गुणानुपम से कुन्दर से, मानों अपनी रक्षा का के विनय विनाश के दुःख से विदीर्ण हृदय का अभिमत ही रहा है।

एक अन्य उदाहरण और नीचे- जिसमें कुन्टा पति की पीछा करके उसके सामने भी उपपत्ति के प्रति अनुराग प्रकट करती हुई नजर आती है :

“ वसना क्तपिबमिदमिति रुदती प्रत्तिस्त्रिभुङ्गुपियम् ।

रोन्मिषावन्तिनज्जा गृहिणी कर्णयति पतिपुत्रः ॥ ” २

रोती हुई , मिथ्या कीप से नज्जा नष्ट कर, गृहिणी उसके द्वारा यह यह तंग प्रताड़ित हुआ है- पति के सामने प्रत्येक वंग की पड़ीसी की दिखाती है।

१- वार्यासिप्पशतो - ७२

२- .. - ७३

७- कुशयाना

जब स्वयं समय पर लैत स्थान पर न पहुँचने के कारण, नायक के मिलन की सम्भावना न रहने से या लैत स्थान नष्ट हो जाने से नायिका पश्चाताप करने लगती है, तो वह कुशयाना कहलाती है।

“कीमति पाणिनीलाचलवृताद्विरे स्वयि प्रमति ।

करम्पितकरवाले स्मर ह्य सा मुञ्चिता मुतनुः ॥” १

शोध युवत हाथ में लीला से चँवल जाग्रपल्लव लिये, हाथ में लहंग लफफाते कामदेव के समान तेरे घुमने पर वह सुन्दरी मुञ्चिता होगयी ।

कुशयाना का यह पश्चाताप भी उल्लेखनीय है जितने दूर अपने प्रिय की कुछ न कुछ सेवा कर रही है :

“रन्ति निरुजफर्मेभिदुक्पात्रे ददाति सावजम् ।

परुषितमपि पुनित्वात् बहुष्णं कपूरन्म ॥” २

भिदुक रूप में नायक के (लैत स्थान के) निरुज फर्मे से बने पात्र में (जीग रहस्य की न जान सके अतः) अनापुर्ण वासी भोजन की भी कमी न पहुँचने के दुःख से अत्यन्त उष्ण खाँसों से कुछ उष्ण बनाकर नायिका दे रही है।

८- मुषिता

कुशयाना से बिल्कुल विपरीत परिस्थिति

१- वार्यासप्तशती - १६०

२- .. - ४६५

बाजी मुदिता नायिका कहलाती है। क्योंकि सम्भोग प्राप्ति की वांछा से मुदित होने के कारण उसे मुदिता कहते हैं :

“ प्रिय वायातो दूरादिति या प्रीतिक्रम गेहिन्याः ।

पथिकेभ्यः पूजित इति गर्वात्सापि स्तसितरा ॥ ” १

दूर से प्रिय जा गया इस कारण गृहिणी की जो प्रसन्नता हुई वह, अन्य पथिकों की पीछे झौड़ उनसे पड़े जा गया । इस वृत्तान्त की जानकर मानों सौगुनी ही उठी ।

इस अन्य उदाहरण और लीजिए जिसमें नायिका न केवल मुदिता ही है अपितु प्रेमवर्जिता भी । प्रेमवर्जिता की अपने प्रति पति के प्रेम की अकान्त एक निष्ठता के कारण यह गर्ववित्त स्वाभाविक ही है :

“ सति शृणु मम प्रियौदयं गेहं येनैव वत्यनायातः ।

तन्नगरग्रामदोः पूरति सम्भागवतानन्यान् ॥ ” २

हे सति । सुन । यह मेरा प्रिय परदेश है जिस मार्ग द्वारा घर को जाया , उसी मार्ग में पड़े नगरों, गाँवों और नदियों की मेरे ध्यान में निमग्न होने से न जान सकने के कारण अपने साथ जाये अन्य साथियों से पूरता है।

स- सामान्या नायिका

सामान्या या साधारणी नायिका वेश्या

१- वायसिपातली - ३८६

२- ,, - ५६५

की कहते हैं। वैश्या का प्रेम-प्रदर्शन धनीपार्जन के लिए होता है। अतः उसमें न तो प्रेम की गम्भीरता या सघनता ही है, न धार्मिक सामाजिक दृष्टि से ही इसे उचित समझा जाता है। अतः साधारणी नायिका का प्रेम वर्णन न तो धर्मशास्त्रों के अनुसार है न साहित्यशास्त्र ही इसे उपयुक्त मानता है। फिर भी नायिका भेद में सामान्या नायिका का अस्तित्व तो है ही।

गोवर्धनाचार्य ने सामान्या नायिका के प्रेम की भंगुरता और अवास्तविकता का उल्लेख करते हुए लिखा है :

‘ अविविहितं विनिश्चितमिव युवसु स्वच्छेषु वारवामपुशः ।
उपदर्शयन्ति हृदयं दर्पणविम्बेषु वदनमिव ॥ ’ १

वैश्यायें, निर्मल वस्तु-करण वाले युवकों में अपनी हृदय की समर्पित नहीं करती, केवल समर्पित किया हुआ सा दिखाती हैं, जैसे दर्पण में मुस वास्तव में रहता नहीं, केवल निश्चित सा दिखायी देता है।

वारगिना प्रेम के परिणाम का उल्लेख करते हुए गोवर्धनाचार्य ने बताया है कि तत्कालीन समाज के कृत्रिम स्वर्ण देकर लोगों को ठगने वाले ठगों के अस्तित्व पर भी प्रकाश डाल दिया है :

‘ कृत्रिमकृत्रिणैव प्रेम्णा मुञ्चितस्य वारवनिताभिः ।
लघुरिव वित्तविनाशकेशौ जनहास्यता मयसौ ॥ ’ २

जैसे रासायनिक अपनी कला है मिथ्या निर्मित होने से टगता है और ठगे हुए व्यक्ति का जो धन जाता है वह शीघ्र है, उसकी मूर्खता पर जो के

लोक निन्दा होती है वह बड़ी है। ठीक इसी प्रकार वास्तविकताओं से कृत्रिम द्वारा ओ गये व्यक्ति को धन नाश से उत्पन्न बलेश तो कम है, जो लोक निन्दा होती है वह बहुत बड़ी है। (अतः सामान्या नायिका का संग उचित नहीं है।)

प्राचीनकाल में वैश्याओं को जो एक प्रकार की सामाजिक स्वीकृति तथा सम्मान की स्थिति प्राप्त थी वह मध्यकाल के वाते वाते समाप्त हो चली थी और उनके कला गुणों की उपेक्षा तथा प्रेम वाक्य और धनहीनता की निन्दा होने लगी थी। गीवर्धनाचार्य ने भी स्त्रियों के साथ साथ वारंगिताओं की भी जमकर निन्दा की है -

“ निबगान्न निविशेनस्था फिमपि शरमस्तिन्मादाय ।

निर्माकं च मुञ्चति मुञ्चति पुरुषं च वारवधूः ॥ ” १

वफे शरीर के समान ही रहकर मो, समग्र सारभूत तत्त्व को लेने के बाद सर्पिणी जैतुल को और वैश्या पुरुष को त्याग देती है।

इसी प्रसंग में एक अन्य उदाहरण और

जोड़िए -

“ वक्राः कष्टस्निग्धा मन्त्रिः कर्णान्तिके प्रसज्यन्तः ।

कं वञ्चयन्ति न ससे स्नायन गणिका कटाक्षाय ॥ ” २

है ससे । वक्र कष्टपूर्ण स्नेह रखने वाली, मन्त्रि कर्णप्रान्त में लगते हुए कम और गणिका के कटाक्ष सभी को धोखा देती है। (अतः उन दोनों से बचें रहें) ।

नायक के प्रेम के बाधा पर नायिका -भेद

जिस नायिका के प्रति नायक का प्रेम अधिक उत्कण्ठापूर्ण होता है तो वह नायिका भेद की दृष्टि से ज्येष्ठा और जिसके प्रति विपदाकृत रूप होता है वह कनिष्ठा कहलाती है।

१- ज्येष्ठा

‘अभिनवयौवनदुर्जयविपदाजनहन्यमानमानापि ।

सुनीः फिप्रियत्वादिभक्तिं सुमगामदं गृहिणी ॥’ १

(अप्रकृता होने के कारण) अभिनवयौवनशालिनी अतएव दुर्जय उपलिनगी के द्वारा मान का हनन किये जाने पर भी गृहिणी अपने पुत्र के पिता को प्रिय होने से सीमान्यशालिनी होने का गर्व रखती है।

प्रभावशाली अप्रस्तुत द्वारा अनेकत्र इस नायिका की अवतारणा रहित-शिरीनणि गोवर्धनाचार्य ने की है :

‘निस्त्रियामस्यामपि धैर्यका मनसि मे स्फुरति ।

रसान्तरोपधानात्पत्न्यादाराविरिष दयिता ॥’ २

यद्यपि मन में यह द्वितीय नायिका निहित है तथापि वही एक प्रिया स्फुरति होती है- उसी की शोभा इससे बढ़ती है- उसी में मेरी वासवित है। जैसे- पद्माक्षर की वैभक्ति के ऊपर रसान्तर विधान से उसी पद्माक्षरवैभक्ति की शोभा बढ़ती है, लेख या पाठक का ध्यान भी रसान्तर पर नहीं वलर

१- वार्यासप्तशती - ५२

२- .. - ३३७

वैदित पर ही रहता है।

एक अन्य उदाहरण और देखिए -

“ जायाति याति खेदं करोति मधु हरति मधुरीषान्या ॥

वधिवेदता त्वमेव श्रीरिव कमलस्य मम मनसः ॥ ” १

वह अन्य कंगना जी प्रमरी की भाँति जाती जाती है, सुखे सिन्न करती है, धन हथ मकरन्द ने जाती है, कमल की लक्ष्मी के समान मेरे मन की वधिवेदता तू ही है।

२- कनिष्ठा

“ सा दिवसयोग्यकृतव्यपदेशा केवलं गृहिणी ।

दितियैर्दिवसस्य परा तिथिरिव सेव्या निमि त्वमसि ॥ ” २

वह नायिका दिन योग्य कार्य करने से उसकी गृहिणी है। जैसे दो तिथि वाले दिन की हथरी तिथि रात्रि में उन्म होती है उसी प्रकार रात में तू सेव्य है। इस उक्ति से स्पष्ट है कि कनिष्ठा नायिका के प्रति नायक का प्रेम सफ़्तनी की अपेक्षाकृत कम है।

कवस्था के आधार पर नायिका-भेद

जैसा कि कहा जा चुका है कि काव्यशास्त्रियों ने कवस्था के आधार पर नायिकाओं के आठ भेद माने हैं :

१- स्वाधीनपतिता

१- वार्याभिप्लवर्जिता - ८२

२- .. - ५८

- २- सण्डिता
- ३- वधिसारिका
- ४- कलहान्तरिता
- ५- विप्रबन्धा
- ६- प्रोणितपत्निका
- ७- वासकसज्जा
- ८- विरहोत्कण्ठिता

इन सभी के उदाहरण भी आर्यासप्तशती में उपलब्ध हैं।

१- स्वाधीनपत्निका

जिसके रति गुणों से आकृष्ट पति उसे छोड़ नहीं पाता तो वह स्वाधीनपत्निका कहलाती है। उदाहरण प्रस्तुत है -

‘सत्यं वदुरी निवर्तं वदुरी नूनं कलाधरौ वदितः ।

स तु वैव न द्वितीयात्मकं प्रतिपदिन्दुरित् ॥’ १

वह सुन्दर, वशीकृतकुशल, कामकलाविज्ञ है- यह सत्य एवं निश्चित है किन्तु प्रिय वधवाद शून्य, द्वितीय तरुणों को नहीं जानता जैसे सुन्दर , वद , कलाधर निष्कल प्रतिपब्धन द्वितीयानामक तिथि को नहीं जानता ।

२- सण्डिता

जिसका पति अन्य नायिका के समीप भिन्न से युक्त होकर पास में जाता है, तब उसकी देखकर नायिका रुष्ट होकर

१- आर्यासप्तशती - क १

उससे बुरा मन्त्र कहती है, तो इस वला की प्राप्त नायिका की सज्जिता कहा गया है :

“ अपराधादधिकं मां व्यथयति तव कष्टवचनरचनेयम् ।
 उन्नायाती न तथा सूचीव्यथेदना यादृक् ॥ ” १

तुम्हारे अपराध से मुझे उतनी व्यथा नहीं हो रही है जितनी कि तुम्हारे कष्टपूर्ण वचनों से । समुच्च शस्त्र का बाधात उतना पीड़ाकारक नहीं होता जितनी सुई के चुभने की वेदना ।

एक अन्य उदाहरण में सज्जिता की उक्ति
 छुन लीजिए-

“ प्रातरुपागत्य मृणा वदतः सति नास्य विपत्तिः त्रीहिता ।
 मुक्ताग्नयापि योऽयं न लज्जो दग्धकात्किञ्चिद् ॥ ” २

हे सति । प्रातः पास जाकर झूठ बोलते इसे लज्जा नहीं है जो (नेत्र
 चुभने से) मुँह में लगी जली स्याहों से भी लज्जित नहीं होता ।

३- वमिसारिका

संकेत स्थल पर प्रिय से मिलने के लिए जाने
 वाली नायिका वमिसारिका कहलाती है। कीरोरात में अन्धकार में छिपी
 रहने के उद्देश्य से कृष्ण वस्त्र तथा चुनक पत्र में चाँदनी के साथ एक रूप होने
 के उद्देश्य से श्वेत वस्त्र धारण कर वमिसार कहने वाली वमिसारिकाई क्रमशः

१- वार्यासिप्पशता - ११

२- - ३५७

कृष्णाभिसारिका और शुक्लाभिसारिका कहलाती हैं।

क- कृष्णाभिसारिका

‘मृगमदलेपमेनं नीलनिनीलं निशिनिलीव त्वम् ।
कालिन्यामिन्दिवरमिन्दिरसुन्दरीव सखि ॥’ १

हे सखि । कस्तूरी का लेप किये हुए नायक का नील परिधान ही धारण कर रात में तू स्नान कर, जैसे कालिन्दी में नीलमल का प्रमरी उभोग करती है।

एक अन्य उदाहरण नीजिए जिसमें प्रिय के प्रति कृष्णाभिसारिका का प्रेमाधिनय देखिये -

‘पतिपुच्छनगात्री स्वशाखावीणापीडपि या समया ।
वमिसरसि सुमग सा त्वां विदलन्ती कण्ठकं तमसि ॥’ २

(जो छतनी कौमलगी है) शान्तिन ने समय पति के पुच्छ से बिल्ली गात्र हुकने लगते हैं, और जो छतनी भीरु है कि अपनी शाखा की पैसर जिसे हर लगता है, है सुमग । वह तुझसे मिलने के लिए अंधे में पैरों से कांटों की रौंदती हुई वमिसार करती है।

ख- शुक्लाभिसारिका

‘ज्योत्स्नाभिसारसमुत्तिवेली अगवीर्यमिन्दोत्तसि ।
विशसि मनी निशिलेव स्मरस्य कुमुदतरंगहृन्मृष्टिका ॥’ ३

१- वार्धसिप्तशती - ४५

२- .. - ३५३

३- .. - २४३

है बदिनी में अभिसार के कतुल वेशवाली । विकसित मल्लिका का सीस-
फूल रसने वाली । सान पर बढ़ाई गयी काख तीक्ष्ण, कुमुद रूप मुठवाली,
कामदेव की हरी सी लू मेरे मन में छुस जाती है।

शुक्लामिधारिका को प्रिय के पास जाते
हुए देखकर वार्याकार कहते हैं कि :

“ देहस्तम्भः रसान् शोधित्यं वैपथुः प्रियध्यानम् ।

पथि पथि गगनास्तेषः कामिनि कस्तौमिधारणः ॥ ” १

हे कामिनि । गतिनिरोध, च्छदस्मान्ना, निमित्ता, कम्पा, प्रिय का चिन्तन,
मार्ग मार्ग में वाकाशाग्निन - यह सब अभिसार का हीन गुण है ?

४- कनकान्तरिता

महूर वाम लीन्ने जाने प्रिय को भी जो
क्रीड के पारण नभसाति, पर मन में पालाजोपकी आ ल डौती है तो
यह कनकान्तरिता नायिका कहलाती है -

“ किञ्चिन्म बाण्योवर्तन सप्रसादा निमित्ता दृष्टिः ।

पथि पथपतिते केवळकारि शुक्लज्वरी निपुः ॥ ” २

मेरे धरों में फड़ने पर उस बाला ने न तो कुछ कहा और न मुझ पर प्रसन्नता-
पूर्ण दृष्टि ही डाली, केवल तीते का पिछड़ा (उठाकर) दूसरी ओर रख
दिया ।

एकवच्य उदाहरण और लीजिए :

१- आर्यासप्तशती - २७७

२- , - १५४

‘उपकारानुनयास्ते कितवस्योपेक्षिता ससीधनसा ।

बहुना निष्ठुरमपि यदि स वदति कल्कितायामि ॥’ १

पूर्व के पूर्ववत् उपकार जीर अनुनय , ससी दे कहने से घनी स्वीकार नहीं किने ।
यदि इस समय निष्ठुर वचन भी बोल देता तो वह कह के बहाने उसके पास जाती ।

५- विप्रलब्धा

संकेत- स्थल पर मिलने की प्रतिज्ञा करके भी जिसके पास प्रिय नहीं पहुँचता वह नायिका विप्रलब्धा कहलाती है।
ज्यादा संकेत स्थल पर पहुँच कर नायिका जब नायक की नहीं पाती, तब उसे विप्रलब्धा कहा जाता है :

‘प्रथमागतः सौत्कण्ठा चिरमन्तिरे विप्रलब्धीषी तु ।

वश्यन्ति सगिराणाः पथि तसस्तव समाधानम् ॥’ २

हे प्रथमागत ! यह (नायिका) तूही उत्कण्ठा से, बहुत समय हो गया,
पर ते का लुकी थी । (किन्तु अभी तक यहाँ नहीं पहुँची) उसके विप्रलब्ध
रूप अपराध के विषय में (उसके) अंगराग से निम्न मार्गत्य वृद्धा, तेरा
समाधान करेंगे ।

६- प्रीणितपत्निका

जिसका पति नानाविध कार्यों के कारण

१- वार्यासप्तशतो- १२०

२- ,, - ३६७

दूर देश में चला गया हो, वह काम पीड़ित प्रीणितपत्निका कही जाती है। यह नायिका प्रसत्पत्निका, प्रसत्स्यत्पत्निका और वागतपत्निका में से तीन प्रकार की मानी गयी है।

क- प्रसत्पत्निका

“त्वद्गमनविवसगणनाञ्जलारेखाभिरकिता सुमग ।

गण्डस्थलीवतास्याः पाण्डुरिता भवनमिति रपि ॥” १

हे सुमग ! तुम्हें इतने दिन हो गये । इस बात की जानकारी के लिए उज्ज्वल रेखाओं से चिह्नित उसके घर की दीवान मी, उसकी गण्डस्थली की भाँति ही धवला की प्राप्त होगयी ।

ख- प्रसत्स्यत्पत्निका

“धाप्याधुनम् प्रलफोर्गृहिणी निवर्तस्य कान्तगच्छेति ।

यासं दैवस्योदितं नृगमनाय प्रि सरसीरे ॥” ३

प्रिय कहता है- गृहिणी लौट जाओ किन्तु वह लौटती नहीं गृहिणी कहती है, कान्त जाओ परन्तु प्रिय नहीं जाता । इस प्रकार अर्थक कहते हुए दोनों का दिन जुगम की लीमा शरीर के तौर पर बीत गया ।

ग- वागतपत्निका

प्रिय जब प्राप्त है लौटकर वा जाता है

१- नानाकार्यज्ञाख्या हरदश गतः पतिः ।

सा मनोभवदःसार्ता भौतप्रीणितपत्निका ॥ विश्वनाथ-साहित्यपेठा ३८४

२- वार्यासप्तशतो - २६०

३- ,, - ४०६

तब से लेकर वास्तविक मिलन होने तक अत्यन्त उत्कण्ठा होने के कारण नायिका वागतपत्तिका बियोगिनी मानी जाती है :

° प्रिय जायातो दूरादिति या प्रीतिर्वभूव गेहिन्याः ।

पथिभ्यः पुष्पांगत इति गच्छात्सापि अतस्तिरा ॥ ° २

दूर से प्रिय जा गया इस गर्व से गृहिणी की जो प्रसन्नता हुई वह अन्य पथिकों की पीछे छोड़ उनसे पहिले जा गया । इस घृतान्त की जानकर मानी भोगिनी हो गयी ।

विशोत्कण्ठिता

जिसका पति जाने का निश्चित स्वरूप करके भी देववश नहीं जाता है तो वह उसके न जाने से दुःखित होने के कारण विशोत्कण्ठिता कहलाती है। गोवर्धनानार्य ने बड़े ही वाग्वेदगुण के साथ इस नायिका का वर्णन किया है :

° अक्षिः स्वभ्यो यः प्रीभ्यो दृदि स्थितः उत्तमम् ।

७ सुठति विशे नामः कण्ठेऽस्यास्त्वमिव संभोगे ॥ ° २

जो सब प्रियों से अधिक प्रिय निरन्तर हृदय में स्थित संभोग में इसके कण्ठ में तुम्हारे समान रहने वाला जोव विश्व में निकलने के लिए छूट पड़ा रहा है।

एक अन्य उदाहरण और नीजिए-

१- जायोसप्तशता - ३८६

२- .. - २५

* व्यालम्बिचूर्णकुन्तलहृम्बितनयानिले मुले तस्याः ।

वाष्पजलविन्दवोऽलकमुक्ता ह्य पान्य निपतन्ति ॥ * १

हे पान्य । उसके मुल का नयन प्रान्त, जागे की और विशेष लटकते हुए
घुंघराके बालों के चम्पित होने पर जड़ों की झुंड़ जल्कों के मोड़ियों के समान
गिर रही हैं।

दशभेद के हस्- मीरिका र मानुषत्त ने
नायिकाओं के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है- अन्यसीमोगदुःस्तिता, गर्विता
और मानवती ।

(क) अन्यसीमोगदुःस्तिता

जब नायक के पास प्रेषित वस्ती ससी,
हूती, या उपस्ती की, हस्त चिह्नों के कारण नायक द्वारा उपभुक्त
होने का अनुमान करती है, तो उस समय वह तीव्र वेदना का अनुभव करती
है, यतः यह अन्यसीमोगदुःस्तिता कहलाती है :

* जहन्ति सल्लो विभृशां प्रातर्लला विनीयय मुर्तिं प्राक् ।

प्रियगिरसि वाप्य यावत्तथ निःश्वासितं सपत्नीभिः ॥ २

प्रातः जाग्य के आनन्दधर्मा की वस्तु व्यस्त न देखकर सपत्नियाँ पहले तो
प्रसन्न हुईं, परन्तु उसके बाद ही प्रिय के मस्तक पर महाभार देखकर दुःखी
हो उठीं ।

१- आर्यासप्तशती - ५१४

२- .. - १८

(स) गर्विता

गर्विता नायिका के कौन से भेद हो सकते हैं-
रूपागर्विता, गुणगर्विता, प्रेमगर्विता , सीमाग्य गर्विता आदि ।

१- रूपागर्विता

“ वादरणीयगुणा सखि महता निहितासि तेन शिरसि त्वं ।
तव लाघवदोषोऽयं सीधक्ताकेव यत्त्वसि ॥ ” १

हे सखि । तुम्हारे सौन्दर्य वादि गुण परास्नीय हैं, जिससे उस महान् नायक द्वारा तुम सिर पर रखी गयी हो, परन्तु तुम्हारा यह लक्ष्मा रूप दोष है, जो तुम अच्छे गुणों वाली, प्रासाद द्वारा अग्रभाग पर धारण की गयी सीधक्ताका की भाँति चंचल होती हो ।

एक अन्य उदाहरण और देता नीजिए-

“ यो गुरुभिर्न मित्त्रैर्न मित्रेणापि नैव रिपुहसितेः ।
नियतिपूर्वः सुन्दरि स विनीतित्वं त्वया नतः ॥ ” २

हे सुन्दरि । जिसे गुरुजनों तथा मित्रों का उपदेश भी रास्ते पर नहीं ला सका , शत्रुओं की हँसी की भी जिसने परवाह नहीं की , उसे तुमने अपनी अधीन कर रास्ते पर ला दिया है।

२- गुणगर्विता

गौवर्धनान्तर्ये इस नायिका का बन्धुवित्त

१- वायसिप्तशतौ - ७६

२- . . - ३३३

के माध्यम से वर्णन करते हुए कहते हैं कि :

“न गुणैर्न लक्षणैऽपि च वयसि च रूपे च नादरो विहितः ।

त्वयि सौम्येयि घण्टा कफिगुप्तीति बद्धेयम् ॥” १

है सौम्येयि । कफिगुप्ती होने के कारण यह घण्टी तुममें बांधी गयी है। इससे तेरे गुण, लक्षण, तारुण्य और रूप का जादर नहीं किया गया है।

३- प्रेमगर्विता

“रौजीणीव मया सति वश्रौऽपि ग्रन्थिनीऽपि कठिनौऽपि ।

क्षुतामनीकृत्य सधः स्वेदेन वीज हव ॥” २

इस वश्र क्षुमार्गंगापी, ग्रन्थि (वस्तुवादी) निष्ठुर एवं कठोर भी नायक की है सति । मैं रौजा से ही, माप से टेढ़ा, गठितार एवं कठोर बसि सोधा हो जाता है- लोधा एवं सरा बना दिया ।

४- सौभाग्य- गर्विता

“बहुयोजिनि पति के सिर की महावर से ज्ञान देकर उसके मित्र ने उसका

तत्कालक नित्यज्जा पिशुनयति समीष्टु सौभाग्यम् ॥” ३

मजाक उड़ाया तो नायिका उस समय तो लजा गयी लेकिन बाद में सतियों

१- तार्यासिप्तततो - ३३३

२- ,, - ५०२

३- ,, - ४०३

में वफा सौभाग्य व्यक्त करती है ।

(ग) मानवती

‘सङ्गोढस्मितमन्दस्वसितं मां ना स्फुरीति शैलन्त्या ।

वाकीर्णेत्य वातायनं पिधाय स्थितं प्रियया ॥’ १

प्रिया ने लज्जा, मुस्कान और मन्दस्वास से युक्त, मुझे मत डूना, शीघ्र ही होकर सिद्धी करके शान्त हो गयी ।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए-

‘विस्तिवि विधानुबन्धो मानीन्ततयावधीरिति मानी ।

लभते हृतः प्रवीर्य च जागरित्वैव निद्राणः ॥’ २

जिसने पुन्हाही प्रत्यावना के जने उपाय किये, परन्तु तुम मानवविता से तिरस्कृत हुना, वह अभिनानी जागता हुना ही तो रहा है, उसे कैसे जगाया जा सकता है ?

नायक भेद

काव्यशास्त्र के अनुसार नायक के चार भेद माने गये हैं- अनुभूत, दक्षिण, पूर्व और शठ ।

१- अनुभूत नायक

अनुभूत नायक एक पत्नीव्रती होता है,

१- आर्यासप्तशती - ६२

२- .. - ५२७

बह किसी अन्य रमणी में वासक्त नहीं रहता है। इस प्रकार के नायक में नायिका के अनुकूल ही गुण पाये जाते हैं।

‘ तव सुतरु सानुमत्याबहुधातुजन्तमितम्बरागायाः ।

गिरिवरभुव ह्य लामेनाप्नोमि दयैशुनेन दिवम् ॥ ” १

हे सुन्दरि ! कथनानुसार वावरण की अनुमति सहित जिसने लोक प्रकार से नितम्ब विषयक प्रीति उत्पन्न कर दी, इस प्रकार की तुझे शिरस्वती, लोक गैरकादि धातुर्वा से उत्पन्न किये गये विविध राग वाले कटक प्रदेश से सुवत हिमालय भूमि सी, पाकर मैं स्वर्ग की अपनी से दी ही तंगुल दूर समकता हूँ ।

‘ मुणित ह्य वाणविरि रिपुविष वृसुमेणुके तिस्रामे ।

वास ह्य भयसमये मज्जन्तर्गी न वृप्यामि ॥ ” २

उसके वाण मर दे भी विरह में (अपनी अविच्छिन्ना के कारण) अविक्रमान था, काम के लिङ्गाम में लुप्त था, भय के क्षण दास था (जन्तुजानुवर्ती) मैं उस सुन्दरी का खेन करता, पुरुष नहीं होता हूँ ।

२- दक्षिण नायक

जब नायक का प्रेम कई पत्नियों होने पर भी सभी सपत्नियों में समान रहता है, तथा सभी की प्रसन्न रहना चाहता है तो ऐसे नायक को दक्षिण नायक कहते हैं।

१- आर्यासप्तशती - २४६

२- .. - ४५०

‘ससि चतुराननभावादेमुख्यं क्वापि नैव दर्शयति ।

अयमेकहृदय एव गृहिणि च प्रियतमस्तदपि ॥’ १

हे ससि । मेरा प्रियतम विधाता के समान किसी में कम जाना कहीं भी विमुक्ता नहीं दिखाता है, तो भी यह एक हृदय ही है।

एक अन्य उदाहरण और देखिए -

‘उपरि परिक्रवते मम बाल्यं गृहिणि हंसमालेव ।

सरसं च नल्लिनाला त्वमाश्रयं प्राप्य वससि पुनः ॥’ २

हे गृहिणि । जैसे सरोवर के ऊपर हंसमाला चक्कर काटा करती है, वीर कमलनाला सरोवर के भीतर रहती है, ठीक उसी प्रकार बाल्य भी ऊपर मेंढराया करती है वीर तुम अन्तःकरण में बसती ही ।

३- शठ- नायक

शठ नायक प्रेम करता है किसी से और जताता किसी और से ही। एक को प्रिय बच्चों का गुलाब वीर दूसरी को प्रणय का मधुर दान देने की लपटी हुरंगी बाल के कारण यह शठ नायक कहलाता है।

नायक के मुख की उष्मा लीने की लीच से दैतो तुम्हें यह नायिका स्नेह के माध्यम से नायक के औपचारिक प्रेम-प्रदर्शन को ही नहीं ताते चश्मी की भी कितनीविदग्ध व्यञ्जना कर रही है-

१- आर्याउपशती - ६०

२- - १३२

° प्रकटयति रागमहिम्नं नृपमिदं वक्रिमाणमावहति ।
प्रीणयति च प्रतिपदं दूति शुक्लस्यैव दयितस्य ॥ ° १

हे दूति । प्रिय का मुस शुक के मुस के समान ही तधिक राग अभिव्यक्त करता है, वक्रता (वक्र कथन तथा कुटिलता) धारण करता है तथा पद पद पर प्रसन्न करता है।

एक अन्य उदाहरण नीजिए- जिसमें नायक की अन्यायवित्त का भेद सुन जाने पर नायिका के समाधान के लिए मिथ्या रूप कष्टपूर्ण वचन कहते हुए नायक से नायिका कह रही है :

° अपराधादङ्गि मां व्यथयति तव कष्टवचनरत्नेभ्यः ।
शस्त्राधातो न तथा सुनीव्यध्वेदना चादृक् ॥ ° २

तुम्हारे अपराध से उतनी व्यथा मुझे नहीं हो रही है जितनी कष्टपूर्ण वचन रचना से । समस्त शस्त्र का आघात उतना पीड़ाकारक नहीं होता जितनी तुम्हें के तुम्हने की वेदना ।

४- धृष्ट नायक

जो अपराधी सिद्ध होने पर भी न लज्जित हो होता है और न शर्मित ही होता है, कटु वचन व गाली की ती बात हो क्या मार लाकर भी हँसता हुआ तरह तरह के झूठे बहाने बनाता है, वह धृष्ट नायक कहलाता है। गोवर्धनाचार्य ने वायु के पाठ्यम से धृष्ट नायक

१- आर्यासप्तशती - ३८१

२- .. - ११

की अवतारणा इस प्रकार की है :

‘ वपनभुजगीमुक्तो जिहत् । शीतलमन्धवह । निशिप्रान्त ।
वपराशां पुरयिषुं प्रत्युषासदागते । गच्छ ॥ ’ १

वपन भुजगीमुक्तों द्वारा पान किया गया और बाद में त्याग दिया गया अतः
सविन होने के कारण अतृप्त, शीतल सरीर, रात में प्रपणशील,
निरन्तर प्रातःकाल जाने वाले, अब तु दूसरी की आशा (अन्य नायिका
की आशा) को पूर्ण करने के लिए जा ।

एक अन्य उदाहरण और नीचे -

‘ हससि चरणप्रहारे तत्पादपसारिणी मुवि त्वपिणि ।
माण्डुशेऽपि कृते प्रिय मम हृदयात्स्वं विनिःसरसि ॥ ’ २

मेरे द्वारा चरण प्रहार किये जाने पर (दुःखी न होकर) हँसो डो, शय्या
से उठा दिये गये जो मुनि पर सी जाते हो । इस प्रकार मेरे द्वारा शोध
से चरण प्रहारादि रूप अतृप्ति को मानना किये जाने पर भी तुम मेरे हृदय
से नहीं निकलते हो ।

कामशास्त्र का प्रभाव

जैसा कि कहा जा चुका है कि वार्यासप्तशती
शृंगारिक ग्रन्थ है, जिससे इस कृति का कामशास्त्रीय तत्त्वों से प्रभावित होना
स्वाभाविक हो है। जिस प्रकार कामसूत्र मंगलचरण में धर्म, अर्थ और काम

१- वार्यासप्तशती - २२३

२- .. - ६८८

की स्तुति की गयी है^१, उसी प्रकार वार्यासप्तशती की ग्रन्थारम्भप्रज्ञा में काम और कामिनी की स्तुति की गयी है।^२

कामसूत्र के साधारण अधिकरण के विषय-समुद्देश प्रकरण में प्रख्यात चौंसठ कलाओं की कामशास्त्र की संग विषय के रूप में पहले ही उपायन योग्य बताया गया है^३ और नागरक वृत्त प्रकरण में कहा गया है कि उक्त विद्याओं की ग्रहण करने के पश्चात् गृहस्थ धर्म स्वीकार कर नागरक वृत्त का अनुसरण करना चाहिए। वार्याकार नागरक वृत्त की विशेषताएँ बताते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति कल्याणार्थ हृदय वाला हो तथा शृंगारादि रसों में रुचि रखने वाला हो उसे ही नागरक कहा जाता है।^४ ऐसे ही नागरक द्वारा अपनी संगीता का उपयोग होने के गर्व से गृहस्वामी का पाँव भूमि पर नहीं पड़ पा रहा है।^५ एक अन्य वार्या में नागरक के प्रति आसक्त नायिका की संगति चाहने वाले नायक से इती कहती है कि - तरुणों में शिरोमणि और तरुणियों के कण-भूषण उस पुष्प समूह नागरक में नायिका वनकुसुम पर भ्रमरी के समान आसक्त है।^६ रति गृह में नायक के मनाने पर नायिका कुछ न कहती हुई केवल शुक पिंजर की डहरी और रत्नर अपनी मनोगत भाव को व्यक्त करती है।^७ तो अन्य

१- कामसूत्र १।१।१

२- वार्यासप्तशती ग० व० २६

३- कामसूत्र १।३।१६

४- वही १।४।१

५- वार्यासप्तशती २७१

६- ,, ३१२

७- ,, ५३७

८- ,, १५४

स्थान से वापस हर नायक की रति गृह के समीप कूटम्बियाँ में बैठकर उससे
वफा अपराध की क्षमा अन्वीक्षित-पूर्ण शब्दों में मागती हुई कहती है -

‘शुक सुरतसमरानन्द वृन्दगृहलोकसार सज्ज ।

गुरुजनसमक्षाम्क प्रसीद जम्बूफलं वन्द्य ॥’ १

हे शुक । सुरतरुपी संग्राम की बढ़ाने वाले, (मेरे) वृन्दों के रखर्यों में
मुख्य, जब कुछ जानने वाले, गुरुजनों के सामने हूँ, प्रसन्न हो जाओ , कृपा
करो, जम्बू-फल की कुचलो ।

रतिगृह और उसमें शुक-शारिकाओं की
स्थिति बादि का यह उल्लेख कामशास्त्र में वर्णित मागस्क के कैन्ग्रिह के
बादरी के अनुसार ही है जिसमें वासगृह के भी भागी में से बाह्य भाग की
रतिगृह (और काम्यन्तर भाग की घर की वन्द्य महिलाओं के शयनागार)
के रूप में शुभल उत्तराश्व रत्न कीर्णों और रहे हुए उक्तियों से सुशोभित शय्या
और प्रतिशय्या के सुसज्जित करो या बिजान तथा कैन्ग्रिह के बाहर की और
शुक-शारिका बादि पक्षियों की पिंजरे में चटकने का उल्लेख है।

कामसूत्र के पारम्परिक अभिरण के द्विती
कर्म प्रकरण में कहा गया है कि परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका एक - दूसरे
की घेंट में बने वाले वस्त्रों पर केसर के धामे लगाकर अपने वृन्दगत भागी की
अभिषेक करें^४ । इस सम्बन्ध में यह आर्षा उल्लेखनीय है :

१- आर्याभिषेकशर्तो ॥८०

२- बाह्ये च वासगृहे सुशुद्धाणामुभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लीत्तराङ्गम् तय-

नोयं तयात प्रतिशयिका च ॥ कामसूत्र १।४।५

३- तस्य वक्षि क्रीडास्तु निषेवराणि ॥ कामसूत्र १।४।१३

४- कामसूत्र १।४।२८

“ प्रिया हृदयमिदं पाणिद्वययोजनां कुरु वासः ।

वदितं मां यत्स्वात्मनिष्ठप्रकरणाय सिद्ध्यति ॥ ” १

प्रिया ने हृदय से पूरे दोनों हाथों को जोड़कर उससे चिह्नित कर जो वस्तु मेजा वह मुझे हजार प्रार्थना की तीव्रता करने की सिखा देता है।

इसी अध्याय में दूसरी निःस्पृष्टार्था, परि-
मितायां, पक्षारी, स्वयंभूती आदि भेद से कई प्रकार की मानी गयी है।
जो नायक नायिका के अनीष्ट प्रयोजन को समझकर अपनी हृदि के अनुसार
कार्य करती है, वह निःस्पृष्टार्था दूसरी कही जाती है। इसका उदाहरण
वार्तासप्तशती में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :

“ उज्जितसौभाग्यमदस्फुटवस्त्रानंगमीतरीरिणीः ।

कल्लामनोरेका दृष्टिर्द्वती निःस्पृष्टार्था ॥ ” ४

स्पष्ट प्रार्थना करने पर सौभाग्य का फल द्रष्टे जाता है और प्रार्थना न करने
पर अंग बाधा से नयनीय परस्पर एक दूसरे के मनोगत भाव को न समझते
स्वयं और दूसरी की दृष्टि निःस्पृष्टार्था दूसरी कही जाती है।

जब कोई नायिका किसी दूसरी को अपने प्रिय
के पास भेजती है और वह दूसरी नायिका का स्थान छोड़कर वहाँ ही उसकी
प्रेमसी बन जाती है तो वह स्वयंभूती कहलाती है। उदाहरण के लिए इस
वार्ता को देखें -

१- वार्तासप्तशती - ३६१

२- कामसूत्र २।४।४५

३- वार्तासप्तशती - ६२

४- कामसूत्र २।४।४६

५- वार्तासप्तशती ५०३

रजनीमियमुपेतुं पितृश्रुः प्रथममुपस्थे ।

रज्जयति स्वयमिन्दुं कुनाकं दुष्टवृत्तिम् ॥ १

यह सार्यकालीन सन्ध्या, रजनी के समीप पहुँचाने के लिए पहले चन्द्रमा को ले गयी, परन्तु वह स्वयं चन्द्रमा को दुष्ट नायक को दुष्ट वृत्ति के समान रक्षित (कुरागवान्) करने लगती है।

कामसूत्र के रतावस्थापन प्रकरण में समान जोड़ी के नायक नायिका के संयोग को समस्त कहा गया है जो शश का मृगी के साथ, वृष का वदवा के साथ और वरुण का हस्तिनी के साथ मैद से तीन प्रकार का माना गया है।^१ वार्यासप्तशती में शश और मृगी के सम्बन्ध को वन्योचित द्वारा इस प्रकार चित्रित किया गया है -

सुहृमास्त्वं कान्तिर्निजान्तसरसत्त्वमान्तराश्च गुणाः ।

किं नाम नेन्दुनेते शशग्रहेणैव तत्र कथितम् ॥ २

हे चन्द्रसे। तुझमें सौहार्द, शोभा और सरसता एवं आन्तरिक गुण हैं, (इसे) जैसे शश ग्रहण ने निरूपित हो गया वही कह दिया।

कामसूत्र के द्वितीय अधिकरण के प्रथम अध्याय के २२ वें सूत्र में कहा गया है कि “संयोग में नायक का वीर्य स्तम्भित होने पर उसे संयोग सुख प्राप्त होता है किन्तु नायिका को आरम्भ से ही सुसानु-भूति होने लगती है तथा स्तम्भित होने पर भी उसकी नायक को जीड़ने की इच्छा नहीं होती है। वार्यासप्तशती की रतिरसग्न नायिका भी यही हाल है :

१- वार्यासप्तशती - ५०३

२- कामसूत्र २।१।२

३- वार्यासप्तशती - ४४०

कातरताके रितस्मरणज्वारीयमसृणमधुराक्षी ।

मोक्षं न मोक्षतुमया वन्तेऽसावर्धेन्धरतिः ॥ १

कातरता (भय) से डेढ़ी, काम, लज्जा, रोष से स्निग्ध वीर मधुर नेत्रों वाली, बाधी रति प्राप्त कर (नायक की) झोड़ने तथा (कामा-वेश से) न झोड़ने की उक्त होती है।

कामसूत्र में लपित वाग्निन, चुम्बन, नस-क्षेप, पन्तफात, कन-ग्रह, प्रहणन, सीत्कार, कूणन आदि तथा सुरतबन्ध के विभिन्न प्रकारों का मिश्रण करके वार्यावों में बढ़ी रुचि एवं सफाई के साथ किया गया है। कतिपय उदाहरण नीजिए -

सुतिरागतस्य स्वाहनन्त्वेनागिर्गमाम्निगय ।

पुष्यति न मानवर्जा गृहिणी सफल्यति चोत्कल्लाम् ॥ २

जति विराल पश्चात् प्रसास से जाये प्रिय के एक एक कंग की बहाने के बहाने वाग्निगित कर गृहिणी मान वर्जा की बढ़ाती है वीर उत्कण्ठा की सफल बनाती है।

इस वार्या के पूर्वार्ध में स्पृष्टक वाग्निन की ओर खींच किया गया है। कामशास्त्र के अनुसार नायक कथवा नायिका में से कोई सम्पुल जाये दूसरे का किसी बहाने से अपने कंग से स्पर्श करे तो स्पृष्टक वाग्निन होता है वीर किसी बहाने से अपने कुर्मी से नायक का स्पर्श करती हुई नायिका की वह अपसिद्ध करता हुआ फल से तो विदक वाग्निन होता है। वार्यासप्तशती से विदक वाग्निन का उदाहरण नीजिए-

१- वार्यासप्तशती -१७५

२- , , -६४८

३- कामसूत्र २।२।८-६

“ दक्षिणमुक्ताभरणश्वासीत्तुंगस्तनार्पणमनोजम् ।

प्रियमाश्लिगति गोपी मन्थनमन्थरेणि ॥ ” १

गोपी मन्थनजन्य भ्रम से निश्चय लगीं है, दक्षिणरूप मुक्ताओं के वामरण वाले एवं श्वास से उन्नत स्तनों के वर्पण से मनीहर वाश्लिग प्रिय का कर रही है ।

एक अन्य उदाहरण और भी लीजिए -

“ पुनक्ति कठोरपीष हृत्कलशाश्लेषवेदनामिश्रः ।

स्त्रीरूपसितफणी वदति मानग्रहं देव्याः ॥ ” २

शंकर का उपसिद्ध रूप एवं पार्वती के पुनक्ति कठोर पीन हृत्कलश की वाश्लि-
जनजन्य पीड़ा का अनुभव कर यही जालता है (कि पार्वती सदा शंकर से)
मान किये रहे ।

नायक- नायिका एक दूसरे का दीवार के
सहारे वाश्लिग करते हैं तो वह पीड़ित वाश्लिग होता है। वायसिप्तशती
में नायक की इसी वाश्लिग का स्मरण कराता हुई नायिका की सखी कहती
है :

“ सुमग स्वभवनमित्तर्त्तं पञ्चता संमयं पीडिता सुतनुः ।

सा पीडयेव जीवति दधती वंशेषु विषेणम् ॥ ” ४

है सुमग । आपके द्वारा अपनी घर की दीवार(की आद) में वाश्लिनादि

१- वायसिप्तशती सू६

२- सू८

३- कामसूत्र २।२।१३

४- वायसिप्तशती ६०२

से मर्दित होकर पीड़ित वह सुन्दरी वेषों से विवर्ण करती हुई पीड़ा से ही जी रही है।

रागान्ध होकर परस्पर एक दूसरे में प्रविष्ट से होते हुए प्रणयों मिथुन का गाढ़ आलिंगन क्षीर नीर के सदृश उनके शरीर एक ही जाने के कारण क्षीर जलम् कहलाता है। वायसप्तशती से इसका उदाहरण लीजिए-

‘ मलयजमपसार्य घर्षं धीजनविघ्नं विधाय बाहुभ्याम् ।

स्मरसीतापादगणितनिदाघमाल्लिंगिते मिथुनम् ॥ ’ १

हाथों से बन्दन दूर कर, पैरों का उत्थन्त विघ्न कर कर्पात् पैरों दुलाना विन्मूल बन्द कर, मदन-सन्तापश प्रणयों मिथुन, गर्मी की परवाह न कर परस्पर आलिंगन करते हैं।

एक दूसरे की जोर पकड़ करते लटे नायक नायिका परस्पर जाँघों को दबाते हैं तो वह ऊलफूलन आलिंगन होता है और जब नायिका नायक की छाती से बफ़ी झुती सटाकर उरोबाँ का भार छात्ती हैं तो वह स्तनाल्लिंगन कहलाता है। ननि उद्धृत वायस में आलिंगन के इन दोनों प्रकारों की क्रमानुसार अभिव्यक्ति हुई है :

‘ घटितवर्णं निपीडितपीनोरुन्धस्तनिक्लिष्टवपारम् ।

आल्लिङ्गस्यपि बाणा वदत्यसौ मुब मुधिति ॥ ’ ५

१ - कामसूत्र - १।२।१६

२ - वायसप्तशती ४५२

३ - कामसूत्र २।२।२३

४ - .. २।२।२५

५ - वायसप्तशती २१८

(रतेच्छा से । जघन की सटाकर, मसिन जाघों की पकाकर, सारा स्तन भार ढाँककर वाग्निन करती हुई भी वह बाला 'शोड़ी-शोड़ी' ऐसा कहती है।

अप्ता कुराग व्यवस्त करने के लिए प्रेम-पात्र की छाया का वाग्निन करने का विधान कामसूत्र के तृतीय अधिकरण के अध्याय ३ में २६ वें सूत्र में किया गया है। वार्यासप्तशती की नायिका प्रिय के वसी वाग्निन का वर्णन करती हुई अपनी सखी से कहती है :

‘मम कृप्तितायाश्चायां भूमावाग्निग्य सखि मिन्तपुष्कः ।

स्नेहयत्नमनुज्ज्वल्यतीति किं नैव मामरुणम् ॥’ १

हे सखि । कृप्ति मेरी छाया का भूमि पर वाग्निन कर रोमान की प्राप्त हुआ, स्नेहयत्नता (के भाव) की न झोड़ता यह क्या मुझकी कोपरस्थित नहीं करता ।

सीरी हर नायक के मुख की देखती हुई नायिका अपनी शक्ता से उसके सम्जन करती है तो वह रागलीला सम्जन कहलाता है^२ जो अपनी विशुद्ध स्वरूप में नीचे उद्भूत मार्ग में देखा जा सकता है :

‘शुरूगर्जितान्द्रविशुभयमुद्रितकर्णं जम्बुकां पुराः ।

बाला हृम्बति जारं वज्रसधिलो हि मदनेषु ॥’ २

गम्भीर गर्जन और विद्युत् के भय से वासि कान सुनने वाली के सामने बाला

१- वार्यासप्तशती ४४६

२- कामसूत्र २।३।२४

३- वार्यासप्तशती २०२

जार की छुप रही है- क्योंकि कामदेव का बाण वज्र से भी बढ़कर है ।

सुम्न के लिए बलपूर्वक तीन मापट के साथ
मुस से मुस की फड़ना वदनसुद्ध नामक सुम्न होता है। वार्यासप्तशती में
उसका उदाहरण देसिए :

करचरणकाञ्चिहारप्रहारविचिन्त्य बलगृहीतकृषः ।

प्रणयी सुम्बति दयितावदनं स्फुरदधरमरुणादाम् ॥ २

प्रेमी (नायक) बलपूर्वक बाणों की फड़कर, कर- चरण- काञ्चीहार के
प्रहार की निन्ता न कर, फड़कते अधर वाले तथा लाल नेत्रों वाले प्रिया
के मुस की छुमता है।

कामसूत्र में सुरत- समय- सुम्न के पश्चात्
रागदीप्ति होने पर नखौद का विधान है जो चान्दुरितक, अर्धचन्द्र मण्डल,
रेखा, व्याधनसू, मयूरपक्ष, शशसूतक और उत्पलपक्ष भेद से आठ प्रकार
का होता है। त्रितीया के चन्द्रमा के समान वक्र आकार वाला नखविह्व
अर्धचन्द्रक काज्याता है जो शीघ्रा री स्तनपृष्ठ पर लगा जा सकता है।
वार्यासप्तशती से उदाहरण नीजिए-

उपनीय कल्पसुहृदं कथयति सभगश्चिक्त्सुके हन्धिः ।

शीर्णं शोमार्धनिभं बधूस्तने व्याधिसुप्जातम् ॥ ५

हन्धि (कन्वाहा) कृद्व बड़हन समीप रत्नर डरा हुआ, वेष से बधू के

१- कामसूत्र २।३।२२

२- वार्यासप्तशती १७०

३- कामसूत्र २।४।४

४- , , २।४।१४

५- वार्यासप्तशती -१३०

स्तन में लाल वर्धनद्राकार रोग फैल ही गया (ऐसा) कहता है ।

पाँची नसी की स्त्र पिन्नाकर स्तनमुस पर
फिया हुआ चिह्न 'शशपुत्रक' कहलाता है। वार्यासप्तशती में इसका
उदाहरण यह है -

‘ स्तननूतननस्तेलाम्बी तव धर्मविन्दुसंदोहः ।

वाभासि पट्टसूत्रे प्रविशन्निव मौक्तिकप्रसरः ॥ ’ २

तेरे स्तनों की नूतन (लाल) नसरेलाजी पर पड़ी पसीने की जूँ ऐसी
शोभित हो रही है जैसे रेशमी धागे में मौक्तियों के दाने प्रविष्ट हुए हों ।

प्रास जाते समय नाक की नायिका के
स्तन व पाँची पर स्मरण के लिए तीन या चार नखचिह्न बना देने चाहिये।
इस सम्बन्ध में यह वार्या द्रष्टव्य है -

‘ द्वित्रैरेष्यामि दिनैरिति किं तद्वचसि सति तवापवासः ।

कथयति निरपथिं तं दूरनिशाती नखकिरते ॥ ४

है चलि । दो तीन दिनों में जाऊँगा उसके वचन पर क्या तुझे मरोसा
है ? तेरे (शरीर) पर गम्भीर नखचिह्न उसकी निर प्रासी बता रहा
है।

नाक के विभिन्न तंगों में नखचिह्नों की

१- कामसूत्र २।४।२०

२- वार्यासप्तशती ५८६

३- कामसूत्र २।४।२२

४- वार्यासप्तशती २६१

देकर प्रायः नायिकाओं का स्थिर मन भी विचलित हो उठता है। वार्या-
सप्तशती में ऐसे ही नायक के प्रति सण्डिता की यह उक्ति सुनिये -

१ करुणशिक्षानिज्ञात भ्रान्त्या विभ्रान्त रजनिदुःखाप ।

रविषि यन्त्रीत्तिस्तिः कृशोऽपि लीकस्य हरसि दुःखम् ॥ २

हे बहुनसदातशास्त्रि । छूमकर शान्त, रात में दुर्लभ । यन्त्रीत्तिस्ति (नसी
से लीवा गया हुआ) छुर्य के समान दुर्लभ भी तुम संसार की दृष्टि को हरते
हो ।

नहचिह्नों के स्थान निर्दिष्ट करते हुए
वाल्म्ययन ने कक्षा (बाहुकुल) स्तन, गला, घुण्ट, जघन एवं उरु की
उपस्थित स्थान ठहराया है। सुवर्णनाम के उत्तार रत्निक के प्रवृत्त होने
पर (उद्दाम काम क्रीड़ाओं के मध्य) स्थान जस्थान का कोई ध्यान नहीं
रहता । फिर भी वार्यासप्तशती में वाल्म्ययन का उत्तरण करते हुए
स्तन, जघन, उरु आदि की ही नहचिह्नित मित्रित किया गया है।
उत्तरण प्रसृत है :

३ स्तनजघनोरुप्रणयी गाढं मग्नी निवेशितस्नेहः ।

प्रिय कामपरिणतिरियं विरज्यसे यन्मसाद्रु ह्य ॥ ४

हे प्रिय । स्तन, जघन और उरु में प्रीतिमान् (बाफे आरा) अत्यन्त
निज्ञात (नहचिह्नों पर) रहे गये तेरा बाजे नसाक के समान तुम विरजत

१- कामसूत्र २।४।३०

२- वार्यासप्तशती १६५

३- कामसूत्र २।४।५

४- .. २।४।६

५- वार्यासप्तशती ६३७

हो रहे हो, यह समय का परिवर्तन है।

नसन्ध के पश्चात् दन्तदात प्रकरण जाता है। कपीन, वधर, ल्हाट वीर कुलमण्डल उसके उपर्युक्त स्थान है। किन्तु वार्या-सप्तशती में इन स्थानों पर कहीं भी दन्तदात का वर्णन नहीं हुआ है। हाँ, यह जरूर कहा जा सकता है कि ३३२, ६१३, ६६१ वादि वार्यावों में दन्त-दात का उल्लेख मात्र हुआ है।

विविध प्रकार के सुरतबन्धों कथना वासनों का चित्रण भी वार्यासप्तशती में है। विरीत रत या पुरुषाकृति ती शृंगारिक क्षेत्र में अत्यधिक प्रिय रहा ही है। सामन्त युग का एक भी शृंगारी कवि ऐसा न होगा जिसने इस बन्ध को अपने हृन्द् में न पाया हो। वार्या-सप्तशती में कितने ही स्थानों पर विपरीत रति का चित्रण किया गया है। इस सम्बन्ध में १२१, ३६४, ३७३, ५२६, ५३५ वादि वार्याएँ उल्लेखनीय हैं। विपरीत रति में नायिका की धरने पर उन्मिदियों की संलग्न किये ही अपना माया नायक के भागे पर रत्नकर विग्राम करना चाहिये। इसी अवस्था में वार्यासप्तशती की नायिका को यही सीख देता हुआ नायक कहता है :

“वदस्थलसुप्ति मम मुखमुपधातुं न मीलिमाल्यसे ।

पीनोत्तुंगस्तनभरद्वरीभूतं रक्तान्ता ॥” २

है वदस्थल पर शयन करने वाली। रत की समाप्ति पर (धनी) मेरे मुख की उपधान बनाने के लिए पीन और उन्नत कृत्त मर है द्वरीभूत अपनी

१- कामसूत्र २।८।३७

२- वार्यासप्तशती ५६१

मस्तक को (पैरे मस्तक पर) झुकाती नहीं हो ।

कामशास्त्र में कहा गया है कि गर्भवती नायिका को विपरीत रत नहीं करना चाहिए । यही सिद्धांति नीचे उद्धृत आर्या में इस प्रकार दी गयी है :

परिवृत्तनामि दुष्टत्रिवलि श्यामस्तनाग्रमन्शादि ।
बहुधनजघनरेखी वपुर्न पुरुषायायि सती ॥^१ २

हे वन्दनये । (जिसमें) नामि बदल गयी (उसकी पहली सी गम्भीरता नहीं है) , स्तनों का उग्रमाण श्याम हो गया, जघन में बहुत सी लैत रेखाएँ पड़ गयी (तैरा रेखा) शरीर विपरीत रत करने में समर्थ नहीं है।

इसके अतिरिक्त अन्य पुस्तकों में भी चित्रण ५८ , ५९ , ६० आदि आर्याओं में दिया गया है किन्तु वे कामशास्त्र से प्रभावित नहीं हैं।

कामशास्त्र के दूसरे प्रकरण के पान्चके अध्याय में प्रतिपादित कन्धह, सीत्कार, कृष्णन, प्रहणन आदि का लोक आर्याओं में चित्रण किया गया है। उदाहरण के लिए बानर्णे प्रस्तुत है :

मेहिण्या किग्रहसमयसीत्कारमीन्तिवृशापि ।
बालाकपोलपुष्क विनीवय निक्षितीऽस्मि शिरसि फटा ॥^२ ४

१- कामसूत्र ५।८।३०

२- आर्यासप्तशती ३६३

३- आर्यासप्तशती ८७, २६५, ४६१ , ६२, १८४, १८८, २२५ , २५६ आदि

४- वही - २१६

(चुम्बन के लिए) केशों को फड़ते समय सी- सी करके उसने जलित मूँद ली,
 (कुछ दाण पहले मेरे द्वारा चूमे गये) बाला के पुनर्कृत कपील को देखकर
 गृहिणी ने मेरे सिर पर चरण प्रहार किया । इस कार्य में कचग्रह, सीत्कार,
 क्षणन, प्रहणन का क्रमानुसार वर्णन हुआ है।

सारांश यह है कि आर्यासप्तशती की कौन-
 कौनसी से यह ज्ञात हो जाता है कि इससिद्ध गोवर्धनाचार्य की कृति में
 कामशास्त्र के सिद्धान्तों का भी समुचित और सन्तुलित प्रतिफलन हुआ है।
 सुरत-सुख के कारण निमीलितनयना सुन्दरी को मृत समझ लेने वाले जति
 सरल नायक से लेकर विविध सुरत बन्धों के विशेषज्ञ काम कला कोविद वि-
 दग्ध नायकों के चित्रमण तक के विचित्र चित्र द्रष्टव्य हैं जो तत्कालीन
 समाज की मानसिकता की प्रतीति के साथ साथ कवि की 'शृंगारोत्तर-
 सत्प्रमद रचना' के प्रति गहरी शास्त्रीय रुचि के भी प्रबल प्रमाण हैं।

पंचम अध्याय

भाव और उनकी अभिव्यक्ति

भाव और उनकी अभिव्यक्ति

संस्कृत आचार्यों ने भाव की परिभाषा अनेक रूपों में प्रस्तुत की है। भरतमुनि के अनुसार जो वाक्, रंग तथा सत्त्व से युक्त होकर काव्यार्थों को भावित करते हैं, उन्हें भाव कहते हैं^१। अन्य स्थान पर उन्होंने पुनः कहा है कि "जो वर्ण विभावों द्वारा प्रस्तुत होकर अनुभावों तथा वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों के द्वारा प्रतीति के योग्य बनता है, उसे भाव कहते हैं^२। साहित्यदर्पणकार के अनुसार निर्विकारात्मक मन में प्रथम बार उत्पन्न हुए विकार को ही भाव कहते हैं^३। अमरकोशकार के अनुसार भाव मन के विकारों को कहते हैं^४। ये वासना के रूप में मानव के अन्तःकरण में विद्यमान रहते हैं।

भाव अन्तःकरण का एक विशेष धर्म है।

१- वाग्विषयसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीतिभावाविति ॥

- भरतमुनि- नाट्यशास्त्र ७ वां अध्याय

२- विभावनाकृतो योऽर्थव्यनुभावस्तु गम्यते ॥ वही ७।१

३- वाग्विषयसत्त्वामिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥

४- निर्विकारात्मके क्विं भावः प्रथमविक्रिया ॥ विश्वनाथ-सा० ३।६३

५- विकारो मानसः भावः । - ५० श्रीमदधरसिंह विरचित अमरकोश प्रथम

काण्ड , वर्ग सात

मनुष्य भावों का अनुभव कर सकता है, किन्तु उसके वास्तविक स्वल्प का वर्णन करने में असमर्थ है। उसके मन में विभिन्न प्रकार की झुझारें होती हैं। जितने प्रकार की मनुष्य की झुझारें होती हैं उतने ही प्रकार के भाव होते हैं। अतः भाव अनन्त हैं। उनकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती फिर भी शास्त्रकारों ने व्यवहारार्थ स्थूल रूप से भावों का वर्गीकरण किया है। ये भाव ही रस के मुख्य आधार हैं। भावों की परिपक्वता ही रस है अर्थात् भाव का विकसित रूप ही रस है। भाव हीन रस की कल्पना नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में भरतमुनि का कथन उल्लेखनीय है। “महव से रसित रस नहीं हो सकता और रस से रसित भाव नहीं हो सकता।” अनादि काल से सहृदय मनुष्य रति, शोक, हास, उत्साह आदि भावों का अनुभव करता आया है। मनुष्य कभी किसी से प्रेम करता है, कभी किसी का शोक करता है और इन भावों का मनुष्य के हृदय में संस्कार जमा हुआ होता है। अर्थात् वासना के रूप में ये भाव हमारे हृदय में रहते हैं और काव्यानुभूति के समय हमारे हृदय में जाग्रत हो जाते हैं, जिससे काव्य मनोरंजक हो जाता है और तभीक हमें रसानुभूति होती है। इसी और अनेक समयों में विद्यमान रहते हैं परन्तु सर्वदा भासित नहीं होते। वे विशेष कारणों से ही अभिव्यक्त होते हैं अन्यथा व्यक्तित्व मन में पड़े रहते हैं। प्रेम, क्रोध, घृणा, करुणा, मय, उत्साह आदि भाव स्थायी रूप में विद्यमान रहते हैं। जब हम कविता पढ़ते, सुनते और नाटक देखते हैं तब प्रसंगानुसार इनमें से कोई भाव अक्सर पाकर हमारे हृदय में जाग उठता है और हम उसका आनन्द भोग लेते हैं। यही अनुभव यदि सघन से सघनतर होता चला जाता है तो रस कहलाता है।

१- न भावहीनोऽस्ति रसः न रसहीनोऽस्ति भावः ।

- भरत मुनि नाट्यशास्त्र- कृता कथाय

भरतमुनि के अनुसार भाव हृदय में वासना के रूप में समाया रहता है और वही उस का मूल प्रीत होता है। वह (अन्तः-बहिर्गुण इन्द्रियाँ सहित) शरीर में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे सूते काष्ठ में अग्नि^१ । (जिस प्रकार काष्ठ के जलने के लिए अग्नि अपेक्षित है उसी प्रकार) भावों की अभिव्यक्ति के लिए वागिक, वागिक तथा सात्त्विक अभिनयों को आवश्यक होती है।^२ भावों की अभिव्यक्ति व्यञ्जनावृत्ति द्वारा होती है, जिसे ज्वनि के नाम से भी जाना जाता है। आचार्य मम्मट ने ज्वनि प्रधान काव्य को ही उत्तम माना है।

आचार्यमम्मटो ज्वनि प्रधान काव्य है ।

प्रधानतः ज्वनि के तीन भेद किये जा सकते हैं : १- रसादि ज्वनि २-वर्णकार ज्वनि और ३- वस्तु ज्वनि । इनमें रसादि ज्वनि विगच्छि वियान्तर ब्रह्म-नन्द सहीदर होने के कारण महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। आचार्य मम्मट ने स्पष्ट कहा है कि इस निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और संचारी सभी का सकल चित्रण आवश्यक नहीं है। इनमें एक या दो का भी सघनता-शीति चित्रण इस निष्पत्ति में समर्थ हो सकता है क्योंकि सदितर का तो उस वर्णन-वैशिष्ट्य से ही कथ्याहार हो जाता है। इस- योजना में संचारियों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि हृदय में जाग उठे स्थायी को इस स्थिति तक पहुँचाने और वस्तुगुण बनाए रखने में संचारी ही सन्नाम होते हैं । इसलिए संचारियों की योजना रसात्मक उचितियों के लिए एक स्वतः

१- योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोऽभवः ।

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥

- भरतमुनि , नाट्यशास्त्र ७७

२- वागिसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥

- वही ७१

सिद्ध सिद्धान्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जार्यासप्तशती में इस प्रकार की उक्तियाँ पड़ी हैं। यथा-

निर्वेद

सत्त्वज्ञान, आपत्ति और द्वंद्वों आदि के कारण सभी आपकी धिक्कारने की निर्वेद कहते हैं। इसके दोनता, निन्ता, वासु , दीर्घ खास , विवर्णता और उच्छ्वास आदि होते हैं।

‘युष्मासृजताः स्त्री विबुधा वाङ्मोत्रपाटयेन वयम् ।
वन्तर्मवति भवत्स्वपि नामवतस्तन्म विज्ञाताम् ॥’ २

पण्डित जन । उस पाण्डित्य- मोत्र के बल से आप लोगों के पास कार्य, किन्तु आप लोगों में भी वरिष्ठ लोग नहीं ही उक्तता - वर (उन्हें ज्ञात नहीं पा) ।

एक अन्य उदाहरण और द्रष्टव्य है :

‘तमसि धने विषमि पथि जम्बुकमुत्कामुलै प्रपन्ना स्मः ।
किं कर्मः सोऽपि सते । स्थितौ मुहं मुद्रयित्वैव ॥’ ३

धने अन्यकार में अत्यन्त कठिन मार्ग में, उत्कामुल जृणाल के पास हम पहुँचि । किन्तु है सते । इस विषय में क्या किया जाय ? उसने भी अपना मुह ही बंद कर लिया ।

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१४२

२- जार्यासप्तशती , ४६३

३- , , २७२

ग्लानि

रति, पल्लिम, मनस्ताप, मूस, प्यास
वादि ये उत्पन्न निष्प्राणता (निर्बलता) को ग्लानि कहा गया है ।
जिसमें कम्प, काम करने में अनुत्साह वादि होते हैं।

“ धन्व विरहः समन्ताज्ज्वलति दुर्वास्तीघ्रस्विनः ।

बहणास्तपशिलापिव पुनर्मां भस्मतां नयति ॥ ” २

दुर्वारि एवं तीव्र वावेगवाली विरह, सूर्यशान्तमणि को सूर्य के समान, सर्वत्र
भुझकी जागता है किन्तु वैसे ही, मरुत नहीं कर डालता ।

शैका

जन्य की क्षुब्धता तथा अपनी वीर्यतादि
से अपनी वनिष्ट की ऊहा को शैका कहते हैं। इसमें विवर्णता, कम्प, स्वरमग,
हृष्ट उधर ताकना, मुँह सूखना वादि होते हैं।

“ जनविन्वयः कतिपय नयनाद गमनोत्थम तवस्तन्त्रिताः ।

कान्ते मम गन्तव्या मूर्तिरेव पिच्छिन्त्रिता ॥ ” ४

मेरे प्रस्थान के समय तेरे नेत्रों से कतिपय जन की बुँदें टपक पड़ी, उन्हीं से मेरा
मार्ग फिसलन जाना ही गया ।

१- रत्यायासमानस्तापदुत्पिपासादिर्लम्बा ।

ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्यानुत्साहतादिकृता ॥

- साहित्यदर्पण- विश्वनाथ- ३।१७०

२- वार्यासप्तशती ६६१

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६१

४- वार्यासप्तशती - २३५

क्यूया

बौद्धत्व के कारण दूसरेकी गुण स्तुति को सतन न करना ही क्यूया है। इसमें दोष कथन, मुकुटि मग, तिरस्कार तथा क्रोध होते हैं।

“कटुस्त्रिसकलविभूषां प्रातर्बाला विलोभय मुदितं प्राक् ।

प्रियतिरसि वीक्ष्य यावकमथ निःश्वसितं सप्तनीभिः ॥ २

प्रातः बाला के आभूषणों को अत व्यस्त न देखकर सपत्नियाँ पहले तो प्रसन्न हुईं इसके बाद प्रिय के मस्तक पर महावर को देखकर दुःखी हो उठीं ।

एक अन्य उदाहरण और नीचे -

“गीघ्रस्तस्त्रिप्रश्नेऽप्युत्तरं तिलीलतीतम् पत्न्या ।

निःश्वस्य मीघरूपे स्वपुत्रि निखिलं तया नयन् ॥ ” ३

सप्तनी का नाम मूल से फिर जाने के प्रश्न में भी उत्तर शीतल उत्तर देकर उसने वफा निष्फल रूप वाली शरीर पर लाह मारकर दृष्टि डाली ।

श्रम

रति और मार्ग में कलने आदि से उत्पन्न वेद को श्रम कहा गया है। जिससे सास बढ़ती है और निद्रा नादि होती है।

१- कसूयान्कणार्दनामीदृत्यावसहिष्णुता ।

वीणावधीनभू विमेषावजाक्रोधिगितादिकृत् ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण, ३।१६६

२- वार्यासप्तशती , १८

३- ,, ,, , २०६

४- त्वो रत्यवगत्यादेः स्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ॥ विश्वनाथ-सा० ३।१४६

वमिनवके निवृत्तान्ता कन्यति बाला क्रमेण धर्माभिः ।

ज्यामपेयितुं नमिता कुसुमास्तु धनुन्तेव मधु ॥ १

बाला प्रथम सुरत में चकर फसीने की बूँदों के क्रम से व्यपन्न हो जाती है, जैसे मौर्वी को बढ़ाने के लिए भुकायी गयी कामदेव की धनुन्ता मकरन्द को बाहर निकालती है।

वैन्ध्य

तुर्गति आदि से उत्पन्न बीजस्विता के अभाव को वैन्ध्य कहते हैं। इससे मन्विता आदि उत्पन्न होती है। इसे वार्या-कार ने अन्योक्ति तथा व्यञ्जना के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

‘ प्रमसि प्रकटयसि रसं करं प्रसारयसि तृणमपि ॥ यसि ।

धिष्ठोमानं तव हृज्जर जोषं न जुहोन्ति जठराग्नी ॥ ३

हे हृज्जर । रधर उधर कुमति हो । दाति दिसति हो । छूँट फैलाते हो । तृण का सहारा लेते हो । तुम्हारे इस महापरिमाण को धिक्कार है । उदरानल में जोष को हीम नहीं कर देते ।

चिन्ता

चित्त की वप्राप्ति में उत्पन्न होने वाले ध्यान को चिन्ता कहा गया है। जिसमें शून्यता, श्वास और ताप होते हैं।

१- वार्यासप्तशती - ६६

२- दीर्गत्याघैरनीजस्यै वैन्द्यं मन्वितापिकृत् ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१४५

३- वार्यासप्तशती - ४१९

४- व्यानचिन्तास्थितानापीः शून्यताश्वासतापकृत् ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१७९

सपत्नियों का चिन्तन करता हुआ रसिक अपने मित्र से कहता है कि :

‘ बाला विलासवन्धानप्रभवन्मनसि चिन्तयन् पूर्वम् ।
समानवर्जिता तां गृहिणीं भवानुशीलामि ॥ ’ १

पहले (प्रथम पत्नी के अधीन होने के कारण) कुछ करने में वसमर्थ, बाला के विलासों के प्रदर्शन को मन में सोचता हुआ रहता था । (अब द्वितीय पत्नी के प्रवचन पढ़ जाने से) सम्मान रहित उस गृहिणी के विषय में शोका-न्वित रहा करता हूँ ।

मीह

मय, दुःख, ध्वराष्ट, अत्यन्त चिन्ता आदि के कारण उत्पन्न हुए चित्त की ‘ विबन्धता ’ (परेशानी) को मीह कहते हैं। इसमें मूर्च्छा, अज्ञान, फतन, चक्कर आना और दिहायी न देना आदि होती हैं।

‘ स्वसदननिकटे न स्निग्धमभिनवजातच्छर्दा निरोद्धयैव ।

हा गृहिणीति प्रणयश्चिरागतः ससि पतिः पतितः ॥ ’ २

हे ससि । अपने घर के निकट कमल्लिनी को नूतन पत्नी से युक्त देखकर ही बहुत काल के बाद लौटा हुआ पति हा गृहिणि । ऐसा प्रणय करता मूर्च्छित हो गया ।

१- वार्यासप्तशती - ४१०

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१५०

३- वार्यासप्तशती - ६७६

स्मृति

सदृश वस्तु के अवलोकन तथा चिन्तन
आदि से प्रेरित वस्तु के स्मरण को स्मृति कहा गया है, जिसमें महि
बदाना आदि होता है।

‘ एकेन तूर्णकृन्तलमपरेण करेण चित्तमुन्नमयम् ।
पश्यामि वाष्पधीतदृति नगरागारि तद्वदनम् ॥ ’ १

यै (पहँकर) एक हाथ से जर्कों को तथा दूसरे से चित्त को ऊपर उठाता
हुवा , नगर आर पर आसू से धुने कान वाला उसका मुख (कब) देखूँगा ।

धृति

सत्त्वज्ञान तथा लक्ष्मिप्राप्ति आदि के
कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाना धृति कहा जाता है। इसमें सन्तुष्टता,
आनन्दपूर्ण वचनावली और मधुर स्मित तथा बुद्धि विकास होते हैं :

‘ सुरमये तरुणान्यां परस्पराकृष्टदृष्टिद्वयान्याम् ।
देवार्चनार्थमुक्तमन्योन्यस्यापि कुसुमम् ॥ ४

जिनकी दृष्टि और चित्त परस्पर आकृष्ट हैं, ऐसे तरुण और तरुणी
ने देवान्य में, देवपूजन के लिए प्रस्तुत वफा वफा पुष्प एक दूसरे की वफा
कर दिया ।

एक अन्य उदाहरण और लीविए- जिसमें

-
- १- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६२
 - २- वार्यासप्तशती -१४६
 - ३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६६
 - ४- वार्यासप्तशती - ६५७

नायक विनायक कृष्णाभिसारिका का प्रेमाधिव्य द्रष्टव्य है :

‘ पतिपुष्कदूनगात्री स्वन्हायावीदाणीऽपि या समया ।
वभिसरति सुमग सा त्वा विदन्त्यो कण्टकं तपसि ॥ ’ १

पति के पुष्क से जिसके गात्र दुखी हैं, जो अपनी शाय को देखने से भी
हरती है। हे सुमग । वह वीरे में कांटों को रींघती तेरे पास जाती है ।

लज्जा

निकृष्ट वाचार्, व्यवहार से उत्पन्न
घाष्ट्याभाव को लज्जा कहते हैं। इसमें सिर नीचा होना वादि कार्य होती
है।^२ रात्रि में पति के शयन मन्दिर के द्वार स्तम्भ से ही निष्कल कर लड़ी
हो जाने वाली नवीदा की लज्जा की अभिव्यक्ति कवि ने इस प्रकार व्यक्त
की है :

‘ फंकृतकंकणपाणिनीपः स्तम्भावलम्बनैर्गतिः ।
शोभयसि शुष्करुदितैरपि सुन्दरि मन्दिरद्वारम् ॥ ’ ३

हे सुन्दरि । (तू) बार बार हाथ को बाधा डालने के लिए छ्दर उधर
जलाती है जिससे कंकण फंकृत हो उठते हैं, मन्दिर द्वार का स्तम्भ फट
झटो है, मौन शुष्क- रुदन करती है, इस प्रकार तुम मन्दिर द्वार को
शोभित करती हो ।

प्रतीत होता है कि कंकणों को ही

१- वार्यासप्तशती - ३५३

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद

३- वार्यासप्तशती - २४६

नवीढ़ा कीलज्जा मुसरित करतो बन रही है और लज्जा ही जैसे स्तम्भ बनकर उसे उसे बांध रही है।

चपलता

मत्सर, द्वेष, राग आदि के कारण अवस्था की ही चपलता बताया गया है। इसमें दूसरों को धमकाना, कठोर शब्द बोलना और उच्छृंखल वाचरण अधिक होते हैं। किशोरावस्था की नायिका के साथ रमण करने वाले नायक की चपलता देखकर उसकी अन्य प्रेमिका की प्रेम भरी परिहासोक्ति वन्योक्ति में सुने-

‘ फि मधुप बकुलकल्कि दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
वधरविनेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥ ’ २

हे मधुप । दूर से जिल्वाग्र (भाग) मात्र रखकर बकुल कली का रसपान करो । वधर सम्पर्क में ही समाप्त हो जाने योग्य मकरन्द पर व्यर्थ मुँह न लगावो ।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए -

‘ गन्धग्राहिणि । शालोन्मोन्तिनिर्यासिनिस्तिनितिर्नामि ।
उपसुप्तमुक्तपुरुषशतेऽधुना प्रमरि । न प्रमसि ॥ ’ ३

हे गन्ध ग्रहण करने वाली । शाल वृक्षा के प्रकट हुए रस में स्वांग हुबो देने

१- मात्स्यकेण रागादिश्चापव्यक्त्वनवस्थितिः ।

तत्र भर्त्सनपाठस्य स्वच्छन्वाचरणादयः ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६६

२- वार्यासप्तशती -३६७

३- .. -२०७

वाली । ऐक्यों वृक्षाँ का उपयोग कर झोड़ देने वाली प्रमरि । अब तुम नहीं घूमतोही ।

हर्ण

हृष्ट की प्राप्ति से मन में जो प्रसन्नता होती है उसे हर्ण^१ कहते हैं । जिसकी अभिव्यक्ति वानन्दाशु और गद्गद् स्वर आदि से होती है।

‘ प्रिय वायातो दूरादिति या प्रीतिर्बभूव गेहिन्याः ।

पथिकस्यः पूर्वागत इति गर्वात्सापि शतशिरा ॥ ’ २

दूर से प्रिय आ गया इस कारण गृहिणों की जो प्रसन्नता हुई वह , अन्य पथिकों को पोछे झोड़ उनसे पहले घर आ गया । इस घृतान्त की जानकारी मानों सीगुनो हो गयी ।

वावेग

सम्प्रम (घबराहट) की वावेग कहते हैं। जो हर्ण, उत्पात, अग्नि, राजप्लायनादि से उत्पन्न होने के कारण कई प्रकार का माना गया है। सप्तशती से इनकी जानकारी प्रस्तुत है -

‘ प्रमरोव कोणगर्भं गन्धकृताकुसुममनुसरन्ती त्वाम् ।

वव्यवर्तं कूजन्ती संकीर्तं तमसि सा प्रमति ॥ ’ ४

१- हर्णस्त्विष्टावाप्तेर्मनः प्रधापी शुनद्गवाधिकरः ।

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६५

२- वायांसप्तशती - ३८६

३- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण ३।१४३-१४४

४- वायांसप्तशती - ४२३

गन्ध से कधीन कर ली गयी , कुसुम का अनुसरण करती, कौण गर्भ से भ्रमरो के समान तुम्हें सोजती, अव्यक्त कूजती वह कधीरु में संकेत स्थल में छपर उपर घूमती है।

जड़ता

उष्ट तथा वनिष्ट के दर्शन और श्रवण से उत्पन्न किंकिर्तव्यविमूढ़ता को ही जड़ता कहा गया है। इसमें टकटकी लगाकर देखती रहना, चुप हो जाना वादि कार्य होते हैं। जैसे-

‘ यस्यां दिशि यस्य तरोयमित्यशिलां यथोन्मत्तग्रीवम् ।
पृष्टा सुधशिल्ला निशां चकोरस्तथा नयति ॥ ’ २

चकोर ने जिस दिशा में, जिस पृष्ठा को शाला पर जाकर ग्रीवा उठाकर जिस प्रकार से चन्द्रशिला को देखा, उसी प्रकार से (स्थित) वह सारी रात बिता रहा है ।

गर्व

अपने स्माव, ऐश्वर्य, विद्या तथा कुलीनता वादि के कारण उत्पन्न घमण्ड ही गर्व है। इसके मनुष्य अन्यो की कक्षा करने लगता है। विभ्रम सहित जंग (लीठ, कंगूठा वादि) दिखाता है और शील का उत्कर्षण करता है।

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१४८

२- जार्यासप्तशती - ४८५

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१५४

‘ बहुयौ णिति लाटारुणशिरसि वयस्येन दयित उपहसिते ।

तत्कालकलितलज्जा पिशुनयति सखीषु सौभाग्यम् ॥ ’ १

बहुपत्नीक पति के शिर को महाबुर से लाल देकर उसके मित्र ने उसका मजाक उड़ाया तो नायिका उस समय तो लजा गयी लेकिन बाद में अपनी सखियों में अपना सौभाग्य व्यक्त करती है ।

लज्जा और गर्व को इस धूप काँह में घिरी नायिका की मनोदशा का प्रभावशाली चित्र उभर आया है। जिसमें गर्व का रंग कुछ और ही जम गया है।

विष्णाद

उपायाभाव के कारण पुरुषार्थहीनता की विष्णाद कहते हैं। इसमें निश्वास, उन्मास, मनस्ताप और सहायान्वेषण इत्यादि होते हैं।

‘ वन्त निर्पतितगुणगुणमणीयश्नकास्ति केदारः ।

निजगोपीविनयव्ययसेन विदीर्ण हृदय स्य ॥ ’ ३

(स्त के) वन्दर गिरी गुंजा और सूत्र व्याप्ति गुंजाहार से हृन्दर स्त, मानों अपनी रक्षिका के शोल- विनाश से उत्पन्न दुःख के कारण विदीर्ण हृदय से शोभित हो रहा है।

१- आर्यासप्तशती -४०३

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६७

३- आर्यासप्तशती -७२

वीत्सुवय

क्रीष्ट की प्राप्ति में विलम्ब का सहन न कर सकना वीत्सुवय कहलाता है। इससे वित्त का सन्ताप, जन्मबाजी, पत्नीना, दीर्घ निश्वास वादि होती हैं।

नायिका की वीर से बेसबर नायक को उसकी चेष्टाओं से अवगत कराती हुई यह चतुर दूती अपना काम किस लुब्धी के साथ निबाह रही है :

“चिह्नुरविसारणा तिर्यङ्मतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला ।
त्वामियमंगलिकत्तिप्तकवावकाशा विलोकयति ॥” २

बाली के फाड़ने से जिसका कण्ठ नीचे मुका है, ऐसी प्रतिकूल दिशा में होती हुए भी बाला अंगुलियों से बाली के बीच अवकाश बनाकर तुम देस रही है।

विपरीत दिशा में मुस रत्ने पर भी बाली को फाड़ने के लिए मुस मुकातो हुई ही वह नायक के देखने के लिए अवसर निकाल लेती है। “विमुखवृत्तिरपि” से वीत्सुवय की सघनता की भी व्यंजना होती है।

निद्रा

पल्लिम, १ मय (नशा) वादि से उत्पन्न

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१५६

२- वार्यासप्तशती - २३१

चित्त के समीपन (बाह्य विषयों से निवृत्ति) को निद्रा कहा गया है। इसमें जंभाई, जाँस मीचन, उल्कास, कण्ठाहं बादि होती है।

“ वाकुञ्चितैर्जघ दरावृत्तोर्ध्वोरु गीप्सिार्धोरु ।

सुतनोः स्वस्तिःक्रमनमदुदरस्फुटनामि शयनमिवम् ॥ २

सुन्दरी का यह शयन ही रहा है, एक जाँघ सिकोड़ ली है, जघन का ऊर्ध्व भाग थोड़ा सा और बाधा जघन बहुत अधिक ढका है, स्वास क्रम से उदर के नल होने से नाभि स्पष्ट प्रकट हो रही है ।

विवीध

निद्रा दूर करने वाले कारणों से उत्पन्न चेतना को विवोध कहते हैं। इसमें जंभाई, कण्ठाहं, जाँस मीचन, लफे कर्णों को देखना आदि होता है।

“ मयपिहितं बालायाः पीवत्सूरुदयं स्मरीन्निद्रः ।

निद्रायाम् प्रमार्द्रः पश्यति निःस्वस्य निःस्वस्य ॥ ४

बाला के , मये से ढके पुष्ट दोनों जंघाओं को, मदन से उच्छटी नोद बाला प्रमार्द्र प्रिय (नायिका को) नोद में बार बार लम्बी सारि भरता देख रहा है।

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१५७

२- वायसिप्तशती - ८६

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१५९

४- वायसिप्तशती - ४२२

अमर्ण

निन्दा, वादीप और अपमानादि के कारण उत्पन्न हुआ भित्त का अभिविवेश अमर्ण कहलाता है। इससे जहाँ में चाली धर्म कम्प, यहि बढ़ना और तर्क आदि होते हैं।

“अयि विविधवचनानि वदासि चन्द्रं को समानीय ।

व्यसनदिवसेषु दूति वच पुनस्तुर्व दर्शनीयासि ॥” २

हे नाना प्रकार की बातें बताने वाली दूति । तू चन्द्रमा की लाकर मेरे हाथ में दे रही है फिर अपकीर्ति फैलने के दिनों में तुम कहाँ दिखायी पड़ोगी अर्थात् कहीं नहीं ।

अवहित्य

भय, गौरव, बज्जा आदि के कारण हर्षादि के आकार को विमान को अवहित्य कहते हैं। इसमें किसी दूसरे काम की ओर प्रवृत्ति, बात बनाना, दूसरी ओर देना आदि होता है।

“प्रतिवेशिमित्प्रवन्धेषु दूरात्कृच्छ्रागतोऽपि गेहिन्याः ।

वतिके लिम्प्यतया दिनमेकमगोपि गेहपतिः ॥” ४

गृहिणी, दूर से बड़ी कठिनाई से आये हुए भी गृह स्वामी को अत्यन्त

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।२५६

२- आर्यासप्तशती - ४

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १५८

४- आर्यासप्तशती - ४०१

श्रीदासबिंद के कारण एक दिन तक पक्षीसियों, मित्रों और बन्धुओं से
छिपाये रही।

पति

निति- मार्ग के अनुसरण जादि से वस्तु-
तत्त्व के निर्धारण अर्थात् बात की तरह पर पहुँचने की मति कहा गया है।
जिसमें मुस्कृष्ट, धैर्य, सन्तोष और अपने में बहुमान (आत्म सम्मान)
होता है।

‘ भूमिहृत्त्रिकुण्डलमुत्तसितकाण्डपटमिर्य मुग्धा ।

पर्यन्तो निःस्वारीः क्षिपति मनोरिणुपुष्पमपि ॥ ’ २

एक कुण्डल भूमि में संलग्न है, (दूसरे कान पर) कानात का भाग कर्ण-
मुग्धा हो गया है, यह मुग्धा (उस प्रकार) देखती हुई निःस्वारी से
मन को रिणु राशि की भी दूर फेंक देती है।

एक अन्य उदाहरण और द्रष्टव्य है :

‘ नलचिह्नितानि कुरवकमयप्रष्टे भूमिहृत्त्रिविहसि ।

हृदयविदारणानिःसृतकुसुमास्त्रशैव हरसि मनः ॥ ’ ३

जिसके स्तनों में नलचिह्न हैं, भूमि पर रखे गये (जिसके) जंग फीके
पड़ गये हैं, जिसकी पीठ पर कुरवक के पुष्प लगे हैं, ऐसी तुम (मेरे)

१- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण ३।१६३

२- वार्यासप्तशती- ४१५

३- .. - ३२४

मन की हर रही हो, तेरी पीठ में ये कुरबक के पुष्प नहीं लगे हैं, किन्तु
हृदय को बेधकर उस पार पीठ की ओर निकले हुए कामदेव के बाण हैं।

व्याधि

घात, फिस्स, कफ आदि से उत्पन्न
ज्वरादि को व्याधि कहते हैं। इसमें भूमि पर लोटने की हल्का और कम्प
आदि होते हैं।

‘त्वदिहापदि पाण्डुस्तन्वंगी कायैवकेवलया ।

हंसीव ज्योत्स्नाया सा सुमग प्रत्यभिज्ञया ॥’ १

हे सुमग । वह दुर्बल शरीरवाली तुम्हारे विरह रूप बाण में (हतनी)
पाण्डु हो गयी है कि चाँदनी में हंसी के समान केवल छाया से ही पहि-
चानी जा सकती है।

उन्माद

काम, शोक, भय आदि से चित्त का मोह
उन्माद कहा गया है। इसमें अकारण हँसना, रोना , गाना और प्रणय
आदि होते हैं।

‘गायति गीति शंसति वशिषादयति सा विप्रेक्षीष्टु ।

पाठयति पौरुषास्तिव संवावादाहं बाला ॥’ ४

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६४

२- वार्यासप्तशती - २५९

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६०

४- वार्यासप्तशती - २९९

तेरे सेवाद का वचार, वह बाला गीत में गाती है, वंशी में बजाती है,
बीणाओं में सुसंरित करती है, फेरस्य शृकों की पढ़ाती है।

मरण

बाण वादि ज्ञाने से प्राण त्याग मरण
कहलाता है। इसमें देह का फल होता है।^१

‘ प्रियदुर्नयेन हृदयस्फुटसि यदि स्फुटनमपि तव श्लाघ्य ।
तत्केलिसमस्तन्पीकृतस्य वसनाविलस्येव ॥ ’ २

हे हृदय । प्रिय के दुर्व्यवहार से यदि फट जाती हो तो तुम्हारा उसके
केलिसीग्राम में बिड़ोना बनाये गये वस्त्राचल की भाँति फट जाना भी
प्रशंसनीय है।

एक अन्य उदाहरण और लोबिर -

‘ रौदनमेतद्वन्थं सति किं बहु मत्स्युरपि ममानर्धः ।
स्वप्नेनैव हि विस्ति नयन मनोहारिणा तेन ॥ ’ ३

हे सति । नयन और मन को कधीन कर भी वाले स्वप्न के समान उसके
द्वारा कियागया मेरा यह रौदन सर्वत्रिष्ट है, अधिक बया कहुँ, मेरा
मरना भी समीचीन है।

१- शराधर्मर्णबीवत्यागद्विपुस्तनादिकृत ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१५५

२- वार्यासप्तस्तो - ३७७

३- .. - ५०९

ब्रास

वज्रनिर्घाण, बिजली, तारा टूटने वादि
से चित्त की व्यग्रता को ब्रास करते हैं। इसमें कम्पन वादि होते हैं ।

‘ विन्द्यमहीधरशिखी मुदिशैणीकृपाणमयमनिलः ।

उषद्विबुज्ज्योतिः पथिक्वधायैव शातयति ॥ ’ २

विन्द्याचल के शिखर पर , मेघपंक्तिरूप कर्वाला को, विद्युत् रूप स्फुरण-
शील चिनगारो वाला यह समीरण पथिकों का वध करने के लिए ही तीक्ष्ण
कर रहा है।

वितर्क

सन्देह के कारण उत्पन्न होने वाले विचार
को वितर्क कहा गया है। इसमें भ्रुकुटि मग, चिर हिलाना और उँगली उठाना
वादि होता है।

‘ एकं वदति मनो मम यामि न यामीति हृदयम परं मे ।

हृदयमयमुक्तिं तव सुन्दरि कृतकान्तचित्तायाः ॥ ’ ४

नायिका सखी से कहती है कि - एक हृदय तो कहता है जाऊँ और दूसरा

१- निर्घातविद्युत्कामेस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१६४

२- वार्यासप्तशती - ५५६

३- तर्कौ विचारः सद्विज्ञाद् भ्रूतिरीगुल्मिर्तर्कः ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१७१

४- वार्यासप्तशती - १४८

कहता है कि न जाऊँ । (नायिका के जाने में सन्देह है- यह अनुमान लगा-
कर) सखी नायिका से कहती है कि - हे सुन्दरि । तू ने नायक का चित्त
हरकर अपने अधीन कर लिया है। अतः तुम्हारे पास दो हृदयों का होना
उचित ही है।

संनारी भावों के अन्तर्गत कुछ तो हृदयगत
वृत्तियाँ हैं और कुछ शारीरिक धर्म । आलस्य, निद्रा, क्रम आदि शारी-
रिक धर्म हैं। अतः उन्हें भाव नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि भाव निर्वि-
कारात्मक चित्त में उत्पन्न हुए प्रथम विकार की कहते हैं। इसलिए भाव का
ही दूसरा नाम मनोविकार भी है। फिर भी औपचारिक दृष्टि से काव्य-
शास्त्रियों ने इन शारीरिक धर्मों की गणना संनारी भावों में ही की है,
क्योंकि चिन्ता, त्रास आदि की भाँति ही रसानुभूति में ये भी सहायक
होते हैं। किन्तु महत्त्व की दृष्टि से इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है।
हृदय की वृत्तियाँ तो स्वतन्त्र रूप में व्यञ्जित होकर भी अनुभूति उत्पन्न
कर सकती हैं, किन्तु शारीरिक व्यापार स्वतन्त्र रूप से वर्णित होने पर
किसी प्रकार अनुभूति का उद्बोधन नहीं कर सकते । वास्तव में उनकी स्थिति
मानसिक वृत्तियों के सन्दर्भ में साध्य- साधन भाव की है।

कभी कभी हृदय में एक भाव के उठते- उठते
दूसरा भाव और उत्पन्न हो जाता है। कभी एक भाव की शान्ति में और
कभी उदय में चमत्कार की प्रतीति होती है तो कभी एक भाव एकत्र रह
कर विक्षिप्ता का समावेश करते हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्रियों ने भाव की
चार अवस्थायें वास्वादन^१ में हेतु मानी हैं - भाव शान्ति, भावोदय , भाव
सन्धि और भावशक्ता ।

१- भावस्य शान्तिरुदयः सन्धि शक्ता तथा ।

- मम्मट- काव्यप्रकाश ४।३६

भावोदय तथा भावशान्ति

भावोदय और भाव शान्ति वास्तव में

एक ही स्थान पर होती है। कारण विशेष है किसी भाव के शान्त होने पर जब अन्य विरुद्ध भाव का उदय होता है तब भावोदय की स्थिति होती है और किसी भाव के उदय होने से यदि उसके पूर्ववर्ती भाव की शान्ति होती है तो वहाँ भाव शान्ति मानी जाती है। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता किन्तु तनिक ध्यान से देखने पर दोनों का मौलिक अन्तर साफ़ नजर आ जाता है। जहाँ भाव के उदय में अधिक जम-त्कार हो वहाँ भावोदय और जहाँ शान्ति में उत्कर्ष हो वहाँ भावशान्ति की स्थिति होती है।

भावोदय

दर्शनविनीतमाना गृहिणी हर्षात्सत्कपोल्लालम् ।

बुम्बननिषेधमिच्छतो वदनं पिबधाति पाणिभ्याम् ॥१॥

(नायक को) देखती ही उसका मान चला गया, हर्ष से कपोल्लाल प्रसन्न हो रहा है, बुम्बन निषेध के बहाने गृहिणी हाथों से मुस दक रही है। यहाँ क्रोध की शान्ति और हास का उदय है, किन्तु जमत्कार शान्ति में नहीं, उदय में ही है। अतः भावोदय माना जायेगा। वस्तुतः हास की रूपाने के लिए ही मुस की हाथों से दका गया है।

एक अन्य उदाहरण और नीजिए -

‘ गेहिन्याचिह्नग्रहसमयसोत्कार्मीलितदुशापि ।

बालाकपोलपुर्कं विलोचय निहितोऽस्मि शिरसि फटा ॥ १

केशों को फटते समय गृहिणी ने सी- सी करके तल्ले मूँद ली , (तथापि कुछ क्षण पहले ही भरे द्वारा झूमे गये) बाला के पुनर्कित कपोल को देखकर उसने (भरे) सिर पर चरण प्रहार किया ।

भावशान्ति

‘ स्वचरणपीडानुमितत्वान्मौलिरुजाविनीतमात्सर्या ।

वपरादा सुभग त्वां स्वयमहमनुनेतुमायाता ॥ ’ २

हे सुभग । भरे चरणाघात से पीड़ा से तुम्हारे मस्तक को कितनी पीड़ा हुई होगी (यह सोचकर) मैं वपराधिनी ईर्ष्या त्यागकर, स्वयम् तुम्हें मनाने लायो हूँ ।

यहाँ मानिनी का कोप शान्त हो रहा है तथा ग्लानि भाव का उदय हो रहा है, किन्तु अपत्कार उदय में नहीं शक्ति में हो है। अतः उपर्युक्त वार्ता में भावशान्ति मानना उचित ही है।

भाव-सन्धि

जहाँ दो विरोधी भावों की सम्भव स्थिति हो वीर वे पुनः पुनः मन को समान में समर्थ हो वहाँ भावसन्धि की स्थिति

१- वार्तासप्तशती - २१६

२- .. - ४६९

मानो जाती है ।

‘ दुर्गतगृहिणी तनये करुणाद्रां प्रियमेव रागमयी ।
मुग्धा स्ताभियोगं न मन्यते न प्रतिक्षिपति ॥ ’ १

दण्डिकाभिनी पुत्र पर करुणा रखती है, और पति पर भी अनुराग रखती है । उक्तः किंकिर्त्तव्यविभूतं हृष्टं वरं सुरत प्रस्ताव कान तो समर्पण ही करती है और न विरोध हो ।

यहाँ पुत्र के प्रति वात्सल्य तथा पति के प्रति रति भाव की समकौटिक व्यंजना हुई है।

भाव- शक्तता

जहाँ दो से अधिक विरोधी भावों के योग से रसानुभूति होती है वहाँ भावशक्तता की स्थिति मानी जाती है।

‘ मम मयमस्याः कोपो निर्वदीडस्या ममापि मन्वात्ताम् ।
जातं च चान्तरिपो स्मितस्रुतिनमितकंधरयोः । ’ २

कहाँ मार्ग के बीच मुस्कुराहट को छिपाने के लिए मुँह की ग्रीवा वाले हम दोनों (नायक- नायिका) में , मुँह (मैं प्रेम को प्रकट कर देने वाला स्मित क्यों किया- यह सोचकर) भय हुआ । इसे (नायिका को) मुँह पर (हस्ते पहले ऐसा अवहत्कारक स्मित क्यों किया- यह सोचकर) वात्सल्य ग्लानि हुई और मुँह (मैं भी कैसा घृष्ट हूँ जो ऐसे नायिका को कुपित

१- आर्यासप्तशती - २६६

२- ,, - ४५६

कर दिया यह सोनकर) रज्जा का पाव हुआ ।

अनुभाव- विधान

वार्तायं भारत ने अनुभाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया कि वाणी, रंग तथा सत्त्व द्वारा सम्पादित नानार्थांश्च निष्पन्न अभिनयं को यह अनुभावित करता है, अतः यह अनुभाव है।^१ उन्होंने इसके सम्बन्ध में एक परम्परागत श्लोक को भी उद्धृत किया है जिसके अनुसार वाणी और रंगों के अभिनय से वाणी और रंग- उपांग से संयुक्त व्यंजित जिससे अनुभावित होता है। उसका नाम अनुभाव माना गया है।^२ इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि नाटक के सीध में वाणी (ध्वनि, माणा वादि) , शारीरिक नेष्टाओं एवं सत्त्वोद्वेक वादि के माध्यम से जो नाटककार के या विभिन्न पात्रों के गूढ़ व्यंजित या मनोभावों का अनुभव प्रेक्षक को प्रदान करते हैं- वे ही 'अनुभाव' कहलाते हैं। अनुभाव प्रदान करने के कारण ही इन्हें 'अनुभाव' कहा गया है किन्तु अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति अनुभव से ही है- उसे स्वीकार करने में विद्वानों की आपत्ति है, क्योंकि उनके विचारानुसार अनुभाव शब्द 'अनु' और भाव के योग से बना है, तथा 'अनु' का व्यंजित^३ है, अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से

१- अयानुभावा इतिकस्मादुच्यते । यद्यमनुभावयति नानार्थांश्च निष्पन्नो वाग्विगसत्त्वैः कृतोभिनय इति ॥

- भारतमुनि- नाट्यशास्त्र ७।५

२- वाग्विगसत्त्वैश्च कृतत्वर्थो अनुभावः ।

वाग्विगसत्त्वैश्च संयुक्तस्त्वनुभावः स्ततः स्मृतः ॥ वही सातवा अध्याय

३- इस सिद्धान्त- स्वरूप विश्लेषण- डा० वानन्द प्रकाश दीक्षित पृ०२२

कहा जा सकता है कि जो भाव के पीछे उत्पन्न होता है या जो भाव का अनुवर्ती है, वह अनुभाव है।

उपर्युक्त दृष्टि से 'अनुभाव' की प्रकार के अर्थों का सूचक कहा जा सकता है, एक अनुभव करनेवाला तथा दूसरा भाव का अनुवर्ती। वस्तुतः अनुभाव पर दोनों ही बातें पूरी तरह लागू होती हैं- प्रेक्षक की दृष्टि से वह नाटककार एवं पात्रों के भावों या मनो-भावों का अनुभव या भावन प्रदान करता है तो स्वयं पात्रों एवं अभिनेताओं की दृष्टि से वह अनन्तर भाव विशेष की प्रकृति के अनुसार भावों के अनुवर्ती के रूप में ही प्रकट होता है। अतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों अर्थ अनुभाव के दो पक्षों को सूचित करते हैं और उनमें परस्पर कोई अंतर्गति नहीं है।

भारत के उपर्युक्त उद्धरण में अनुभावों के सम्बन्ध में वाणी, अंग और सत्त्व का भी उल्लेख है जो उनको इस धारणा का पीतक है कि अनुभावों का प्रकटीकरण वाणी, वांग्मिक नेष्टाओं एवं सत्त्वोद्भेद के रूप में होता है, तथा इसलिये उन्होंने अनुभावों के तीन प्रकार निश्चित किये हैं :

१- वाचिक अर्थात् वाणी एवं शब्दों के माध्यम से होनेवाली नेष्टारं

२- वांग्मिक अर्थात् शरीर के माध्यम से होने वाली नेष्टारं और

३- सात्त्विक अर्थात् सत्त्वोद्भेद (क्रु , रवेद , कम्प आदि) के रूप में प्रकट होने वाले अनुभाव । वस्तु , वाचार्य

भरत के अनुसार अनुभाव अभिनेताओं की उन वाचिक, वांगिक एवं साहित्यिक कृष्टताओं का नाम है जिनके माध्यम से प्रेक्षक उनके मनोभावों का अनुभव या भावन या बोध प्राप्त करता है।

भरत परवर्ती जानागर्ग ने भी अनुभाव को कतिपय अन्य विशेषताओं के उद्घाटन का प्रयास किया है। धर्मेन्द्र ने लिखा है- भावों के सूक्ष्म विकार अनुभाव कहलाते हैं। ---- ये रस के कार्य हैं तथा लोक व्यवहार में इनकी प्रत्यक्षा रूप में देखा जा सकता है। इसी मत को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथ ने भी कहा है कि - 'उद्बुद्ध (एतियादि) को बाहर प्रकाशित करने वाला, लोक में जो कार्य कहलाता है, वही काव्य और नाटक में अनुभाव है। लगभग यही मत रसगीताधरकार पृ० जगन्नाथ का है- उन (रति आदि स्थायी भावों के) जो कार्य लोक में प्रसिद्ध हैं, वे ही अनुभाव हैं।'

अतः, विभिन्न मतों के पर्यागमन से स्पष्ट है कि अनुभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में जानागर्गों में विशेष मत भेद नहीं है। प्रायः सभी ने भरत को मान्यता को स्वीकार करते हुए, उसी के स्पष्टीकरण में बताया है कि वे भावों के सूक्ष्म होते हैं, वे वांगिक या शारीरिक विकार हैं, लोक व्यवहार में उन्हें कार्य कहते हैं- अर्थात् विभिन्न

१- वसरूप - धर्मेन्द्र उक्त्याय ४।३

२- उद्बुद्ध कारणीः स्वैः स्वैर्बहिर्भावः प्रकाशयन् ।

लोकैः यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ३।१३२-१३३

३- यानिष्कार्यताया, सान्ध्यनुभाव शब्देन ॥

- रसगीताधर- प्रथम वानन पृ० १३५

भावों के उद्वेग या उद्बोधन से हमारे में जो विकार या परिवर्तन आते हैं तथा जिसे भावोद्वेग की भूना मिलती है, उन्हें "अनुभाव" कहा गया है। लोक व्यवहार में भावोद्वेग के कारण हम भाँति भाँति की चेष्टाएँ एवं कार्य करते हैं- जैसे भय में प्राण रक्षा के लिए भागना, क्रोध में किसी को मारने पीटने के लिए बागें बढ़ाना, हास्य में हँसना, मुस्कराना, तानी बोलना आदि काव्यशास्त्रीय सत्कृतियों में इन्हें भावोद्वेगजन्य विकारों, परिवर्तनों, चेष्टाओं एवं क्रिया कलापों को सांस्कृतिक रूप में "अनुभाव" की श्रेणी दी गयी है, क्योंकि इन्होंने के माध्यम से अभिनेता भावों का अभिनय एवं कवि व चित्रकार उनका चित्रण करता है, तो दूसरी ओर प्रेक्षक पाठक एवं सामाजिक उनका बोध प्राप्त करता है।

भावामिर्व्यक्त चेष्टाओं का प्रोच एवं लक्ष्य
ज्या है - इस प्रश्न पर भी जीव मनोविज्ञानियों ने गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए विभिन्न सिद्धान्त स्थापित किये हैं। डार्विन महीद्वय के अनुसार तो इनका अस्तित्व मनुष्यों में ही नहीं पशु पक्षियों तक में भी है तथा इनका सम्बन्ध पूर्व-मानव युग की उस अवस्था से है जबकि मनुष्य पशु की भाँति भावना-विहीन था। उस समय वह अपनी विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं से ही दूसरों को डराने-धमकाने या उनसे प्यार करने का काम करता था, तथा उस समय व्यावहारिक दृष्टि से भी इनका भारी उपयोग था। किन्तु जब उतना उपयोग न होते हुए भी पूर्व परम्परा के संस्कारों के कारण ही हम विभिन्न प्रकार की भावामिर्व्यक्त चेष्टाएँ करते हैं।

जेम्स मी के सिद्धान्त के अनुसार तो जिन

१- सांस्कृतिकी- वार० एस० ब्रुडरथ रण्ड डी० जी० परफिस पृ० ३४६

चेष्टाओं को हम भावाभिव्यजक कहते हैं, वे वास्तव में भावाभिव्यजक न होकर भाव की उत्तेजक या पीडाक हैं, क्योंकि उनके कारण भाव उद्दीप्त होता है। उनके शब्दों में :

“ सामान्य लोक बुद्धि कहती है कि हम दुःख के कारण रोते हैं, भय के कारण भागते हैं या क्रोधित होने के कारण वाक्प्रमण करती हैं। किन्तु हमसे अधिक तर्क संगत कथन यह है कि हमें शोक इसलिए होता है क्योंकि हम रोते हैं, हमें भय इसलिए लगता है, क्योंकि हम काँपते हैं, क्रोध इसलिए जाता है क्योंकि हम वाक्प्रमण करती हैं। ”

जेम्स के विचार से किसी वस्तु के विचार से पहले शारीरिक क्रियाएँ होती हैं और फिर भाव उत्पन्न होता है, अतः ये भाव के पक्षवर्ती न होकर उसकी पूर्ववर्ती हैं। किन्तु उनका यह विभिन्न सिद्धान्त अब मजबूत भाँति खण्डित हो गया है। विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि हमारी विभिन्न भावात्मक चेष्टाएँ भाव के पक्षवर्ती ही हैं, पूर्ववर्ती नहीं।

डा० जदुनाथ सिन्हा के शब्दों में कहा जा सकता है -

“ अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाव अभिव्यक्तियों के पूर्ववर्ती होते हैं। भाव आन्तरिक अंगों और पेशियों के परिवर्तनों में प्रकट होते हैं जो आन्तरिक और पेशिक संवेदनार्थ उत्पन्न करते हैं। किन्तु आन्तरिक तथा पेशिक संवेदनार्थ भाव का निर्माण

१- मनोविज्ञान- डा० जदुनाथ सिन्हा पृ० २५७

नहीं करते, बल्कि वे उन्हें तीव्र कराय करते हैं। वेम्स की देन केवल यही है कि भाव की दृष्टि में वांगिक संवेदनाओं के योग होने पर उन्होंने अधिक बल देकर उनके महत्त्व को स्पष्ट किया^१। वस्तु, वांगिक संवेदनाएँ व नेष्टाई भाव की परवर्ती होती हुई भी भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

भावों की अभिव्यक्ति दो प्रकार से हो सकती है। एक तो वा यगत अनुभावों के चित्रण द्वारा और दूसरे आश्रय की उचितियों और व्यापारों के वर्णन द्वारा। रूखादियों ने पहले दो प्रकार की और जनिवादियों ने दूसरे प्रकार की अधिक महत्त्व प्रदान किया है। आर्यासप्तशती जनि प्रधान काव्य है, अतः उसमें दूसरे प्रकार की अधिक अपनाया गया है, फिर भी पहले प्रकार का सर्वथा अभाव नहीं है। कुछ आर्याजों में भाव-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए उपर्युक्त अनुभावों को सुन्दर योजना दी गयी है। जैसाकि कहा जा चुका है अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है पीछे होना (कृ = पीछे + भाव = होना) अर्थात् वृक्ष में दिखी भाव का उद्बोध होने के पश्चात् उसे व्यक्त करने के साधन सभी साधन नहीं बल्कि सहज ही या प्रयासजन्य - अनुभाव है। यही कारण है कि साहित्यदर्पणकार ने स्त्रियों के सहज लक्षण विकास से लेकर झोटी मोटी सभी नेष्टाओं तक को अनुभाव माना है।^२ इस दृष्टि से भावों की भाँति अनुभाव भी चार प्रकार के - कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहाराय हो सकते हैं। सत्य तो यह है कि सात्त्विक भाव कहे जाने पर स्तम्भ आदि तो भाव हैं ही नहीं। उन्हें अनुभाव ही माना जाना चाहिए। अतः इस व्यापक परिभाषा के अनुसार आर्यासप्तशती में चारों प्रकार के अनुभावों का चित्रण

१- मनोविज्ञान- डा० जनुनाथ सिन्हा- पृ० २६३

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण- ३।१४२

किया गया है।

पीछे कौत्सुष्य के उदाहरण स्वल्प उद्धृत।
 चार्या (२३९) कायिक अनुभाव का सुन्दर उदाहरण है। तभी घर के
 सामने खड़े नायक को देखने के लिए बाली के बीच से फाँकती हुई नायिका
 का कौत्सुष्य उक्त कायिक अनुभाव द्वारा ही व्यक्त होता है। अन्य स्थान
 पर पति को सेवा में लगे होने पर भी उपपत्ति को जाखासन देने वाली
 इस परलोया का चुराई भी कायिक अनुभाव द्वारा कितनी जादुई बन
 गयी है :

‘ सेवाहयसि शयानं ययीपतिजाति गृहपतिं गृहिणी ।
 गृहवृत्तिविवरनिवेशिदुःखतथाखासनं युनः ॥ १

गृहिणी शयन करी गृहपति का जितना धेर दबा रही है, मन्द मन्द
 पेक्षा माल रही है, जिसने घर की दोवार के छिद्र से दृष्टि टांग रखी है,
 उस स्वरूप की (ये सब उपाय धेर पास जाने के लिए ही किये जा रहे हैं,
 यह जानकर उसे (उल्टा ही जाखासन मिला है।

सन्धिदा की उक्तिगों में कायिक अनुभावों
 को भरपूर मिलायी है। जैसे-

‘ करतुहसिस्तानिस्तान् भ्रान्त्वा मिश्रान्त रजनिदुःखाम् ।
 रविरेव यन्त्रोत्थिः कृशीऽपि लोकस्य हरसि दृशम् ॥ २

हे बहुनस्तान्तशान्ति । ह्वर उधर घूमकर शान्त, रात्रि में तुम्हें । यन्त्रोत्थि-

१- चार्याचरितो - ६४२

२- ,, - १६५

जिस सूर्य से दुर्बल और निस्तब्ध भी तुम सँसार को (मुझको नहीं) सुन्दर
लगते हो ।

अन्य स्थान पर लक्षिता की शोध मरी
उत्ति भी सुनें-

‘ नमःसुजंगीमुवतोऽम्भित । शीतलग्नयवः । निमि प्रान्तः ।
अपराणां पुरयिषुं प्रत्यूषसदागते । गच्छ ॥ ’ १

सफा सर्पिणियों द्वारा पान किया गया और बाद में त्यागा गया अस्त्र
उपलब्ध होने के कारण अप्रसूय । शीतल समीरण । रात में प्रमणशील ।
निरन्तर प्रातः काल जाने वाले । (अब तू) दूसरी की जाणा पूरा करने
के लिए जा ।

एक अन्य उदाहरण और लोजि- जिसमें
नायिका के प्रति पथिक की आकृष्ट करने हुई उसकी सती कत्ती है :

‘ मम सखाः नयनयोऽपि निमिः । न कश्चिदपि नमिषु ।
पतिताऽसि पथिक विषये घट्टट्टीयैः कुशुपैः ॥ ’ २

हे पथिक । मेरी सखी के कटाका जिस पर फड़ गये (उनमें से) कोई भी
नहीं जा सका, तुम वापस्ति में फड़ गये हो, यहपदनराज की महल उगाहने
की लीकी है।

स्वयं साहित्यिक का एक उदाहरण लोजि-

१- नायकसाहित्य- २२३

२- .. - ४५६

‘ हुमग व्यथनविनालनशिथिलभुजाम् दिव्यस्यापि ।

उत्तर्जनं न सत्याः स्थाप्यते किंनिदपान्ध ॥ ’ १

हे हुमग । यह सती की मुजा पैसा कन्ही कन्ही थक गये और सती का उबटन समाप्त नहीं हो रहा है, यहाँ से हट हट कर ले जावो ।

इसी प्रकार रोमान (३८६) , स्वप्न (४०५) , वैष्णव (४० व० ७ , ४४३) , वैनर्ग्य (२५९ , ६३२) , कृ (२२१ , २२२) , प्रत्य (३६० , ६७६) , आदि साहित्यकों का भी अनुभाषों के रूप में धनिक पुनर विवृण किया गया है।

आहार्य अनुभाषों के अन्तर्गत मानिनी के रोष को व्यक्त करने वाले अनुभाषों का मुलाखिया कीजिए:- जो नायिका के रोष को अभिव्यक्ति के साथ साथ उसके सौन्दर्य की वृद्धि भी करते हैं, और नायक को प्रसक्तकालमें मन बहनाव के लिए एक यावगार भी देते हैं। बानगो प्रस्तुत हैं :

‘ यन्निहितां शिरसि मालां वा यातु उठ भवन्तापोति ।

प्रहन्ति शिरसि फटा स्मराणि तगिर्वैरुकोपाम् ॥ ’ २

जिसकी दी गयी माला को शिर पर धूषण रूप में (तुम) धारण कर रहे हो, हे शठ । वही तोरे पास जाय, ऐसा कहकर शिर पर धारण प्रहार करती , गर्व से महाकोप वाली उसकी स्मरण करता हूँ । इसी प्रकार २१८ , ३२० , ६२२ आदि आख्यानों में आहार्य अनुभाषों का सुन्दर विवृण किया गया है।

१- आर्यासप्तशती- ६६०

२- ,, - ४७२

षष्ठः अध्यायः

प्रकृति चित्रण

प्रकृति तथा मानव का वादि काल से मधुर तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव ने सर्वप्रथम प्रकृति की ही गोद में लालि लोली थी। उसका पोषण प्रकृति के द्वारा प्रदत्त उपादानों से ही हुआ। केवल भौतिक विकास में ही नहीं, उसके व्यात्म जगत् में प्रवेश के लिए भी प्रकृति ने अपनी वसीम सुन्दर रहस्यों का समुद्र मँडार भी जगावत कर दिया। उससे वह वार्तकित भी हुआ और समत्कृत भी। वार्तिक ने उसके हृदय में प्रकृति के प्रति वास्था उत्पन्न की और समत्कार ने अपरिमित अनुराग। फलतः मानव ने प्रकृति के साथ नाना सम्बन्धों की स्थापना की, उसके नाना रूपों के दर्शन किये और उसके माध्यम से नाना भावों की अभिव्यक्ति दी। यही कारण है कि मानव सम्यक्ता का वादि ग्रंथ ऋग्वेद प्रकृति के अनेक रूपों में सुमण्डित हुआ।

जब वादि कवि वात्मीकि का कौच- युगल- वियोगोत्थ कारुण्य श्लोक बनकर लीकिक संस्कृत की काव्य स्वर प्रदान करता हुआ फूट पड़ा तब भी प्रकृति की ममता उसे निरन्तर पयः पान कराती रही। वात्मीकि रामायण में प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण भरे पड़े हैं, किन्तु तनैः तनैः मानव बाह्य प्रकृति से सिमट कर वन्तः प्रकृति में डूबता चला गया। फलतः काव्य में मनीषाओं के चित्रण की प्रमुक्ता मिलती गयी। काण्दिदास की रत्नावली में बाह्य और वन्तः प्रकृति का

जो संतुलित सामंजस्य मिलता है उसका उत्तरवर्ती काव्य- शिल्प- प्रज्ञान काल में प्राप्त होता गया । माघ और भारवि की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं।

सप्तशतीकाल सांसारिक वैभव और भोग का काल था । उसकी सौन्दर्यप्रियता हट और पत्थरी से सुसज्जित राज- प्रासादों में ही सीमित होकर बंदिनी बन गयी थी । इस काल के कवियों ने सांसारिक वैभव और सौन्दर्य के तो अनेक रूपों का सूक्ष्म निरीक्षण किया था, उन्हें वात्मसात् भी किया था, किन्तु प्रकृति के उत्सृज्य वातावरण में विचरण करके उसके सहज सौन्दर्य से वमिभूत होने का ज़ोर उन्हें कम मिला था । यही कारण है कि सप्तशतीकालीन कवियों का प्रकृति- चित्रण प्रायः परम्पराबद्ध है। उसमें नवीनता के स्थान पर काव्य- रीतियाँ तथा तन्मयता के स्थान पर वाग्वैचित्र्य ही अधिक मिलता है। गोवर्णालय भी इस सीमा से जाबद्ध है। फिर भी अन्य समकालीन कवियों एवं सप्तशतीकारों की अपेक्षा इनका काव्य प्रकृति के सौन्दर्य से अधिक मण्डित और वैचित्र्यपूर्ण है।

चार्यासप्तशती में प्रकृति- चित्रण के जो रूप पाये जाते हैं उनमें वाजम्बन, पुष्पभूमि, उदीपन वप्रस्तुतविधान और कवि- समय प्रसूत हैं। इसके अतिरिक्त वामोद प्रमोद से सम्बन्धित वार्याएँ भी मिली गयी हैं। प्रभात, सन्ध्या, वन, नदी, नन्द्रमा, जपनी इत्यादि वर्णन भी कुछ वार्याओं में किया गया है, किन्तु इनमें से अधिकांश वार्याएँ उदीपन विभाव तथा वन्योक्ति के रूप में ही प्रस्तुत हैं। प्रकृति की काव्यगत निबडानिबड सत्ता विशेष के आधार पर प्रकृति- चित्रण के अनेक रूप प्रति-

ष्ठित हो गये हैं, जिन्हें हम संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

शुद्ध आत्मम्बन रूप

कवि प्रकृति के स्वरूप को देखकर जब भाषाभिभूत हो उठता है और आत्म विस्मृति में लीकर प्रकृति का प्रकृति के लिए चित्रण करता है, तब प्रकृति आत्मम्बन बनकर उसकी रचना में उतरती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्रकृति का यथातथ्य वर्णन ही उसका आत्मम्बन- रूप में चित्रण है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों में प्रकृति के आत्मम्बन रूप का महत्त्व विवादास्पद रहा है। आचार्य वाग्भट्ट का मन्तव्य है कि "वृक्षादि में अनुचित रूप से आरोपित रस और भाव रसाभास तथा भाषाभास होते हैं।" आचार्य हेमचन्द्र भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि : "इन्द्रिय रहित पदार्था उच्यन्ते पक्षियाणां च आरोप करने से रसाभास और भाषाभास होते हैं।" प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप उन्हें कुछ पसन्द सा न आया और प्रकृति के आत्मम्बन रूप को सम्भावना तक का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। परन्तु निरुसहारी प्रकृति का रूप रंग, वीज प्रत्येक परिस्थिति और व्यापारों के सम्यक् विवरण तथा संश्लिष्ट चित्रण से पाठक या श्रोता के हृदय में अन्तर्हित अनुराग उद्बुद्ध होकर वानन्दानुभूति में परिणत नहीं हो जाता ? जिन्हें प्रकृति के उन्मुख सौंदर्य का समीप से पान करने का अवसर नहीं हुआ है, उनकी बातें वे जानें। निः

१- तत्र वृक्षादिष्वनीलित्वेनारोप्यमाणा रसाभासी रसाभासाभासा मयः ।

- वाग्भट्ट , अ० ५ पृ० ५६

२- निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु आरोपाद्रसाभासाभासी ।।

- हेमचन्द्र- काव्यानुशासन पृ० १०१

सन्दिह ' मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्याप्ति को नष्ट करता है। बुद्धि की स्थापना के लिए मनुष्य को जिस प्रकार वस्तुओं और उनके ह्यात्मक चित्र मिलना हैं, उसी प्रकार भावों की व्याप्ति के लिए भी ।^१ " कतख बाबाय रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति के आत्मस्वरूप को स्वीकार करते हुए जोरदार शब्दों में कहा है कि " में आत्मस्वरूप मात्र के विशद वर्णन को दीता में असामर्थ्य करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ ।^२ "

पृष्ठभूमि रूप

कभी कभी कवि किसी घटना या परिस्थिति के आधार रूप में भी प्रकृति का चित्रण करता है। घटना के समय और स्थान की अभिव्यक्ति प्रकृति के परिवर्तित रूपों द्वारा करने मनोरम और स्वाभाविक रूप में हो जाती है कि पाठक कुछ कहें हुए बिना ही सब कुछ समझ लेता है। वहमानसिक रूप से स्वयं घटना स्थल पर उपस्थित होकर क्रयदा दर्शन का आनन्द लाने करता है। इस रूप में प्रकृति स्वतन्त्र आत्मस्वरूप की नहीं होती, किन्तु घटनाओं के विकास और परिस्थितियों के प्रसार से उसका समवाय सम्बन्ध होने के कारण समस्त आत्मस्वरूप अवश्य कही जा सकती है। रामायण, महाभारत, ब्रह्मगीता, काव्यास और भवभूति की रचनाओं तथा बाण की कादम्बरी में इस प्रकार के कवि स्थल हैं। कादम्बरी तो इस दृष्टि से बेजोड़ रचना है। वास्तविक होनेपर भी विन्ध्याटकी, शास्त्रि तह, बाबाजि-बाब्रम, कच्छीद-सर बादि के वर्णन अपनी हृदय-

१- बाबाय रामचन्द्र शुक्ल- विन्तामणि भाग २ पृ० ६७

२- उपरिष्ठ

..

पृ० ३७

प्राप्ति तथा विशदता के कारण 'बाणीच्छिष्ट जगत् सर्वम्' के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपने पूर्णता और मनोरमता के कारण प्रकृति के ये चित्र मानवी-मन की दृष्टि से किसी नवीदा के कम नहीं हैं, फिर भी ये स्वतन्त्र बालम्बन नहीं रहे जा सकते क्योंकि अपने क्रमिक विकास में वे घटना की स्थिति की और बढ़ते हुए समाहित हो जाते हैं।

घटना-स्थिति के समान ही कभी कभी कवि प्रकृति की भावों की पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रस्तुत करता है और अपनी रचना में प्राकृतिक दृश्यों की ऐसी योजना करता है कि कवि अपने वाता-उसके (कवि के) द्वारा निबद्ध किसी पात्र के भाव उनमें सुसंरित हो उठते हैं। ऐसे स्थलों पर प्रकृति का उपयोग पात्र के मनोगत भावों के लिए उपर्युक्त वाता-वरण की सृष्टि करने के लिए होता है। प्रकृति इन भावों का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत दीप्त पड़ती है और कभी कभी तो वह स्वयं ही उन्हें प्रकट करने लगती है। मानवीय भावों के समानान्तर ही प्रकृति के रूपों का चित्रण करना भी उसके भाव-बालम्बन रूप का एक पक्ष है। जैसे कालिदास के रघुवंश में वसन्त और प्रातःकाल का वर्णन राजा के ऐश्वर्य के तुल्य ही प्रस्तुत किया गया है।

भावबालम्बन से उतर कर उद्बोधन की ओर फैला हुआ प्रकृति का वह रूप है जिसका चित्र कवि प्रकृति में मानवीय भावों का बाह्यीकरण करता है। इस रूप में प्रकृति में प्राणों का स्पन्दन साफ़ भाव-रूप में लगता है और वह मनुष्य को अपने समान ही भावों में ग्रस्त प्रतीत होती है। प्रकृति मानों उससे सहानुभूति प्रकट करती है। यह सहानुभूति उस कीट की होती है जो बहानियों में उलझे हुए जलकणों और कंधों में बन्द हास की स्वतन्त्रता प्रदान करती है। अतः प्रकृति का यह रूप जो साहित्य में मान-

वीकरण के नाम से प्रसिद्ध है, उदीप्त के अन्तर्गत लिया जा सकता है, क्योंकि प्रकृति को अपने से भावों से व्याप्त देखकर मनुष्य फिर एक बार अपनी स्थिति को देखता है, तो उसके भावों में सान्द्रता आ जाती है फिर भी अपने भावों का प्राधान्य होता है।

उदीप्त रूप

प्रकृति के ऐसे वर्णन जो मानवीय भावों को उदीप्त में सहायक बनकर आते हैं, उदीप्त विभाव के अन्तर्गत माने गये हैं। इस प्रकार के वर्णनों में प्रकृति अनुकूल और प्रतिकूल दोनों रूपों में मिश्रित हुई है। अवधौषण के शीतलानन्द में वह विगीगि-हृदय के साथ पूरा ताम-अस्य रहती हुई कृषि व्याकुल मिश्रित की गयी है। कालिदास के अभिमान-शाकुन्तलम् में शकुन्तला के पतिगृह जाने समय तपोवन के पक्ष पक्षी और मृता पौधों की मनोवशा अनुभूया, अश्रुम्वदा और कन्व की दशा से कम नहीं है। प्रकृति को उदीप्त रूप में मिश्रित करी हुए भी उसकी सत्त्व स्वतन्त्रता को रक्षा होनी चाहिये। किन्तु यह कार्य जो हो कौशल को अपेक्षा रहता है। प्रकृति का ऐसा वर्णन उदीप्त रूप में उत्कृष्टतम कहा जा सकता है। कुमारसंभवगत वसन्त वर्णन इसी कीटि का है।

वस्तुतः विधान रूप

प्रस्तुत भी अधिक भावगम्य और स्पष्ट बनाने के लिए प्रकृति के विस्तृत चित्र से निक प्रकारके सदृश रूपों और व्यापारों का विधान कवि समुदाय प्रारम्भ से ही करता आया है। प्रकृति के इन प्रयोगों में स्वतः सम्भवो के अतिरिक्त कवि-कल्पना-प्रसूत रूपों का समावेश

किया गया है, परन्तु यह कल्पना निराधार नहीं समझनी चाहिए। इसका आधार कवि के व्यापक अनुभव में जाये विविध रूप रंग, वाकार-प्रकार, गुण-दोष आदि का अन्वय मण्डार है जिससे वह अपनी रूपाि के अनुसार किसी-नी वाकार में रूप रंग गुण आदि का अनित्यपूर्ण समावेश कर नया उद्गमन बना लेता है, जो इस लोक का न होता हुआ भी इसी के तत्त्वों से बना होता है और कल्पित होकर भी सत्य का मनोरम उद्घाटन करता है। किन्तु क्रमशः इस कल्पना का आधार लोक न रहकर कवि का मस्तिष्क ही रह गया। अतः इसमें भी विच्छेदता आती गयी। शास्त्र मानवीय अनुभवों पर आधारित न होने के कारण साधारण पाठक इसे अजनबी के रूप में ही ग्रहण कर सकता है, क्योंकि कवि के मस्तिष्क के साथ वह अपनी बुद्धि का सामंजस्य नहीं बैठा सकता। यही कारण है कि वह इसमें हृदय की समान करने वाले तत्त्व न पाकर शुद्ध अप्रकार हो पाता है।

कवि-समय ५

काव्य में प्रकृति विनाशक हुए ऐसी भी बातें पायी जाती हैं जो न देखी जाती हैं और न अन्यत्र सुनी ही जाती हैं। देश, काल प्रकृति आदि के विरुद्ध होते हुए भी इन्हीं काव्य का वर्णन नहीं माना जाता क्योंकि कवि लोग परम्परा से इस प्रकार का वर्णन करते रहे जाये हैं। ये प्रकृति विरुद्ध कथन जैसे इस का दूध पानो जल जल कर देता, जल्बा जल्बी का रात्रि में वियुक्त हो जाना, ज्वोर का जिनगी-रियां बुनना, स्त्रियों के चरण प्रहार से कशोक का विकसित होना आदि कवि समय कहलाते हैं जिसका अर्थ है कवियों का वाचन जल्बा सम्प्रदाय।

वार्यासप्तशती में प्रकृति चित्रण

वार्यासप्तशती प्रकृति से विस्तृत प्रांगण में रति-ओड़ार करने वाले प्रेमियों के प्रणय-चित्र उपरिथत करती है, किन्तु इसमें सब कुछ शृंगारो नहीं है। वस्तुतः शृंगारिक रचना होने पर भी इसमें नीतिपरक शुद्ध प्रकृति वर्णन से सम्बद्ध भी अनेक वार्यास दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण लीजिए- जिसमें शब्द श्रुती की चादिनी में यमुना का यह प्रवाह बपों बापों हो कितना आत्माय है :

“ज्योत्स्नागर्मितैकतमजगत् : स्फुरति यासुनः पुरः ।

दुग्धनिर्वा नागधिपान्प्रपन्ने सुप्त इवकृष्णः ॥” १

चादिनी के गर्म के मध्य में स्थित, ऐसीच तट के बीच में यमुना का निरन्तर, जन प्रवाह, लीरणागर में शेष शय्या पर सोये कृष्णके समान शीमित हो रहा है।

इस वार्या में कल्पना की नमीनता है ।

वार्यासप्तशती के कुछ टोकाकारों ने इसका प्रसंग संकेत स्थल की धनाचरण कल्पना से जोड़कर इसे शृंगार के शोभ में प्रवेश देने का प्रयास किया है किन्तु उस वार्याप के बिना इसे शुद्ध प्रकृति वर्णन की दृष्टि से देखना कहीं अधिक समीचीन जान पड़ता है।

वायु द्वारा उड़ायो गयी कमल की गन्ध

से वाकृष्ट प्रमद का सिंहाव तो देखिए-

° बलवदन्निर्लोपनीतस्फुटितनवाम्पीजसीरपी मधुपः ।

वाकृष्यते नन्निन्या नासानिदिप्लवहिशरज्जुरिव ॥ ° १

प्रबल वायु द्वारा लायी हुई विकसित कमल की सुगन्ध पाकर मधुप मानी कम-
लिनी के द्वारा नाक में नकेल डालकर सींचा जा रहा है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नव-विकसित
कमल गन्ध का सम्पीडकारी प्रभाव भ्रमर के चैतन्य की वात्मसात् करता हुआ
प्रकृति की विजय वीजयन्ती की ऊँचा उठाकर मानव मन की भी उल्लास से
भर रहा है ।

वापत्तियों के जाने पर भी अपने निवास
स्थान को न त्यागने वाले इन पक्षियों के चरत को इस प्रकार चित्रित किया
गया है :

° शासिशिखी समीरणादोलायितनीह निर्वृतं वसति ।

कर्मकशरणमगणितमयमशिथिलकेलिसमिधुनम् ॥ ° २

पक्षियों का जोड़ा, वृद्धा के शिखर पर, वायु से चंचल घोंसले में, कर्म ही
को एक शरण मानकर, मय की उपेक्षा कर, केलि की शिथिल न करते हुए,
धुस से रहता है।

इस प्रकार कवि ने पक्षियों के तरु
शिखरों पर बैठने तथा रहने के दृश्य को सूक्ष्म रूप से देखा है और उनकी

१- आर्यासप्तशती , ४०६

२- , ५७६

सुप्तातिसूक्ष्म क्रियाओं के वर्णन द्वारा स्वाभाविक मित्र उपरिष्ठ कर दिया है। तरुशिरों पर पक्षी अपनी जाति के पक्षिगणों में ही रहना अधिक पसन्द करते हैं। छपर उपर खन्नादि से भेट पर कर वारे भ्रान्त विहग अपने आश्रय-भूत वृक्षा पर ही रहते हैं। इतना ही नहीं वे आपत्तियों के आने पर भी अपने आश्रयभूत वृक्षा को न झौड़ते हुए उसी पर सुसज्जक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। अतः स्पष्ट है कि वृक्षाँ पर निवास करने का पक्षियों का सहज स्वभाव होता है।

वस्तु-बालम्बन

वस्तु- बालम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण के अनेक उदाहरण प्रष्टव्य हैं :

‘ कमलमुसि सर्वतोमुखनिवारणं विदधेव भूणयति ।
रोधीऽनिरुद्धस्वरसास्तमिणीस्तस्मयनाश्च ॥ ’ १

हे कमलमुसि ! (नदी का) तीर, जल प्रवाह को अधिकर स्वतन्त्र छपर उपर बहने से रोक कर अनिरुद्ध इस तरंगिणी की शोभा को बढ़ाता है।

महान् पति को त्यागकर पापी के साथ रमण करने वाली दुराचारिणी के प्रति निन्दा भरी उक्ति प्रकृति चित्रण के व्याज से इस प्रकार कही गयी है :

‘ विनिस्तकपर्सकोटि बाफन्दीभीण शक्तिरत्यक्त्वा ।
वटमकमनुसरन्ती बाह्मवि हठसि प्रयागतटे ॥ ’ २

१- वायसिप्तशती , १५६

२- .. , ५४२

है जहनुतनये । जटाझूट को समर्पित करने वाले शीकर का त्याग कर उसी चाबिस्य-
दोहा से तुम बट वृद्धा की अपेक्षा रखती प्रयाग के तट पर लोट रही हो ।

एक अन्य उदाहरण और नीजिर -

“ कृत्वा तटिनी तरंगैर्मितश्चक्रेणु नाशये निश्चितः ।

फलपल्लवत्कलरहितस्त्वयान्तरिक्षौ तद्वत्त्यक्तः ॥ ” १

है तटिनि । तरंगों से हरकर, जल पंखों में डालकर सूख घुमाया- मरमाया,
मलय में त्यागित नहीं किया । तुने फलों, पत्तों एवं बन्कलों से रहित कर
इस वृद्धा को वयर में शीद दिया ।

भाव- आलम्बन

भावालम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण के
जैसे सुन्दर सुन्दर उदाहरण वायासिप्तशती में भरे पड़े हैं। बानगी के लिए
कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

“ ग्रीष्मये समयेऽस्मिन्निर्मितं कन्य के ल्विनमूले ।

कलमात्वात्कल्यच्छिन्नं कुण्डलितमिदं शैत्यम् ॥ ” २

इस ग्रीष्म-प्रसुर समय में, कैलि वृद्धा समूह के नौने वत्यन्त शीतन्ता मानीं
थाला के धीरे के बहाने छिमटी सी पड़ी है।

इस उक्ति से स्पष्ट है कि जैतन झाया
भो वातम के भय से वृद्धा के वाभय को नहीं शीदती फिर जैतन का तो कहना

१- वायासिप्तशती, ६६२

२- .. , २००

ही क्या ? क्तः इस कामानल सन्तप्त स्फुटि अपने शरीर- तन्त्र में चीन कर
नी वादि भावों की अभिव्यक्ति होती है। भीषण वातप से कोई बाहर
नहीं निकलेगा । क्तः निर्द्वन्द्व होकर रमण करने के लिए प्रकृति ने वाता-
वरण बना दिया है। शरीर के नीचे चीन दायी मानों अपने चिर सहचर
(शरीर) के साथ रमण कर रही है।

यही भाव एक अन्य मार्ग में इस प्रकार
निहित किया गया है।

“ सति मध्याह्न द्विगुणधुमणिकक्षेणिपीडिता शया ।
मज्जितुमिवाल्बाले परितस्तदा नृन्माश्रयति ॥ ” १

ह सति । दोपहर में धूर्य की किरणें दूनी तीव्र हो गयी हैं, उनसे पीड़ित
शया मानों आल- बाल में मग्न होने के लिए वदामूल का आश्रय ले रही
है ।

रात से चन्द्रमा को मिलाने का प्रयास
करती हुई इस सन्ध्या का कष्टान्तरण कितना आकर्षक है :

“ रजनीमियमुपेतुं पितृशूः प्रथममुपास्ये ।
रज्जयति स्वयमिन्दुं कुनायकं दुष्टदूतीव ॥ ” २

यह सार्किकाजीन सन्ध्या, रजनी के समीप पहुँचाने के लिए पहले चन्द्रमा को
ले गयी परन्तु वह स्वयम् (चन्द्रमा को) दुष्टनायक को दुष्ट दूती के
समान रजित करने लगती है।

१- वार्यासप्तशती , ५६४

२- .. , ५०३

एक अन्य उदाहरण और लीजिए - जिसमें
कार्यकार ने कौन नायिकाओं के प्रिय नायक को चाहने वाली नायिका को
प्रकृति-चित्रण के व्यास सम्बोधित किया है :

‘ सुलभीषु कमलकैसरकैतकमाकन्दकृन्दकुसुमेण ।

वाञ्छति मनोरथान्धामधुपी स्मरन्तुषि गुणीमावम् ॥ ’ १

कमल, कैसर, कैतक, जाम्ब, कृन्द आदि के कुसुम सुलभ हैं तथापि मनोरथ से
विवेकशून्य प्रमदी मदन के क्लृप्त में मीठी (अध्रान) बनने की इच्छा कर
रही है।

उदीप्त के रूप में

‘ ज्योत्स्नापिसारसमुचितवेणो व्याकोशमल्लिकोत्तसि ।

विशसि मनो निश्चितस्मरत्य कुमुदत्सरत्नहुरिका ॥ ’ २

है वादनी में अपिसार के अनुपम वेणवान् । विवसित मल्लिका का सोस
फूल रसने वाली, कुमुद रूप मूठ वाली, सान पर चढ़ायी गयी क्लृप्त तोष्ण
कामदेव की हुरी की तुम मेरे मन में घुस रही हो ।

प्रिया के विरह में चन्द्रमा के सहारे ही
रात बिताने वाले इस कर्ण को देखिए :

‘ यस्यां दिशि यस्य तरोयमित्य शिवां यथोन्नतग्रीवम् ।

दृष्ट्वा सुधाशुक्ला निशां कर्णस्तथा नयति ॥ ’ ३

१- कार्याप्तशती , ६४६

२- , , २४३

३- , , ४८५

ज्कोर ने जिस दिशा में, जिस वृक्षा की शाखा पर जाकर ग्रीवा ऊपर उठा कर जिस प्रकार से चन्द्रकेला की देखा, उसी प्रकार से वह (सारो) रात बिता रहा है।

निदाघकाल की प्रियतम के समान ही समझने वाली प्रीणितपतिका की चाह भरी यह उचित उद्दीप्त की धूनक है :

“स्पर्शदिव स्वेदं जनयति न च मे ददाति निद्रातुम् ।

प्रियं ह्य जघनशुक्लमपि न निदाघः क्षणमपि क्षमते ॥” १

ग्रीष्मकाल प्रिय के समान स्पर्शमात्र से स्वेद (उत्पन्न) करता है, और सुप्ति होने नहीं देता है, जघन- सम्बन्धित वस्त्र को क्षण भर भी नहीं सह पाता ।

जघन वावास- स्थान केसरीय से वर्णा से भीग कर जाते हुए पथिक को रोकने का प्रयास करती हुई नायिका की उचित धुनिये -

“पथिक कथं चफलीज्ज्वलन्मुदजलविन्दुनिवहमविनाहाम् ।

मयपुर कनकद्रवमिव शिवशरशिस्मितावितं सहसे ॥” २

हे पथिक ! बिजली से उज्ज्वल अत्यन्त (उद्दीप्त होने से) असह्य , वर्णा की झुंडों को, शंकर की बाणाग्नि से सीतापित, मयनामक वेंत्य के नगर के सुवर्ण द्रव के समान कैसे सह रहे हो ?

१- वार्यासप्तशती , ६२४

२- ,, , ३७२

ऋति वर्णन के अन्तर्गत ऋतु वर्णन की परम्परा भी प्रचलित है। काण्डिदास का ऋतु संहार इस बात का प्रमाण है कि यह परम्परा बहुत पुरानी है। वायार्कार ने भी जाने अनजाने में इस परम्परा का निर्वाह किया है। ऋ- वर्णन विषयक वायार्कार एकत्र संगृहीत नहीं हैं, अपितु जहाँ जहाँ बिखरो हुई हैं। इनमें कहीं कहीं तो ऋति का स्वतन्त्र रूप से चित्रण है और कहीं कहीं उद्दीप्त रूप में।

वसन्त

वसन्त ऋतु में विभिन्न के पुष्प विकसित होते हैं। मौसम सुहावना होता है न गर्मी न सर्दी। वायु की दिशा और दशा दोनों ही बदल जाती हैं। दक्षिण वायु बहने लगती है वह अत्यन्त स्पर्शानुकूल, सुगन्धित और शीतल होने के कारण निजान्त मादक हो उठता है। वायुपिया स्नान के लिए वाकषिक बन जाती है।^१ इसलिए वसन्त को 'काम' का उदाहरण कहा गया है। वसन्त के इस उद्दीप्त रूप का एक कला-पूर्ण शब्द चित्र लीजिए-

‘तपसा वमेशित एषा प्रीढबली न तनुफागुनेऽप्यासीत् ।

मधुना प्रमत्तमधुना को मदनं मिहिरमिव सहो ॥’^२

जैसे माघ मास में निरतेज किये गये फागुन में भी अपने प्रीढ़ बल का प्रभाव नहीं दिता पाता ठीक उसी प्रकार तपश्चर्या से दुर्बल अर्जुन में कामदेव तपसा कोई बल नहीं दिता सका था, किन्तु इस समय केन्द्र से उत्कृष्ट तेज का सूर्य सहा नहीं जाता, उसी प्रकार वसन्त से उत्कृष्ट उन्मादशास्त्री मदन को इस

१- वायसिप्तशती, ११६

२- , , २५६

समय कौन सह सकता है, क्यात् कौन नहीं ।

एक अन्य उदाहरण और भी प्रष्टव्य

है :

‘मधुदिवसेषु प्राप्यन्त्या यथा विशति मानसं प्रमरः ।

ससि लोहकण्टकनिमस्तथा तथा मदनविशिखीऽपि ॥’ १

है ससि । वसन्त के दिनों में लोह के कटि के समान प्रमर ज्यों ज्यों चित्त में प्रविष्ट होता है, त्यों- त्यों कामदेव का बाण भी । क्यात् ज्यों ज्यों ऊपर उधर भी चिर ही घूमता हुआ प्रमर या नायक प्रविष्ट होता है त्यों त्यों लोह के कटि के समान मदन बाण में हृदय में प्रविष्ट होता है।

ग्रीष्म

रसका वर्णन अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा मार्मिक है। गर्मी के कारण सतत जोव मबरालट में नाना प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं सभी तो -

‘निजकायशयां विम्य निदाघविषमफेतुम् ।

वत्त विविधास्तनुर्मगीर्मुग्धकुरंगीयमाचरति ॥’ २

ग्रीष्म से पीड़ित हरिणी माँति माँति की शारीरिक चेष्टाएँ कर अपनी ही शरीररूपाय में किंगम कर ग्रीष्मकालीन वातफण का निवारण करना चाहती है।

१- वार्यासप्तशती , ४३६

२- ,, , ३०६

गर्मी से शरीर फसीने सेल्यप्य होने के कारण प्रायः वस्त्र भी सहन करने में समर्थ नहीं होता है। दोपहरी को मर्याद धूप से कमल आदि नष्ट हो जाते हैं^२ और हाया भी पीड़ित होकर वृक्षा के नीचे झिपकर बाहर निकलना ही नहीं चाहती है^३। इस ऋतु में दिन बड़े तथा रातें छोटी होने लगती है।

वर्षा

ग्रीष्म के दुःसहताप को दूर करती वर्षा ऋतु आती है। सूखी और प्यासी पृथ्वी को जल की बूंदों से तृप्त करती है। जिससे वन हरे भरे हो जाते हैं। कीचड़ होने से वान जाने के रास्ते नष्ट हो जाते हैं। सूर्य, चन्द्र, और तारे सब बादल से ढकिय हो जाते हैं। इस ऋतु में आम के केंदुर फूटने लगते हैं। फले हुए आम की गुठली से निकलता हुआ लाल और श्यामल वर्ण का केंदुर कमठ की पीठ की ऊपरी छहड़ी से बाहर निकले हुए उसके शिरोभाग के समान दिखाई पड़ता है। कभी बादलों में बिजली चमकती है तो कभी वे जल के साथ जोते बरसाने लगते हैं। जल से मरी सरो-वरां में चहरे उकलती रहती है। एक वायां में सूखी नदियां की छोड़कर समुद्र के ऊपर बरसने वाला का निन्दात्मक उल्लेख हुआ है।^{१०}

१- आर्यासप्तशती , ६२४

६- आर्यासप्तशती , २५०

२- .. , २७८

१०- .. , ६१४

३- .. , २००, ५६४

४- .. , ४१३, ४८८

५- .. , ६६८

६- .. , ६४

७- .. , २०२, ३७२

८- .. , ५५२

वर्णाकाल में परदेश जाने की उद्यत पति की रोकने का प्रयास करने वाली नायिका की मनोवैज्ञानिक दृष्टि का यह कितना सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है :

“ विन्ध्यमहोदरशिखरे मुदिह्ये णोक्षपाणमयमनिः ।

उपदिषुज्ज्योतिः पथिन्वधायैव शातयति ॥ ” १

विन्ध्यावन के शिखर पर, मेघपङ्क्तिरूप करवाल की, विद्युत् रूप स्फुरण-शील तिनगारी वाला यह वायु पथिकों का वध करने के लिए ही तोरुण कर रहा है।

एक वन्योक्ति में गोवर्धनाचार्य ने वर्णाकाल में हृदय उधर घूमने वाले किसी लम्पट पुरुष की समता वस्थिर प्रकृति वाले बादल से करते हुए अपनी जप्तकारिणी कल्पना और वाग्विलासी काव्य शिल्प का परिचय इस प्रकार दिया है :

“ प्रावृ णि शैली णीनितम्वसुज्ज्वलन्दिगन्तरे भ्रमसि ।

वप्लान्तर घन किं तव वचनोयं पवनवर्यीऽसि ॥ ” २

हे वप्लान्तर घन । वर्णाकाल में पर्वत णों के कटक प्रदेस को त्यागकर तू हृदय उधर घूमता है, तेरा क्या उपराध है, क्योंकि तू वायु के अधीन है।

शब्द

शब्द में मेघ छट जाते हैं। आकाश स्वच्छ

१- कार्यसप्तशती , ४५६

२- , , ३७०

वीर चन्द्रकिर्णों लयन्त ध्वज दिशाओं पड़ती हैं। राजधान फूट जाता है। पौराणिक विश्वासों के अनुसार वर्णा मर कीरसागर में सोते रहने वाले पुरुषोत्तम भी शत्रु में जाग्रत हो जाते हैं। इन तथ्यों वीर हठियों को फिर कवि ने वीर सुन्दर लयों पित्तियाँ कही हैं :

‘ जागरयित्वा पुरुषं परं वने सर्वतोमुखं हरसि ।
वति शत्रुरूपं तव शीलमिदं जातिशालिन्याः ॥ ’ १

जय शत्रु । तुम जातिशालिनी का यह स्वभाव तो अनुपम है, जल में परम-पुरुष विष्णु को जगाकर सर्वत्र जल का शीघ्रण करती है ।

‘ प्रसरतु शरत्त्रियामा जगन्ति ध्वजस्तु धाम तुहिनीः ।
पञ्चरत्नकोरिकाणां कणिकाकल्पोऽपि न विशेषः ॥ ’ २

शरत्कालीन रात विस्तृत रहे, सन्ध्या को किरण संसार को प्रकाशमय बना दें (परन्तु) पञ्चरत्न नकोरियों को कण बराबर भी विशेष नहीं अर्थात् उन्हें सन्ध्या वीर राज्ञि का कुछ भी आनन्द नहीं ।

हिमन्त

‘ सति मिहिरोद्मनादिप्रसीदमपिधाय तौ यमवाने ।
वन्ध्यो वधिवासरं ख्य तुणार दिवसः कथयति ॥ ’ ३

जैसे अधि के दिन प्रातः प्रियागमन की वाशा है आनन्द वीर साथ प्रिय के न जाने पर प्रातःकालीन सुप्त नष्ट होकर दुःस देता है, उसी प्रकार हिम-

१- वायसिप्तशती , २३७

२- .. , ३६६

३- .. , ६५६

दिवस प्रातः सूर्य की किरणों से सीजात हल की दूर कर सार्वकाल के समय
वत्यन्त शीत दुःख देता है।

शिशिर

“नीरावतरणदन्तुरसिक्तसिद्धिदुरः शिशिरः ।

राजन्ति तुलराशिस्तुल्यैरिव तटैः सरितः ॥” १

शिशिर में जल उतर जाने से लहरियादार बालु राशि के सम्बन्ध से वत्यन्त
गुल्गुल, रुईदार गहों के समान तटों से नदियाँ शोभित हो रही हैं।

इस प्रकार वार्यासप्तशती के षष्ठे ऋतु
वर्णन से यह ज्ञात हो जाता है कि कवि ने ऋतु वर्णन में परम्परागत उप-
मानों का ही प्रयोग किया है। यह प्रकृति वर्णन विशेष रूप से मन की
भावनाओं को उद्दीप्त करने वाला है किन्तु ग्रीष्म व वर्षा के वर्णन में
कुछ वार्याओं में प्रकृति के वाक्यार्थ एवं मनोहारी चित्र प्रस्तुत किये गये
हैं ।

इसी प्रकार के दैनिक रूप-रंग विषय का
पारमिक चित्रण भी कवि ने वनिक रूपों में किया है :

प्रातः

प्रासादतः पर पङ्कती प्रातःकालीन सूर्य-
किरणों की यह गहरी पैठ किस सहृदय के हृदय में नहीं समा जाती -

१- वार्यासप्तशती , ३०८

‘ दीर्घवायामुत्तान्तर्निपातिनस्तरणिरश्मयः शोणाः ।

नृहरिस्ता एव दानववधः प्रविशन्ति सौधतन्म् ॥ ’ १

दीर्घ मारोह के मार्ग से अन्दर पड़ती, सूर्य की लाल किरणों, नृसिंह के नखों के समान हिरण्यकशिपु के वधस्थल में, प्रासादतन् में प्रविष्ट हो रही हैं ।

लेपिन कहीं कहीं कल्पना के अतिशय ने प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत का ही बिम्ब अधिक गहरी रेखाओं और रंगों में भरकर प्रस्तुत किया है। अन्धक-वध को पौराणिक घटना प्रभाव-बिम्ब पर किस हून सराबरे के साथ आ गयी है-

‘ पूर्वमहीपर शिखरे तमः समासन्नमिहिरकान्तिम् ।

शूलप्रोतं सरुधिरमिदमन्धकवपुर्विवाप्सति ॥ ’ २

उदयान्त के मस्तक पर, निवृत्तवर्ती सूर्य की किरण से गृहीत यह अन्धकार शिव के शूल से अन्तर्व्याप्त रुधिर सहित अन्धक शरीर से शोभित हो रहा है।

सन्ध्या

सन्ध्या के उजाड़ झुनेप को तोड़कर भी अधिक मुसरित करता हुआ सा यह कम्पाकृत कितना कठुण है :

१- वार्यासप्तशती , २६६

२- , , ३६२

“ वायं कुशयान्तरमधुपानां निर्यातां नादः ।

मित्त्रव्यसनविषण्णीः कमलैराकृत्य ह्य मुक्तः ॥ ” १

सार्यकाल के समय निकलते हुए प्रमरीं का, कमलों के भीतर, शब्द पानों सूर्य के वर्तनगमन रूप दुःख से दुःखित कमलों द्वारा किया गया विज्ञाप है।

चन्द्रमा

“ उत्प्लवितान्जनीऽयं ज्योत्स्नावर्णी धुधाकरः स्फुरति ।

वायवतद्वृष्णाचरणाः शकटं ह्य प्रकटितजगिरः ॥ ” २

स्फुट प्रकट दिखायी देने वाले कर्कश से युक्त, लीदनी की वर्णा करता हुआ यह चन्द्रमा वीरुष्णा चरणों से युक्त, जगिर सागर प्रकट करते शकटादुर के समान शोभित हो रहा है। इस उक्ति में चन्द्रमा की शोभा के वर्णन की अपेक्षा समत्कारिता प्रदर्शित की गयी है। इसमें न तो कवि का प्रकृति प्रेम ही प्रकट हो सका है और न उदीपन भाव ही। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि लीदनी के बिदकर किसी नायिका की यह भावामिष्यवित है।

चन्द्रमा के तारों और जमकने वाले इन तारों की शोभा को इस प्रकार चित्रित किया गया है :

“ उत्प्लवितशीतदीधितिकलोष्णं स्फुरन्ति तारीधाः ।

कुसुमायुधविधूतधनुर्निर्गतमकरन्दविन्दुनिभाः ॥ ” ३

उदित चन्द्रमा के पास, तारों का समूह, कामदेव के द्वारा धनुष से निकाले

१- वायसिप्तशती , ६५

२- .. , ११६

३- .. , १३६

मकरन्द बिन्दु के समान भीमिit हो रहा है।

अन्य स्थान पर इन्हीं तारों को नायक के पञ्चाक्षरों के समान बताती हुई दूती विरहिणी से कहती है कि :

“वितततमीमणिलालम्पीत्संगस्फुटाः कृणादि ।

पञ्चाक्षरनिकरा ख तारा नमसि प्रकाशन्ते ॥” १

हे मृगनयनि ! विस्तृत तमीलप स्याही की रेलारूप बिन्दुओं से युक्त उत्सर्ग वाले पूर्णवर्णित तारे, आकाश में पञ्चाक्षरों की भाँति चमक रहे हैं।

प्रकृति का आलंकारिक रूप

वार्यासप्तशती में अप्रस्तुत प्रीति या अन्योचित के रूप में प्रकृति-चित्रण अधिकता के साथ किया गया है। इन पदों में नायक नायिका दोनों को ही समान रूप से उपदेश दिये गये हैं। कहीं दुष्ट प्रवृत्ति वाली नारी की निन्दा की गयी है तो कहीं नीति सम्बन्धी बातें कही गयी हैं। उदाहरण के लिए बानगी प्रस्तुत है :

“स्थलकमलमुग्धवपुषा सार्तकस्त्रिकरणीन ।

वाखासयति विसिन्याः कूले विसकण्ठिका शकम् ॥” २

कमलिनो के पास बगुनी सार्तक चरणों के में छिपाकर स्थल कमल के समान सुन्दर शरीर से मत्स्य को विश्वास दिलाती है।

१- वार्यासप्तशती , ५४७

२- .. , ५०७

कतः कुण्ट स्त्री भी इसी प्रकार बाह्य
 एवं अनुकूल वाचरण से पुरुष को वाकन्ति कर फिर उसका विनाश कर
 देती है।

ऐसी ही नायिका में जाकुण्ट होकर उसके
 पास पास चक्कर काटने वाले नायक को वार्याकार ने जन्योचित के व्याज से
 इस प्रकार समझाया है :

‘ चरणीः परागसैक्यमफलमिदं लिखसि मधुप । केतवयाः ।

इह वसति कान्तिसारे नान्तःसलिलापि मधुसिन्धुः ॥ ’ १

हे मधुप । केतको का यह पराग रूप रतीला तट तू व्यर्थ क्षुब्धता है, केवल
 देखने में- सुन्दर इस परागरूप रतीले तट के भीतर भी जल वाली मकरन्द नदी
 नहीं है।

एक जन्योचित में किशोरावस्था की
 नायिका के साथ रमण करी हुए नायक के प्रवित उसकी अन्य प्रेमिका को
 प्रेममयी परिहासोचित सुनिये -

‘ पिव मधुप बहुलकल्किं दूरसनाग्रमात्रमाजाय ।

अधरविलेपसमाप्य मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥ ’ २

हे मधुप । दूर से जिह्वाग्र मात्र स्पर्कर बहुल कल्की का रस पान करी । अधर
 संर्क में ही समाप्त हो जाने योग्य (वत्प) मकरन्द पर व्यर्थ मुँह न
 लगावो ।

१- वार्यासप्तशती , २२७

२- ,, , २६७

परिवार द्वारा आय न मिलने वाले
कुटुम्ब पोषक को समय बिताने को कितनी दुन्दर युक्ति बतायी गयी है :

“यूयसी तयकश्चिन्न हि मानस्यानुरूप इह विटपो ।
प्रत्य दिनं निदाघ्नाधीयः ख सत् ते शया ॥” १

माग्यवश ही लक्ष्मी विधर रहती है, यत्न से नहीं, इतका उत्प्रेष करता
हुआ कवि कहता है :

“घटिताफलाशकपाटं निशि निशि सुखिनो हि शैले पथाः ।
उज्जागरेण कैव । कति शय्या रक्षितुं लक्ष्मोः ॥” २

हे क्षुब्ध ! पल लप कपाट बन्द करके कमल पुरु को नींद सोति है, जागने से
लक्ष्मी की रक्षा कैसे की जा सकती है ।

कवि समय

कवि समय सिद्ध उपलियाँ का प्रयोग भी
यत्र तत्र किया गया है। स्त्री को मुखमदिरा से बरुल का हरा मरा होना^३
तथा उसके पाद प्रहार से वलीक का विकसित होना, नूतन लता में वसमय^४
में फलों का लगना, गज के मस्तक से मद टपकना और उसका वप्र-झीड़ा में^५

१- बार्यासप्तशतो , ४८८

२- .. , २१६

३- .. , २६०

४- .. , २५६

५- .. , ६२५

६- .. , १७३ , ६६३

संलग्न होना^१, सूर्य के निकलने पर सूर्यकान्तमणि का जलना^२, तथा चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्तमणि से जल टपकना आदि कवि प्रसिद्ध रुढ़ियों का जहाँ तहाँ प्रयोग किया गया है। यह बात कन्धी है कि इस प्रकार के प्रयोग आर्यासप्तशती में प्रायः अधिक नहीं हैं।

...

१- आर्यासप्तशती , ५०७

२- .. , २६, २४८

३- .. , २४४

सप्तम अध्याय

वायसिप्तशती का कलापद

शैली और भाषा

वायसिप्तशती मुक्तकों का संग्रह ग्रंथ है।

मुक्तकार की अपनी भाषा के स्पष्टीकरण में प्रबन्ध काव्यकार के समान स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है। उसके लिए कहने- सुनने का कसर कम ही होता है, क्योंकि उसे रस की पूरी सामग्री, भाषा का पूरा षट्, वस्तु का विशेष ध्यान यह सभी एक ही इन्द्र में भरना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि मुक्तकार की काफी सीध- समझकर चलना पड़ता है, क्योंकि वह थोड़ा बहुत शब्दों से और बहुत कुछ सीतों से अपनी भाषा की अभिव्यक्त करता है, इतना करने पर भी अभीष्ट पूरा नहीं हो पाता तो बचा सुना श्रुता या पाठ की प्रतिमा के ऊपर ढोड़कर कवि- कर्म का निर्वाह करता है। यही कारण है कि 'वायसि' जैसे लघुकाल्पर इन्द्र में मानव के चिरन्तन भाषा की बाध रत्न की सम्भावना ध्वन्यात्मक शैली के माध्यम सेही साकार की जा सकती थी। अतएव वायसिप्तशती का वाचोपान्त ध्वनि- काव्य हीना स्वभाविक ही है। वस्तु, रस और भाव- ध्वनि के सेकड़ों उदाहरण इस कसर- कृति में भरे पड़े हैं जिसकी उत्कृष्टता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी के धुरन्धर सतसंस्कारों ने बहुत से उदाहरण वायसिप्त- शती से लेकर ही प्रस्तुत किये हैं।

कलकार योजना कक्षा सक्वाठम्बर के लिए भाव या ध्वनि की निर्मम सत्या करना गोवर्धनाचार्य को कभीष्ट नहीं था। कलक वायावी में उष्मा, रुफ, उत्प्रेक्षा, प्रान्तिमान्, वृष्टान्त, क्वान्तिर-न्यास वादि कलकारों का सुन्दर समावेश हुआ है लेकिन ध्वनि या भाव की गीष्ठा नहीं बनाया गया है। हाँ, बहुत लोकी पर कोई ऐसी "वाया" मिल सकती है जिसे लक्ष्म- चित्र के उपाकरण स्वरूप रसा वा सके या ऊहा से कीत प्रीत ही। उक्ति- वक्रता कलक वायावी में मिल जाती है। इस प्रकार स्थूल रूप से हम वायासप्तशती में तीन प्रकार की शैली का अनुगमन देखते हैं- व्यञ्जना प्रधान कलकृत शैली, व्यञ्जना प्रधान सप्त कलकृत शैली और वक्र- कथन शैली। कल्पना- प्रधान शैली की स्फाघ उक्ति ही मिलती है।

व्यञ्जना- प्रधान कलकृत शैली

कवि ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर स्वाभाविक मनोभावों के चित्र द्वारा काव्य का वादसी परीक्षा रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

‘कन्यमुसे दुर्वादी यः प्रियमदने स ख परिहासः ।

स्तरेन्ध्रजन्मा यो धूमः सीडगुरुमवी धूपः ॥’ १

दूसरे के मुस से निकला बी वजन दुर्वादि सम्पत्ता जाता है, वही प्रिय के मुस से निकली पर परिहास बन जाता है। कन्य केन्ध्र से उत्पन्न होने कारण बी धुवाँ सम्पत्ता जाता है, वही गुरु से उत्पन्न होने पर धूप कहलाता है।

काव्य के सम्बर्ध में ध्वनित कथ यह है कि सामान्य जन कक्षा निम्न कीटि के कवि द्वारा वर्णित विषय जहाँ वित्त की वाकृष्ट

नहीं करता वहाँ सुकवि बाणी से लेकर वहीं वाकर्णण और वामोद का कारण बन जाता है। यहाँ उपमानों के प्रयोग से स्पष्ट है कि हन्धन से निकलने वाला धुँवाँ जिस प्रकार नैर्घों के लिए कष्टकारी सम्पन्न जाता है, उसी प्रकार पर-पुरुष के मुल से निकले प्रेम वाक्य स्त्री-स्त्री को कष्टकारी होते हैं, किन्तु जिस प्रकार अगर से निकला 'धूम' पवित्र सम्पन्नकर शिरो-धार्य किया जाता है, उसी प्रकार पति के मुल से निकला कटुवचन नारी के लिए सौभाग्य का सूचक होता है। इस प्रकार 'मुल' 'स्व' 'वदन' 'धूम' तथा 'धूप' शब्दों का समुचित प्रयोग दर्शनीय है। वदन शब्द 'वद' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण बोली का उल्लिखित अथवा प्रत्यक्ष माध्यम वर्ण की अभिव्यक्ति करता है।

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है -

‘सा सर्वेष्व रक्ता रागं गुणिव न तु मुले वहति ।
वक्त्राष्टीस्तव रागः केवलमास्थे शुक्रस्येव ॥’ १

यह तुम्हारे सभी प्रकार से अनुरक्त है, केवल गुणिवी के समान मुल पर अनुराग नहीं रखती। तीसरे के समान वक्त्र कुतल से केवल मुल से ही अनुराग प्रकट करता है।

यहाँ कवि द्वारा दी गयी उपमा व्यंग्य वर्ण की साधिका है, बाधिका नहीं। नायक और नायिका के परस्पर भावों की अभिव्यक्ति से स्पष्ट हो रहा है कि - तीसरे का केवल मुल ही लाल होता है और गुणिवी (गुना) सर्वत्र रक्त वर्ण होती है, केवल मुल पर काला चिह्न रहता है, उसी प्रकार नायिका नायक में सब प्रकार से अनुरक्त है परन्तु मुल

से कुराग प्रकट नहीं करती और दूसरी और पवन जातुरी में वदा नायक केवल सुत पात्र से ही कुराग प्रकट करता है ।

प्रेरणात्मक उक्ति-पूर्ण यह सुन्दर उदाहरण
देसिए -

‘ सुख्यतितरां न रक्षति परित्यक्तेषां गणागिनेव श्रीः ।
कुलकामिनीव नोज्झति वाग्देवी जन्मजन्मापि ॥ ’ १

लक्ष्मी वैश्या के समान अत्यन्त सुख देती है, किन्तु तनिक भी परित्यक्त नहीं रहती है और सरस्वती कुलकान्ता के समान जन्म जन्म में भी नहीं झोड़ती ।

यहाँ कवि ने लक्ष्मी की समता वैश्या तथा सरस्वती की समता कुलकान्ता से करके एक और सरस्वती का महत्त्व प्रति-पादित किया है तो दूसरी और कुलकान्ता स्वकीया की गौरवान्वित किया है। निर्धनता और अन्य प्रकार के कष्टों में भी सरस्वती कवि का साथ नहीं छोड़ती । मनुष्य का कर्म संस्कार रूप में फलयोग के लिए जन्मान्तर में भी उसके साथ जाता है। इन लोक प्रतिष्ठित विश्वासों की सहज व्यंजना भी इस उक्ति में हो गयी है।

व्यंजना- प्रधान काल्पित शैली

वार्यासप्तशती की प्रतिनिधि शैली व्यंजना -
प्रधान काल्पित शैली ही है, लेकिन काल्पित सहज व्यंजिका शैली में भी कवि कम समर्थ नहीं है। सन्दाहम्बर से विहीन मुग्धात्म की भाँति सरस उक्तियाँ भी

१- वार्यासप्तशती - १७

उनकी रचना में मरी पड़ी है। उदाहरण प्रस्तुत है :

‘ क्लीञ्जीरपराधान्मम तर्प्य कथय मन्मुहं वीक्ष्य ।
वमिधीकृतो न किम् यदि न मानवीराननः कितवः ॥ ’ १

नायक- तुने मेरे अपराध सुने हैं, जरा मेरा मुस देखकर सब- सब बता क्या मैं अपराधी प्रतीत होता हूँ। नायिका के इस कथन पर नायिका कहती है कि हे भूत ! यदि तू मेरे सामने न होता और तेरा मुस देखते हों मेरा मान न चला जाता तो क्या मैं कुछ कह नहीं पाती ।

यहाँ कोई क्लेश नहीं है, शब्द योजना का भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया । सरल स्वाभाविक भाषा में हृदयगत कोमल भावों की अभिव्यक्ति हुई है।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए-

‘ प्रणामति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुष्कमुल्लिखति ।
प्रियसंगाय स्फुरिता वियोगिनी वामबाहुन्ताम् ॥ ’ २

प्रिय संगम के लिए फड़कती हुई बायीं मुजा की वियोगिनी प्रणाम करती है, देखती है, छुमती है, रोमांचित तंगों से उसका बा लिंगन करती है।

यहाँ नायिका बायीं मुजा फड़कने से प्रिय के जाने की आशा से हर्षित होकर वफ़ा हाव- भाव जिस प्रभाव के साथ प्र-
रित करती है, संभवतः क्लेशों से जकूत होने पर भी वैसा नहीं कर पाती।

१- वार्यासप्तशती - २५

२- ,, - ३४७

प्रिय के बुलाने पर लज्जा एवं प्रेम की दृष्टिधा में फँसी इस नायिका का वर्णन तो देखिए-

“ एकं वदति मनो मम यामि न यामीति हृदयमपरं मे ।
हृदयमयमुचितं तव सुन्दरि वृत्तकान्तचित्तायाः ॥ ” १

नायिका सखी से कहती है कि - एक मन कहता है जाऊँ और दूसरा कहता है न जाऊँ (नायिका के जाने में संदेह है- यह अनुमान लगाकर) सखी नायिका से कहती है कि - “ है सुन्दरि । तुने नायक का चित्त हर लिया है। अतः तुम्हारे पास वो हृदयों का होना उचित ही है।

यहाँ नायिका के भावों की कँकारों द्वारा नहीं सम्झा जा सकता । नायिका के वर्णन में फँसे पर सखी द्वारा उपा-सम्प के रूप में दिया गया हटीला व्यंग्य समय के अनुकूल ही है। यह वायाँ सखी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण दोनों ही शैलियों का सामंजस्य प्रस्तुत करती है। नायिका का रुधन बोल बाल की भाषा शैली की सहज सादगी से परिपूर्ण है, जबकि सखी का स्वभाव कुराहें भरा व्यंग्य नागर- वन्द्य बुद्धि के माध्यम से अन्तरंग की सूचित कर देता है।

ऊहात्मक - शैली

इस शैली का वायाँसप्तशती में अधिक प्रयोग नहीं है, लेकिन सर्वथा उभाव भी नहीं । अपने सम्बन्ध के प्रभाव से वे भी कैसे बच सकते हैं :

१- वायाँसप्तशती- १४८

• प्रेक्षः प्रसस्तसत्त्वा साशु पुर्वेर्वीक्षिता स्तब्धग्रासः ।

बुम्बति मृतस्य वदनं भूतमुत्तीर्णैर्दितं बाला ॥ १

प्रेक्षों ने जिसके सामर्थ्य की प्रशंसा की, (विस्मय से) गिरते ग्रास वाले
मेढ़ियों ने जिसे बालों में आँसु मरकर देखा, वह बाला मूर्तों के मुँह के मसाले
के प्रकाश में दिखाई देते मृत प्रिय के मुँह की जूमती है।

वाग्वैदग्ध्यपूर्ण शैली

यद्यपि वायसिप्तशती में प्रायः व्यंजना प्रधान,
जकार रहित सीधी सारी उक्तियाँ ही संगृहीत हैं, जो हृदय पर सीधी
जाकर लगती हैं, तथापि कुछ उक्तियाँ ऐसी भी हैं जो कथन की वक्रता के
कारण विस्मय जथा बौद्धिक चमत्कृति भी उत्पन्न करती हैं। वाग्वैदग्ध्य-
पूर्ण शैली का प्रादुर्भाव गाथासप्तशती युग में ही हो चुका था । आचार्य
दीपेन्द्र ने कवि-कण्ठाभरण में दस प्रकार के चमत्कार का उल्लेख किया है।
इन वायसिप्तों में चमत्कार के दसों प्रकार देते जा सकते हैं। उदाहरण लीजिए-

१- वचिचारित- रमणीय

इस प्रकार का चमत्कार पाठक की सहसा ही
चमत्कृत कर देता है, किसी प्रकार का बौद्धिक जथा मानसिक आयास उसे
करना नहीं पड़ता-

• नैत्राकृष्टी भ्रामं भ्रामं प्रेक्षान्यथा यथास्ति तथा ।

ससि मन्थयति मनी मम दधिमाण्डं मन्थयण्ड इव ॥ २

१- वायसिप्तशती - ३६५

२- , - ३४४

है सति । मेरे नेत्र से वाकृष्ट प्रिय घूम- घूमकर ज्यों ज्यों रहता है, त्यों त्यों वह मन्थदण्ड जैसे दधि- पात्र को मेरे मन की मयता रहता है।

यहाँ कवि ने नायिका के मन की दधिपात्र तथा उसके चारों ओर घूमने वाले नायक की मन्थदण्ड (रह) से समता करके चमत्कार उत्पन्न किया है।

२- विचार्यमाण- रमणीय

यहाँ चमत्कार की प्रतीति आयास नहीं होती, बल्कि जैसे- जैसे बौद्धिक व्यापार द्वारा उचित में गम्भीरतर फँस जाती है वैसे वैसे ही रमणीयता की प्रतीति होती जाती है -

“ न खवर्णा न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा श्रुति ।
बाला त्वदिहापदि जाताप्लुताजीव ॥ ” १

उसकी फलने सी कान्ति नहीं, रूप नहीं, संस्कार नहीं, न वह स्वभाव ही है। वह बाला तोरे विरह की विपत्ति में अप्रतिश भाषा- सी हो गयी है।

यहाँ विरह से संतप्त नायिका का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया है। किन्तु चमत्कार की प्रतीति अप्रतिश भाषा के लक्षणों पर विचार करने से ही हो सकती है अन्यथा नहीं । खवर्ण, रूप, संस्कार , श्रुति का व्याकरणशास्त्र में विशेष वर्ण है और जिसे उसका ज्ञान नहीं उसके लिए इस पद का सौन्दर्य अनुभव करना संभव है।

३- सम्पूर्णवृत्त काव्य

उस स्थान पर होता है यहाँ चमत्कार पद

१- आर्यासप्तशती- ३४२

में बाधन्तव्यापी होता है -

‘ यत्राज्येन लघुता गरिमाणं यत्र वक्रता तृते ।

इन्द्रःशास्त्रमिवास्मिन्लोके सरलः सते किमसि ॥ ’ १

इन्द्रशास्त्र में सरलता से लघुता और वक्रता से गुरुता होती है, वैसे ही इस संसार में है सते । सरल क्यों बनते हो ?

४- भ्रूतकदेश

भ्रूतकदेश में ज्यत्कार पय में सर्वव्यापी न होकर उसके किन्हीं एक अंशमात्र में हुआ करता है :

‘ भाल्मयोऽग्निरिन्दुमाली गात्रे भुजंगमणिदीपाः ।

तदपि तमीमय एव त्वमीश कः प्रकृतिमिति ॥ ’ २

हे ईश । तुम्हारे भाल नैत्र में अग्नि, भस्त्रक में चन्द्रमा, शरीर में भुजंगमणि रूप दीप है, ये लीते हुए भी तुम तमीमय (तमीगुणशाली) हो, स्वभाव का उत्सर्जन कौन कर सकता है ?

यहाँ पदार्थों में कोई ज्यत्कार नहीं है, किन्तु उत्तरार्द्ध पक्षित विरोध ज्यत्कारपूर्ण है।

५- शब्द- ज्यत्कार

जहाँ ज्यत्कार केवल शब्दों में ही होता है -

१- वार्यासप्तशती -४८६

२- .. -४२६

° बाणं हरिषि कृठते मुक्तो बहुदोषमप्यदोषमिव ।

यावदोषं जाग्रति मलिमुखा एव पुनः पिप्पुताः ॥ ° १

विष्णु ने बहुदोष (जैक मुजावीं पात्रे) बाणासुर को अदोष (बाहु-
रहित) किया था उसी प्रकार सज्जन बहुदोष को भी अदोष (दोष-
रहित) करता है। और यावदोष (रातमर) जागता है उसी प्रकार
पिप्पुता जब तक लोकोत्तरे जब तक कोई दोष मिल नहीं जाता ।

यहाँ ° दोष ° शब्द का चमत्कार दर्शनीय
है क्योंकि दोष शब्द से जैक अर्थ की . प्रतीति होती है।

६- अर्थ- चमत्कार

जहाँ केवल अर्थ में ही चमत्कार निहित हो -

° बन्धनमागौडमुष्णाश्चिह्नकलापस्य मुक्तमानस्य ।

सिन्दूरित्वदीपितवस्त्रेण हृदये विदीर्णमिव ॥ ° २

इसका अत्यन्त दीर्घ, बन्धन की प्राप्ति , केश कलाप का वृद्ध मानों सिन्दूर
सुप्त भाग के बहाने से दो भागों में फट गया है।

७- लक्षणाभियोग

° मुक्ताम्बरेण धावतु निपततु सहसा द्विमार्गंगा वास्तु ।

इयमेव नर्पणा मम वीरप्रभवानुरूपरसा ॥ ° ३

१- वार्यासप्तशती - ४०७

२- .. - ४०४

३- .. - ४५७

वाकाश की ढोड़कर दीड़ने वाली , धूमि पर गिरे वाली, तीनों लीकों में शीघ्र गमन करने वाली गंगा के समान वह वस्त्र ढोड़कर दीड़े , चरणाँ पर गिरे , त्रिमार्गगामिनी बन जाये किन्तु सत्कृत से उत्पन्न कृतकृत्य प्रीति-मयी यही वेश है उत्पन्न कृतकृत्य जन वाली नर्मदा सी मुझे सुन्दर है।

यहाँ मुखताम्बर, त्रिमार्गगंगा, नर्मदा एवं वेश शब्दों में श्लेषगत चमत्कार है तथा त्रिमार्गगामिनी वेश्या की उपेक्षा सत्कृत में उत्पन्न स्वकीया ही सुन्दरा है , में वर्णगत चमत्कार है।

८- वल्लभारगत

‘ससि सग्नैव वसन्ती सदाशये महति रसमये तस्य ।

वाङ्मयशिक्षे सिन्धोर्न मनागप्याद्रतां भजसि ॥’ १

हे ससि । समुद्र के रसमय (प्रीतिवहल , जलमय) तन्त्रःकरण में बध्वानल के समान निरन्तर वास करती हुई भी तुम तनिक भी सजन्ता (सिन्धुता) की प्राप्त नहीं करती हो ।

यहाँ शब्द- प्रधान श्लेष से चमत्कार का सूक्ष्मपात होता है किन्तु उसका चरम सौन्दर्य उपमा में जाकर परिष्कृत होता है। अतः मुख्य रूप से चमत्कार कर्मात्मक उपमा में है।

९- रसगत

‘त्यक्ती मुञ्जति बीजममुञ्जति नानुग्रहेऽपि लोहितवम् ।

किं प्रावृणीष फलमाकर्तस्य कर्णायमस्य मया ॥’ २

१- वायसिप्तसती -६५५

२- .. -२५०

यदि इसे त्यागती हूँ तो यह प्राण त्यागता है और क्षुब्ध करने पर भी चञ्चलता की नहीं झोड़ता है। इस प्रकार वर्णा क्लृ के सरोवर के समान में इसका क्या कहें ?

यहाँ समत्कार का वारम्भ शिष्ट शब्दों से अवश्य किन्तु उसकी परिणति नायिका के वन्दन में ही होती है। अतः शुद्ध समत्कार भाव- समत्कृति का सहायक बनकर ही समाविष्ट होता है।

१०- प्रत्यात- वृत्तिगत

जब समत्कार समाप्त तद्विषय आदि प्रत्यात-वृत्तियों में स्थित हो तब प्रत्यात-वृत्तिगत कहलाता है।

‘अगणितगुणैः सुन्दरं कृत्वा चारित्र्यमप्युपासीनम् ।
मवतानन्यगतिः सा विहितावर्तेन तरणिरिव ॥’ १

हे सुन्दर ! अक्षय्य गुणों से आपने उसे चरित्र के प्रति उपासीन और अपने प्रति अनन्यगति बना दिया । अब उसकी वजह मगर में पड़ी उस नाव जैसी है जिसे न तो बन्धनरज्जु रोक पाती है और फवार भी दूसरी ओर ले जाने में असमर्थ रहती है और वह (नाव) उसी जगह घूमती रहती है ।

यहाँ ‘चारित्र्यम्’ शब्द का प्रयोग ‘चरित्र-मेव चारित्र्यम्’ (पातिव्रत्यम्) तथा ‘वर्णम्’ फवार के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः नायिका के सम्बन्ध में सन्धि विच्छेद द्वारा ‘च वरित्रम्’ फवार के लिए निष्पन्न होता है तथा नायिका पक्ष में ‘चारित्र्यमेव चारित्र्यम्’ स्वार्थ में तद्विषय वर्ण प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। अतः यहाँ

तद्विध प्रत्यय में समत्कार निहित होने से प्रस्थात-वृत्तिगत समत्कार होगा ।

समास- शक्ति

आर्यासप्तशती की कतिपय वाक्यांशों में समास शक्ति के प्रयोग से उसके कलापदा में रमणीयता आ गयी है। कवि ने चार से लेकर आठ-आठ तक क्रियापदों के प्रयोग से गागर में सागर समेटने की कलावत चरितार्थ की है। उदाहरण लीजिए-

“ गायति गीते शंसति वीरे वादयति सा विपत्नीष्टु ।

पाठयति फण्डरक्षुर्गुप्तिम संवादादारं बाला ॥ ” १

तेरे संवाद का अक्षर बख बाता गीत में गाती है, वीरी में मुसखित करती है, वीणावाँ पर बजाती है और फण्डरक्षु तुम्हें की पढ़ाती है।

यहाँ गायति , शंसति, वादयति, पाठयति क्रियापदों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार विरहिणी लफ्फी नायीं मुजा के फड़कने पर उसे प्रणाम करती है, देखती है, झूमती है तथा रोमाञ्चित वीरों से उसका वाञ्छित करती है- के लिये क्रमशः प्रणमति, पश्यति, झुम्बति, संश्लिष्यति क्रिया- पदों में भावपदा के साथ कलापदा की रमणीयता देखी योग्य है।^२

एक अन्य उदाहरण लीजिए- उपमान और उन्मेषगत व्यापारों का व्यापक साम्यवत्तमिच्छवत्त करने के लिये ३: क्रिया

१- आर्यासप्तशती - २११

२- .. - ३४७

फर्ों का समत्कारपूर्ण प्रयोग अर्थ को दीप्कवत् प्रकाशित कर रहा है -

“ सपरावृत्ति चरन्ती वात्येव तुर्णं मनो नवर्णानि ।

हरसि क्षिपसि तरुण्यसि भ्रमयसि तीज्यसि पातयसि ॥ ” १

हे सुन्दरि ! कधी जैसे तुण की, उसी प्रकार तुम बार बार पीछे मुड़कर देखती हुई चल्ती मेरे मन की कधीन कर लेती हो, दुःखी बनाती हो, वकल बनाती हो, किंत्वंविषुद बनाती हो, तीजती हो (यथास्थिति में नहीं रहने देती हो) मुश्किल करती हो ।

इस जाया की उत्तरार्द्ध पंक्ति में क्रियाफर्ों का प्रयोग समत्कारपूर्ण है।

जाट क्रियाफर्ों का एक उदाहरण नीजिए-

“ स्फुरति नर्त्तनं च विज्जितति शिष्यं गृह्णाति न च विमोचयति ।

न च मुञ्चति न च मययति नयति निर्णं ता न निद्राति ॥ ” २

वह नर्त्तन से स्फूर्ति करती है, किन्तु नर्त्तनत नहीं करती, वस्त्र को फड़ती है, किन्तु छोड़ती नहीं, (नायक की) छोड़कर जाती नहीं, मदन केष्टावर्ों से मत्त नहीं बनाती, रात बिताती है, किन्तु नींद नहीं आती ।

यहां स्फुरति, विज्जितति, गृह्णाति, विमोचयति, मु चति, मययति, नयति, निद्राति क्रियावर्ों से नायिका की कौह केष्टार ही व्यक्त नहीं हो रही हैं, बल्कि उनके माध्यम से उसकी उस दम्द-

१- जायासिप्तशती - ६२१

२- ,, - ६२६

भरी मनोदशा का सर्वांग चित्र भी उभरता है, जो लज्जा और काम की वहमहमिका के कारण उसे मीगनी पड़ रही है।

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें कौक व्यक्तियों की मानसिक दशाओं का चित्रण उनकी विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा केवल क्रियाओं का प्रयोग करके किया गया है। प्रसंग- विधान की दृष्टि से भी यह कवि के मुक्तक रचना कौशल का परिचायक है :

“सदनादपेति दयितौ हसति सखीविशति धरणिमिव बाला ।

ज्वालति सफत्नी कोरे जल्पति मुग्धे प्रसीदति ॥” १

तीते के कहने पर कि है मुग्धे प्रसीद । प्रिय घर से बाहर निकल गया, सखी
ऐसी लगी, बाला यानी धरती में गड़ गयी और सफत्नी जलने लगी ।

मानिनी नायिका को मनाते हुए कही गयी
नायक की इस उचित की सबके सामने हँसकर तीते ने जो लज्जा-संकीर्ण -
हास्य और ईर्ष्या से नरपूर वातावरण उपस्थित किया वह द्रष्टव्य है।

शब्द- ध्वन

श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण के लिए जहाँ
साहित्य के अन्य अंगों- उपांगों का अपना महत्त्व है, वहाँ साहित्य में
प्रयुक्त होने वाले शब्दों का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसीलिए कहा
गया है कि “एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति”^२
क्या एक शब्द बख्शी तरह से जाना और बख्शी तरह से काव्य में प्रयुक्त

१- वायसिंहाश्रयी- ३५३

२- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद

हुआ स्वर्ग लीक में तथा इस लीक में कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है। परिणामतः कवि को शब्दों के चयन के प्रति सतत जागृत रहना चाहिए। कृत्रिम और बाह्यपूर्ण शब्दों के प्रयोग से कवि को बचना चाहिए। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करने से कवि की काव्यकृति प्रभावशून्य और विर-स्ता की उत्पन्न करने वाली होती है। यथा- यदि किसी स्थूलाया स्त्री को पैल्लर उसके लिए यदि तन्वीणी का प्रयोग करता है तो यह व्यं विपरीत अभिव्यक्ति करेगा और काव्य रचना निर्दुष्ट नहीं होगी सम्भवतः शब्द प्रयोग के महत्त्व को समझकर ही वाचार्थ जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' काव्य की परिभाषा की है। शब्द-चयन के अन्तर शब्द निर्माण करने की कवि की स्वतन्त्रता है। वह नवीन शब्दों की रचना कर सकता है, वह उपयुक्त शब्दों की सटीक योजना कर सकता है। पर- रचना का विधान स्पष्ट नहीं होना चाहिए और ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि स्पष्टता से शब्द रचना विधान बलहीन हो जाये। काल्पनिक उद्दान के लिए आवश्यक विस्तार भी नहीं होना चाहिए और विविधता के लिए शब्द रचना अस्वाभाविक भी नहीं होनी चाहिए। अतः कवि को इन सबका ध्यान रखी हुए उचित शब्द रचना करनी चाहिए।

काव्यीत्कर्ष हैतु सरल, कोमल, मधुर शब्दों का चयन करना कवि की प्रतिभा पर निर्भर है। किन्तु शब्द-चयन सुबोध, सार्थक, स्वाभाविक, सामिप्राय की दृष्टि से होना चाहिए। तभी काव्य के कलापदा में उत्कृष्टता आ सकती है, अन्यथा नहीं। आर्यासप्तशती में शब्द चयन बढ़ी सतर्कता के साथ किया गया है जिससे उसका कलापदा जगमगा उठा है। गोवर्धनाचार्य ने भाव के स्पष्टीकरण के लिए उपयुक्त एवं सामिप्राय शब्दों

१- पण्डितराज- जगन्नाथ- रसमंगाधर प्रथम बानन

का प्रयोग कौक वायावीं में किया है। उदाहरण नीजिए-

“ श्रीरामायणमहाभारतबृहत्कथानां कवीन्ममत्कुर्मः ।

त्रिमूर्ता एव सरसा सरस्वती स्फुरति यमिन्वा ॥ ” १

(हम) श्रीरामायण , महाभारत वीर बृहत्कथा के (क्रमशः वाल्मीकि, व्यास, गुणादय) कवियों की प्रणाम करते हैं, जिनसे सरस (शृंगारादि-मयी) बाणी तीन समान धाराओं में सरस (सजला) गंगा की भाँति प्रवाहित हो रही है।

यहाँ “ त्रिमूर्ता ” शब्द गंगा का पर्यायवाची है जो विशेष कर्म में प्रयुक्त हुआ है। वायकार ने गंगा की जल्म ही तीन धाराओं के अरूप ही सरस्वती की भी शृंगारादि रसों से सरस तीन धाराएँ मानी हैं। जिस प्रकार गंगा की तीनों धाराएँ वाकाश मृत्यु पाताल लोकोँ में जाती हैं, उसी प्रकार सरस्वती की तीनों धाराएँ भी रामायण महाभारत, बृहत्कथा में प्रवाहित हो रही हैं। अन्य स्थान पर वाकाश, मृत्यु, पाताल इन तीनों लोकोँ में गमन करने के कारण गंगा को “ त्रिमार्गंगा ” कहा गया है। जिस प्रकार उक्त तीनों लोकोँ में गमन करने पर भी गंगा पूजनीय होती है, उसी प्रकार सत्कृतपन्न नायिका “ कौकमार्गंगामिनी ” होने पर भी सुख देने वाली होती है।

अन्य वायावीं में ब्रह्मा के लिए एक ही कर्म में कर्तुर्मुक्त^३ वीर^४ कर्तुरानन^४ को पर्यायवाची शब्द मिले हैं - यिनका

१- वायासिप्तशती - ग्रन्थारम्भत्रय्या - ३४

२- वायासिप्तशती - ४५७

३- ,, - ५३२

४- ,, - ६०

क्यों है- चार मुस वाला कर्पात् ब्रह्मा । किन्तु चतुरानन शब्द चातुर्यवान् पुरुष के कर्ण में भी प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार ब्रह्मा चार मुस होने पर भी एक ही हृदयवाला है, उसी प्रकार बहुपत्नीक चातुर्यवान् होने के कारण सभी सपत्नियों के प्रति चतुराग क्रुट करता है, किन्तु वह हृदय से किसी एक को ही चाहता है। लम्बीदर गणेश को कहा गया है किन्तु आर्यासप्तशती में उठने बैठने में असमर्थ होने वाले तथा नायिका को सुरत में सन्तुष्ट न करने वाले व्यक्ति को 'लम्बीदर' कहकर धिक्कारा गया है।

जब व्युत्पत्तिजन्य कर्णेशिष्ट्य से सम्बद्ध शब्दों की भी बानगी लीजिए-

“ भूतानि च निबुलानां हृदयानि च कून्वसतिकुन्टानाम् ।
गुदिरमदिराप्रमत्ता गीदावरि विं विदारयसि ॥ ” २

हे गीदावरि ! मेघरूप मध्य से प्रमत्त तुम तटस्थ वृक्षों के मूल को तथा कुन्टावों के हृदयों को क्यों विदीर्ण कर रही हो ।

यहाँ गीदावरी शब्द की व्युत्पत्ति गाँ ददाति (गी + दा + दनिप् - छणीप् नस्यरः) से हुई है जिससे दो कर्णों की प्रतीति होती है- एक तो गीदावरी नदी की तीर दूसरे गीदान करने वाली स्त्री को । अन्य स्थान पर कावेरी शब्द की व्युत्पत्ति दो कर्णों में इस प्रकार मिलती है (कं वैर + वण् - छणीप्) कं वैरं शरीरमस्याः इति “ = जिसका शरीर अन्न रूप है कर्पात् कावेरी नदी तीर दूसरे ' कुत्सितं वैरं शरीर-मस्याः = जिसका शरीर कुत्सित है कर्पात् रण्डी , वैश्या आदि । इस

१- आर्यासप्तशती - १६८

२- .. - ४३१

प्रकार कावेरी शब्द कावेरी नदी के लिए तथा यौवनोन्माद से पञ्चदश होने वाली स्त्री के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^१ " नर्मदा " शब्द नर्मदा नदी के लिए तो प्रयोग किया ही गया है किन्तु दूसरे अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई है - " नर्म श्रुद्धाम् मनोरंजं वा वदसि तस्याः " अर्थात् अपनी सरस श्रुद्धाओं से अपनी प्रिय को मनोरंजन देनेवाली स्वकीया को " नर्मदा " कहा गया है।^२

लिंग- वैशिष्ट्य के कारण " नागरः शब्द स्त्रीलिंग में नगर उत्पन्न होने वाले व्यक्ति के लिए और नागरम् नपुंसकलिंग में सौंठ के लिए प्रयुक्त हुआ है।^३ " कञ्जुकः " पुल्लिंग में साँप के कंकाल के लिए और " कंकुम् " नपुंसकलिंग में बोली के लिए प्रयोग किया गया है।^४ " मित्रः " पुल्लिंग में सखा के लिए और " मित्रम् " नपुंसकलिंग में सूर्य के लिए प्रयोग किया गया है। " कौण्ड " शब्द पुल्लिंग और नपुंसकलिंग दोनों में प्रयुक्त होता है। अमरकोश में यह अण्डा के लिए प्रयुक्त हुआ है, जबकि आर्याभट्ट ने इसे " माण्डागार " तथा " फल की परिपूर्णता " के लिए प्रयोग किया है।^५

१- आर्यासप्तशती- ३

२- .. - ४४२, ४५७

३- .. - २७९

४- .. - ४९६

५- .. - ३२६

६- .. - २७

७- अमरसिंह - अमरकोश २। ५। ३७

८- आर्यासप्तशती - ६८०

बौद्धशास्त्र के अनुसार जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ
 "वस्थिर" "खर्ब" "साणिक" हैं उसी प्रकार वार्या के लम्पट नाक का प्रेम
 भी "वस्थिर" "खर्ब" "साणिक" माना गया है। सज्जन व दुष्ट व्यक्तियों
 के स्वभाव व्यक्त करने के लिए क्रमशः "लघु" (1) "खर्ब" (5)
 हन्दःशास्त्रीय शब्द रेशावों के रूप में प्रयोग किये गये हैं। एक वार्या में
 विरहिणी की कान्ति, रूप, संस्कार, स्वभाव के परिवर्तन की क्रमशः खर्ब,
 रूप, संस्कार, प्रकृति से रहित वस्त्रों के समान माना गया है। जिनका
 व्याकरण शास्त्र में विशेष कर्म है। वैशेषिकशास्त्रियों ने जिस प्रकार "वधर्म"
 वीर "द्वेष" वात्मा के गुण माने हैं, उसी प्रकार वार्याकार ने भी वधर्म
 द्वेष वादि दोष सम्पत्तिशालियों के गुण माने हैं।

सामाजिक परिवेश से सम्बन्धित शब्द भी वार्या-
 सप्तशती में दृष्टिगोचर होते हैं- जैसे लोगों के साथ उचित व्यवहार करने
 वाले को "तुला" कहा गया है। अन्य स्थान पर समदर्शी को "धर्मघट"
 कहकर सम्मानित किया गया है। विपत्ति में भी मोक्ष कार्य न करने वाले
 वीर दुष्टों के लिए जन्म में न डूबने वाला "हीरा" शब्द का प्रयोग किया
 गया है। प्रिय से सदा समान अनुराग रखी वाली नायिका के प्रेम की प्रतीक्षा
 करती न भुलने वाले "रत्नप्रदीप" के माध्या से की गयी है। एक वार्या में

१- वार्यासप्तशती -४८

२-	..	-४८६
३-	..	-३४२
४-	..	-५२०
५-	..	-२८५
६-	..	-४४२
७-	..	-२६४
८-	..	-३१७

सतियों की गणना में “ रेतारं ” सीन्ने का उल्लेख हुआ है।

एक अन्य उदाहरण नीजिए-

“ मूले निसर्गमधुरं समर्पयन्तो रसं पुरी विरसाः ।

हृदाव ह्य परपुरुषा विविधेषु रसेषु विनिधियाः ॥ ” २

वास्तव में स्वभावतः मधुर रसयावि रस समर्पित करते हुए भी जीवों के सामने नीरस प्रतीत होते हुए परपुरुष हंस की भाँति विविध रसों के वा-
धायक होते हैं।

यहाँ “ हृदाव ह्य परपुरुषा ” में
हृदु शब्द की सामिप्रायता दर्शनीय है। हंस में मधुर रस होता है। इसमें
सन्देह नहीं किन्तु इसी के साथ फले की गठि भी होती है जो नीरस होती
है। इसी प्रकार परपुरुष हंस की भाँति छुदन से चरण छोड़े हैं किन्तु लोक-
मय से दूसरे जीवों के सामने गन्ने की गठि की भाँति नीरस भाव प्रकट करते
हैं। (नः) उनमें तमिःरानि कल्पन्त उन्निह है। लेकिन यह कहा जा सकता है कि
ठीक है परपुरुष हंस की भाँति होते हैं। ये हंस की भाँति प्रारम्भ में सरसता
दिखाकर पर- स्त्रियों की वाकचर्चित करते हैं, किन्तु बादमें उन्हें पक्ष्मष्ट
बनाकर गन्ने की गठि की भाँति उनके प्रति नीरसता प्रकट करते हैं।

एक अन्य वाक्या में “ मुस ” एवम् “ वदन ”
“ धूम ” तथा “ धूप ” शब्दों का प्रयोग दर्शनीय है। दूसरी व्यक्ति के मुस
के निकली प्रेम वाक्य सुनाई प्रतीत होता है और वदन धूम से उत्पन्न हुए

धुआँ की भाँति कष्टकारी होता है, किन्तु वही धुआँ अगर से निकलने पर न केवल स्फुरणीय होता है अपितु धूआ की पत्रिद्र वस्तु मानकर उसे शिरो-धार्य किया जाता है। इसी प्रकार प्रिय के मुल से कौतुकबल निकला हुआ वक्त्र कुराग के रूप में परिणत होकर परिहास बन जाता है और उसकी समता 'अगुरु' से उत्पन्न होने वाले 'धूप' से की गयी है। पति के प्रति अन्य कुराग रत्नर भी मुल से मौन रहने वाली नायिका के लिए 'गुजा' (धुपली) तथा हृदय में कुराग न रत्नर भी केवल मुल से कुराग फूट करने वाले नायक की समता 'शुक' से की गयी है। अतः 'शुक' तथा 'गुजा' का प्रयोग सार्थक सामिप्रायः व सरल है।

सत्कृत में उत्पन्न होने के कारण सम्मानित होने वाली नायिका की 'सौमेयी' कहा गया है जो उसके लिए उचित ही है। बुद्ध पति का साथ देने वाली सुवा फत्नी की 'सर्वसहे' कहकर सम्बोधित किया गया है। वैश्या की 'भुजगी' तथा उससे त्यक्त पुरुष की 'केकुल' कहा गया है। 'सरस्वती' की 'कुल्कान्ता' तथा 'लक्ष्मी' की 'वैश्या' के समान माना गया है।

वायसिप्तशती में प्रयुक्त शब्दों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन एक अलग विषय है। यहाँ केवल बानगी प्रस्तुत की गयी है।

१- वायसिप्तशती- १३

- | | | |
|----|----|-------|
| २- | .. | - ६४६ |
| ३- | .. | - ३३३ |
| ४- | .. | - १३६ |
| ५- | .. | - ३२८ |
| ६- | .. | - ६७८ |

शब्दों के उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि गोब-
र्धनाचार्य ने शब्द जगत् में बड़ी उदारता बरती है और भाषा की सशक्त
कानने के लिए प्रायः सभी प्रकार के प्रचलित शब्दों को अपनाया है।

रीति

काव्य में रीति का बड़ा महत्त्व है। यही
कारण है कि रीतिवादी आचार्यों ने इसे काव्य की आत्मा माना है।
रीति के स्वरूप विश्लेषण के क्रम में उन्होंने रीति का विधायक तत्त्व
गुण की ही स्वीकार किया है। उन्होंने विशिष्ट फरकना की रीति कहा
है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने गुणविशिष्ट अर्थात् माधुर्य, वीज,
कान्ति, आदि गुणों से सम्पन्न फरकना की रीति बताया है। शास्त्र-
कारों ने रीति, वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी भेद से चार प्रकार
की मानी है। वैदर्भी के नाम का उल्लेख न करते हुए उसके सम्बन्ध में काव्य-

-
- १- रीतित्वा काव्यस्य । - वामन- काव्यालंकार १। २। ६
 - २- विशिष्ट फरकना रीतिः । .. १। २। ७
 - ३- विशेषी गुणात्मा । .. १। २। ७
 - ४- (क) पांचाली लाटीया गौडीया चेति नामतीऽभिहितः ।

वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेव ॥

- रुद्रट- काव्यालंकार २। ४-६

(ख) ----- सा पुनः स्याच्छतुर्विधा ।

वैदर्भीपायगौडी च पांचाली लाटिका तथा ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण - नवम परिच्छेद

प्रकाशकार कहते हैं कि - शिरःस्थ वक्त्रे वक्त्रे वर्ण के वन्तिम वर्ण से युक्त ,
ट वर्ण को होड़कर शेष स्पर्श वर्ण वृत्त एकार तथा ञकार वीर समास-
रहित वक्त्रा स्वरूप समास वाली रचना माधुर्य- व्यंजक होती है। तत्पश्चात्
इस परिभाषा को वैदर्भी का नाम देनेवाले विश्वनाथ का यह कथन उत्प्रे-
रणीय है कि वैदर्भी में माधुर्य व्यंजक वर्णों की वसमासा या वत्पसमासा रचना
रहती है। इसलिए इसे लज्जित रचना कहा गया है।^२

गौड़ी वीज वीर कान्ति गुणों से युक्त होती
है।^३ इसमें वीज- व्यंजक वर्णों से बाहम्बरपूर्ण दीर्घ- समास वाली रचनाएं
जाती हैं।^४ वार्यासप्तती प्रधानतः ध्वनि काव्य होने से उसमें स्थूल रूप
से वैदर्भी, गौड़ी , पञ्चाली रीतियों का प्रयोग किया गया है।

१= मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा वटवर्गारणा लघू ।

अनुत्तिर्मध्यनुत्तिर्वा माधुर्यं घटना तथा ॥

- मम्मट- काव्यप्रकाश - ८।७४

२- माधुर्यव्यंजकवर्ण रचना लज्जितातिश्रुता ।

अनुत्तिरुत्तनुत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिच्छते ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ६।२

३- वीजः कान्तिमती गौडीया ।

- वामन- काव्यालंकार सूत्र १।२। १३

४- वीज प्रकाशकवर्णवन्ध बाहम्बर पुनः ।

समासबहुला गौड़ी ----- ॥

- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ६।३-४

वैदर्भी प्रयोग

वायसि-क्षतती कुंगारिक रक्ता होने से उसमें मधुर एवम् कौमल भावों की अभिव्यक्ति तदनुकूल वैदर्भी- रीति में हुई है। बानगी के लिए कतिपय उदाहरण लीजिए-

‘वाल्मीकील्लोत्कृष्टी बल्कीवीकिङ्किणीगणकवणिताम् ।
स्मरसि पुरुषायासां स्मरामरविबुनयष्टिमिव ॥’ १

विपरीत- रत में भ्रमः जागे पीके होने से जिसकी जल्दी बचल है, जिसकी बचल करधनी की किंकिणियाँ ध्वनि करती हैं, कामदेव के चामर-बिह्न की यष्टि - सी उसकी तुम क्या स्मरण करते हो ?

शंकर और पार्वती के वैवाहिक अवसर पर सात्त्विक भावों के उदय से उपस्थित सम्बन्धियों की चेष्टाएँ कितनी वास्वाच हैं :

‘मेनामुल्लासयति स्मरयति हरिं गिरिं च विमुक्तयति ।
कृतकरबन्धविजम्बः परिणयने गिरिर्लोककम्पः ॥’ २

पाणिग्रहण के वसर पर शंकर का कर कम्पित होने से पाणिग्रहण में विजम्ब होगया, पार्वती की माँ मेना प्रसन्न हो उठी, विष्णु मुस्कराने लगे, हिमालय ने उधर से मुत केर दिया ।

रेश्म्यशाली नायक के प्रति वाकृष्ट नायिका के विचार में उदासीन हुए रक्षिक को उसके साथ रमण हेतु बताया गयी

१- वायसि-क्षतती - ८५

२- ,, - ४४३

यह युक्ति सीली जायक है :

‘ अयि मुग्धगन्धसिन्धुरत्नापात्रेण दन्तिनी दन्तिताः ।

उन्मुञ्जते करेणूः कैवल्यमिह मत्कुण्डाः करिणः ॥ १

वरे । लौक में मतवाले गन्ध गज की कैवल्य शंका पात्र से दाँत वाले गजों के मागने पर बिना दाँत वाले मकुना हाथी हथिनियों का उन्मुञ्ज करेते हैं ।

किसी रसिक के प्रति नायिका की सखी के वक्रोक्तिपूर्ण इन मधुर शब्दों को सुनें -

‘ प्रति बिम्बसंभूताननमादर्शं ध्रुमुल मम सखीहस्तात् ।

लादातु पिच्छसि मुधा किं लीलाकमलपीठेन ॥ ’ २

हे ध्रुमुल । वदन - प्रति बिम्ब से व्याप्त दर्पण को लीला- कमल के मम से मेरी सखी के हाथ से क्यों वृथा लेना चाहते हो ?

गौड़ी रीति

इस रीति का वायसिप्तशती में प्रायः कम प्रयोग किया गया है। बहुत कुछ लोके पर जो वायसिप्त शिखी हैं। वे प्रस्तुत हैं :

‘ विरकालपयिक । शंकातरंगितादाः किमीलासे मुग्ध ।

त्वन्नि स्त्रिंशत्श्लेषाग्रण किणरादीयेतस्याः ॥ ’ ३

१- वायसिप्तशती - १५

२- .. -३५०

३- .. -२२५

है बहुत समय बाद लीट पड़ि। मुग्ध । संशय से बँध जाँती से क्या देख रहे हो ? इसके शरीर पर तुम्हारे लङ्ग के आग्नि से उत्पन्न धावों के बिहनों की यह पवित्र है।

परगिना के साथ रात बिताकर प्रातःकाल जाने वाले प्रिय से सखिता शोध मरी उचित में कहती है -

‘नपन्भुजंगीमुक्तोज्जित । शीतलनन्भवह । निशिप्रान्त ।

वपराशां पुरयित् प्रयुक्तसदागते । मरु ॥’ १

वपरा सर्पिणियों द्वारा पान किया गया और बाद में त्यागा गया कृत्स्न सविष होने के कारण क्लृप्त । शीतल समीरण । रात में प्रमणशील । निरन्तर प्रातःकाल जाने वाले । अब तु दूसरी की वाशा पूरी करने के लिए जा ।

पाँचाली रीति

यह रीति माधुर्य और सुकुमार गुणों से युक्त होती है^२ इसमें जीव और कान्ति गुणों का आव रहता है। फलतः यह रीति क्लृप्त विज्ञाय होती है^३ इसके अतिरिक्त इसमें शब्द और व्यंज्य का समान रूप से गुम्फन होता है। वार्यासप्तशती में गौडी के समान

१- वार्यासप्तशती- २२३

२- माधुर्यसुकुमारोपपन्ना पाँचाली ।

- वामन - काव्यालंकार सूत्र १, २, १३

३- जीवकान्त्यभावानुत्पन्नपदा विज्ञाया च ॥

- वामन - वृत्ति पृ० २५

४- शब्दार्थः समो गुम्फ पाँचाली रीतिरिष्यते ॥

- मौजदेव- सरस्वती कण्ठामरण

ही इस रीति का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु फिर भी सीने पर मिली बायाँबाई की बानगी प्रस्तुत है -

‘सर्वं वदति मनो मम यामि न यामीति हृदयमपरं मे ।

हृदयमयमुच्यते तव हृन्दरि हृत्कान्तचित्तायाः ॥’ १

नायिका दूती से कहती है कि - एक हृदय तो कहता है- जाऊँ और दूसरा कहता है कि न जाऊँ । (नायिका के जाने में सन्देह है यह अनुमान लगा कर) दूती नायिका से कहती है कि - हे हृन्दरि । तुने नायक का चित्त हर लिया है कतः तेरे पास वही हृदय ठीना उचित ही है।

इस वाक्य उदाहरण लीजिए - जिसमें नायक के परिणामा समीप की सुनकर रठी हुई इस नायिका का यह हृन्थामान कितना साध मंगुर है -

‘क्रीणीरपराधान्मम तथैव कथय मन्मुखं वीक्ष्य ।

वमिधीयसे न किं यदि न मान वीराननः कितवः ॥’ २

नायक- तुने मेरे अपराध सुने हैं परा मेरा मुख देखकर सच- सच बता क्या मैं अपराधी प्रतीत होता हूँ । (तो उलका मुख देखकर तथा उसके चाफूँधी पूर्ण वक्ताई की सुनकर) नायिका कहती है कि - हाँ, क्यों न कहती , किन्तु तू धूर्त यदि मेरे सामने न होता और तेरा मुख देखती ही मेरा मान न बना जाता तो क्या मैं कुछ कह नहीं पाती ?

मुहावरे और लौकिकीयता

मुहावरे और लौकिकीयता के प्रयोग से

भाषा- निहकर भावशास्त्री का जाती है। इसका कारण यह है कि जन-समाज युग-युगान्तर के संवितकर्मियों को कुछ लाक्षणिक शब्दों के सचि में ढाँकर उन्हें मुहावरों का रूप देता है जो लाक्षणिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक आधार पर भी टिके होते हैं। यही कारण है कि काल और देश की सीमाएँ भी उन्हें बाध नहीं सकती। विभिन्न समयों और देशों में बोले जाने वाली भाषाओं में एक ही भावना की अभिव्यक्ति करने वाले बहुत से मुहावरे ढोस पड़ते हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि शाश्वत मानवीय भावों की अभिव्यक्ति के लिए इनका आविर्भाव आवश्यकता होने पर स्वतः हो गया था। कार्याप्तशतकी में यह तब्र मुहावरे और लौकिकीयता का बड़ा संयुक्त प्रयोग मिलता है। उदाहरण प्रस्तुत है :

‘सपनादपेति दयितो हसति सही विलसति परिणिमित बाला ।

ज्वलति सपत्नी कीरे जल्पति मुग्धे प्रसीदति ॥’ १

तीति के कहने पर कि है मुग्धे प्रसीद । प्रिय घर से बाहर निपन गया,
सही हँसने लगी, बाला मानों धरती में गढ़ गयी और सपत्नी जलने लगी ।

यहाँ ‘धरती में गढ़ना’ मुहावरे का प्रयोग नायिका की वतिसय ब्रज्या की सूक्ति करता है।

एक अन्य उदाहरण नीजिए -

१- कार्याप्तशतकी - ६५३

‘ निहितार्थनीयनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम् ।
न सुमन समुक्तिमीदृशमङ्गुलिदाने भुवं गिलसि ॥ ’ १

हे सुमन ! उसने (तुम्ह पर केवल) कटाक्ष- पात किया था, (तो तुमने उसे ही हरना था किन्तु) तुमने तो उसके हृदय तक की हर लिया यह उचित नहीं कि अंगुली फाड़ने पर भुजा फाड़ते हो ।

यहाँ ‘ अंगुलिदाने भुवं गिलसि ’ में अंगुली फाड़ कर पहुँचा फाड़ना ‘ मुहावरे का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार स्वर्ग से दौ अंगुल दूर रहना^२, चन्द्रमा को लाकर हाथ में देना^३, पवि भूमि पर न फटना^४, हृदय फटना^५, हुष्टी का धमचिरण (वास्तुनि का साँप)^६, जड़ से नष्ट होना^७, मूक होना^८, सिर चढ़ना^९, बहप्पन का बिटोरा पीटना^{१०}, पानी मखाना^{११},

१- आर्यासप्तशती - ३३६

२- ,, - २४६

३- ,, - ४

४- ,, - ३१२, ४४५

५- ,, - ३७७

६- ,, - ३०७

७- ,, - ३२, २०५

८- ,, - २१४

९- ,, - ४३३, ५७८

१०- ,, - २४७

११- ,, - २४

नाम नमाना^१, सबको एक हुय होना^२ (सबको एक वास देलना) वादि प्रसिद्ध जीर उस्टी गंगा बहाना^३, मुहावरों के समानार्थक संस्कृत मुहावरों का बड़ा मार्मिक प्रयोग वनेक बायाँबाँ में हुआ है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी के अधिकांश मुहावरे परम्परागत लोक भाषा के स्वतः सिद्ध परिणाम हैं।

“कहाँ राजा भोज कहाँ गंगुआ लेली” कथवा
“राम के टाट में पे बन्द” इस लीकौचित का प्रयोग हम बहुत करते हैं।
बायाँसप्तशती में इसके स्थान पर “किं तुल्यसि गुजाफलैः कनकम्” (गुजाफलों से हुवर्ण की क्यों तीक्ष्ण हो) का प्रयोग हुआ है।

“गुरुभ्यु मिलितेषु शिरसा प्रणमसि लघुचून्वता समेषु समा ।
उचिताशासि तुले । किं तुल्यसि गुजाफलैः कनकम् ॥” ४

हे ताराशु ! तक्षिक वजन (श्रेष्ठों के) मिलने पर शिर झुकाकर प्रणाम करती हो और कम वजन (लघु व्यक्तियों के) मिलने पर मस्तक ऊँचा कर लेती हो, सम के मिलने पर सम हो जाती हो । तुम उचितज्ञ हो , किन्तु गुजाफलों से हुवर्ण की क्यों तीक्ष्ण हो ?

“बफों की गाली घी की सहाली” इस भाव के लिए बायाँकार ने “बन्धुमुसै दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः” (दूसरे के मुख से निकलने पर जो दुर्वाद है, वही प्रिय के मुख से निकलने पर

१- बायाँसप्तशती - ५४८

२- ,, - ६८०

३- ,, - २४

४- ,, - २७८

परिहास है) का प्रयोग किया है।

‘ अन्यमुते दुर्वादी यः प्रियवदने स एव परिहासः ।

स्तैरेन्धनजम्भा यो धूमः सोऽगुरुमनो धूपः ॥ ’ १

दूसरे के मुँह से निकला जो वक्ता दुर्वाद समझा जाता है वही प्रिय के मुँह से निकलने पर परिहास बन जाता है। अन्य एन्धन से उत्पन्न होने से जो धुँवाँ समझा जाता है, वही अगुरु से उत्पन्न होने पर धूप कहलाता है।

‘ सब धान बाइस पैसे की ’ लोकोक्ति के लिए वार्यासप्तशती में ‘ करौड़ और कीड़ी को बराबर समझना ’ का प्रयोग हुआ है -

‘ सा बहुलदाणभावा स्त्रीभार्तृ वेति कितव तव सत्यम् ।

कीटिर्पराटिका वा घृतविधेः सर्व एव पणः ॥ ’ २

है धूर्त । (सरीर के) जोक तुम लदाणों से युक्त और बहुत- उत्सर्गों हेतु घृत- बिलास वह (नायिका) , तुम दोनों समान हैं। जैसे- सुवारी दूत- श्रद्धा में दाँव स्थित करौड़ जवा कीड़ी सबकी ही पण समझता है;

‘ वहाँ चाह है वहाँ राह है ’ यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। यह भी वही सुन्दर ढंग से एक वार्या में इस प्रकार चित्रित हुई है :

‘ किंरुविचारणसिर्द्वन्द्वकण्ठी विमुक्तुस्तिरपि बाला ।

स्वामियमदुल्लिखितकवाक्यता विलोकयति ॥ ’ ३

१- वार्यासप्तशती - १३

२- .. - ६२२

३- .. - २३९

बालों की फाड़ने से जिसका कण्ठ नीचे फुका है, ऐसी प्रतिकूल दिशा में मुक्त होते हुए भी बाला लंगुणियों से बालों के बीच अवकाश (जगह) बना कर तुम्हें देत रही है।

“ के लंबा मोती चुने के भूसा मर जाय ”
यह हम बराबर धुनते वाये हैं। वायार्कार ने इसके स्थान पर “ वीर पुरुषों
बापत्ति में भी नीचे कार्य नहीं करते ” लीकोवित का प्रयोग किया है ।
“ कटि की कटि से निकालना ” के लिए “ सज्जन दुष्ट की जीतने के लिए
दुष्ट का वाधार है ”^२ वीर “ तिनके के समान समझना ” लीकोवित
“ किसी वस्तु की महत्त्व न देना ” कथन के समकक्ष है। “ जैसे की तैसा ”
के लिए “ अनुरूप बात देना ”^३ उक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं। सारांश यह है
कि भाषा की लभिव्यंजन-शक्ति बढ़ाने के लिए उस समय समाज में प्रचलित
मुहावरे और लीकोवितियाँ का भी कवि ने समुचित उपयोग किया है जिसके
फलस्वरूप वायार्सप्तशती की उक्तियों में प्रबलता, सजीवता, स्वाभाविकता
और वाग्विदग्धता का समावेश हो गया है।

वर्णकार विधान और वप्रस्तुत योजना

काव्य में कलापदा की गीण मानकर भी
उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता । कतः किसी भी काव्य कृति का विवेचन
करते समय उसके वर्णकार विधान और वप्रस्तुत योजना की सर्वा वत्यन्त वाच-
श्यक है। काव्य में वर्णकारों का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया

१- वायार्सप्तशती - २६४

२- .. - ३६६

३- .. - ७०

४- .. - ३४६

है। ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों में ज्ञान की अपेक्षा भाव का ही उद्देश्य मिला है। भावों के प्रसाधन के लिए उसमें भी उपमा, रूपक आदि कर्कारों का प्रयोग हुआ है। स्वयं उपमा शब्द भी वैदिक साहित्य की देन है।^१ उपमा का एक बड़ा ही सुन्दर प्रयोग मुण्डकोपनिषद् में किया गया है।^२ उपनिषदों में वात्म तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए रूपक का प्रयोग भी मिला है।^३

शास्त्रीय ढंग से कर्कारों का प्रतिपादन कब हुआ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यदि अग्निसुराण की, जिसमें सभी काव्यांगों का वर्णन है, नाट्यशास्त्र के बाद माना जाये तो यह मानना पड़ेगा कि कर्कारों का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन सर्वप्रथम भरत ने ही किया। नाट्यशास्त्र में एक स्थान पर उपमा, रूपक, दीपक और यमक कर्कारों का उल्लेख हुआ है^४ तो दूसरे स्थान पर बाठ रसों की दृष्टि में पञ्चाचार्यों का उल्लेख हुआ है।^५

१- ईशुणीरागमुक्ताशाश्वतीनाम् ।

- ऋग्वेद १-११३-१५

तदप्युक्तास्ति । - शतपथ ब्राह्मण- १२-५-१५

२- वरा ह्य रथनाभां संस्तुता यश्च नाड्यः ।। मुण्डको २-६

३- बृहदारण्यक ४।३।२१

कठोपनिषद् १।३,३

४- उपमा रूपकं च दीपकं यमकं तथा ।

कर्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकात्रयतः ।।

- भरतमुनि- नाट्यशास्त्र १७।३४

५- स्ते ह्याष्टौ रसाः प्रोचता इन्द्रिणीन मलात्मना ।।

- भरतमुनि, नाट्यशास्त्र ६।१६

यदि नाट्यशास्त्र की गिनती काव्यशास्त्र में न की जाय तो यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र में कर्त्तारों की चर्चा इस से प्राचीन है। भारत के बाद के वाचार्यों- भामह, वण्डी, वामन आदि ने कर्त्तारों की प्रधानता दी है, परन्तु कर्त्तार की उन्होंने व्यापक वर्ग में ग्रहण किया है। काव्य के सभी सौन्दर्य- साधक उपादानों की वे कर्त्तार में अन्तर्भूत मानते हैं। इस की भी उन वाचार्यों ने माना अवश्य है, पर गौण रूप में। उसे रसवत् कर्त्तार के अन्तर्गत माना है। काठवीर तत्त्वदी के वाचार्य उद्भट ने भी इस की रसवत् कर्त्तार में रसा और कर्त्तारों की संख्या ४९ मानी। नवीं शती में रुद्रट ने भी कर्त्तारों की महत्त्व दिया। इसी समय के लगभग वामिनवृष्ट ने ध्वनिकार के ध्वनि सिद्धान्त का विवेचन करते हुए रस का प्रतिपादन किया और वामिव्यदित के एक मौलिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। इस की ध्वनि के अन्तर्गत मानकर भी ध्वनिकार ने रस-ध्वनि की ही प्रधानता दी थी और कर्त्तार की गौण माना था। ११ वीं शती में मम्मट ने भामह के "शब्दार्थो संहितौ काव्या" (शब्द और वर्ण मिलकर काव्य कहलाते हैं) तथा अग्निपुराण के "काव्यं स्फुरदल्लकारं गुण-वदीचयर्जित" (कर्त्तारों के स्फुरण और गुणों से युक्त रचना को काव्य कहते हैं) की जोड़कर अपनी नई परिभाषा बनाई तथा कर्त्तारों का बोध कम करने के लिए कह दिया कि कर्त्तार न होने पर भी काव्यत्व

१- भामह - काव्याल्लकार १-१६

२- वैदव्यास - अग्निपुराण ३३८।७

३- तत्त्वदीची शब्दार्थगुणावनल्लुति पुनः अवापि ।

- मम्मट- काव्यप्रकाश १।३

रह सकता है। हाँ, शब्द और अर्थ दोनों रहित होने आवश्यक हैं। चन्द्र-
लीककार ने इस पर झीटाकड़ी करते हुए कहा है कि - " जो विद्वान् काव्य
की उत्कीर्णता मानता है वह अग्नि की भी उज्ज्वाला रहित क्यों नहीं मानता ।
१४ वीं सदी में विश्वनाथ ने " वाक्य रसात्मक काव्यम् " कहकर फिर इस
की माना और बाद में पण्डितराज ने " रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् "
की घोषणा कर शब्द और इस की समान रूप से काव्य के लिए उत्तरदायी
माना ।

अग्निपुराण में कहा गया है कि व्यङ्ग्यकारों
के बिना सरस्वती मानों विधवा है^५, पर साथ ही यह भी स्वीकार किया
है कि " वाग्वेदव्यग्रधानेऽपि एव स्वात्त जीवितम्^५ " व्यङ्ग्य काव्य में वाग्नि-
वदग्धता प्रधान होती है पर उसका प्राण इस ही है। वस्तुतः जीवन रहित
प्रस्तर- प्रतिमा पर उत्कीर्णों की जगमगाहट द्रष्टा की केवल प्रथम दृष्टि में
ही बाधुष्ट कर सकेगी । उत्कीर्ण- मूर्णित प्रतिमा के बाह्य और आन्तरिक
तत्त्वों का अभिजात्य हृदय को नहीं रचा सकता, परन्तु जब उसमें हँस्वर
भाव की प्रतिष्ठा कर ली जाती है तो सिर धदा से स्वतः ही झुक जाता

१- कौनो करोति यः काव्यं शब्दार्थविनोक्तं ।

वसो न मन्यते कस्मादनुष्णामनोऽकृतिः ॥

- जयदेव- तन्त्रालोक १।८

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण - प्रथम परिच्छेद

३- पण्डितराज- जगन्नाथ - रसगोधर - प्रथम बानन

४- व्यङ्ग्यकाररहिता विधवेव सरस्वती ।

- वेदव्यास- अग्निपुराण ३४४।३

५- वही ३३८।३३

है। इसी प्रकार कविता में भी जब तक भाव नहीं तब तक कर्कार प्रयुक्त होने पर भी वह दिन पर कसर नहीं कर सकती, उसे सुनकर श्रोता का सिर झूम नहीं सकता मने ही जति नाकननय- नकित रह जायें। भाव मरी उचित अपने वाप में एक कर्कार होती है। उसके लिए बाहरी कर्कार का- पश्यक है। वायासप्तशती की वायाई प्रायः ऐसी ही हैं। कर्कारों के लिए भावों की उपेक्षा कम नहीं है। जहाँ कहीं कर्कारों का समावेश हुला है, जहाँ वह भाव बनकर कविताकामिनी की स्वाभाविक गति में बाधक नहीं हुला है, जफि साधक ही रहा है। यों एक ही वायाई उपपाद हो सकती है।

शब्दालंकार

वायासप्तशती में शब्दालंकार के सम्बन्ध में एक वाया में वाये हुए "कान्तिशब्दालंकि^२ति" फ. है यह स्पष्ट है कि शब्दालंकारान्य सदोष फ-विन्यासशालिनी दृगारमयी उक्ति ययपि मनोरम होती है किन्तु वह उक्ति शब्दालंकि^३ति अर्थात् शब्दालंकार से युक्त ही ती फिर क्या कहना ? किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वायाकार शब्दालंकार के मनमाने, अनुचित एवं अनावश्यक प्रयोग के शिपायती है, उन्होंने शब्दालंकार के कठोर नियन्त्रण का विधान किया है :

“कान्ति पसग्रहपरं मययति हृदयं न वा न वा अवणम् ।

काव्यमभिज्ञभाया मीवीरं केल्लिलायाम् ॥” ३

व्यंग्यार्थान्य अनुप्रासादि शब्दालंकार के लिए ही जिसमें फों का विन्यास

१- किमिह हि मधुराणां मण्डनं नाकुतीनाम् ।

- काविदास- वमिज्ञानशाकुन्तलम् १।२०

२- वायासप्तशती ग्रन्थारम्भग्रज्या - ४७

३- ,, ,, - ४८

ही वह काव्य खम् शिक्ति रक्ति चरण में करना नूपुर दोनों कमलः
विद्वत्सभा में और सुरतवेला में किसी हृदय कथा कान की मस्त नहीं
बनाते ।

इस उक्ति से यह ज्ञात होता है कि जो पद
व्यंग्यार्थ हैं (भाव और रस के सहायक नहीं हैं) ऐसे पदों का अनुप्रास मात्र
के वाग्रह से काव्य में सन्निवेश कर देने से काव्य हृदय को रसनिमग्न नहीं
कर पाता है। अतः शब्दाङ्गीकारों के प्रयोग में भी यह ध्यान रहना चाहिये
कि जो व्यंग्यार्थयुक्त और भावामिव्यक्ति में उपकारक हों ऐसे पदों का
विन्यस्त कर केवल अनुप्रासादि के वाग्रह से निष्प्रयोजन उन्हें मर्ती कर लेना
समीचीन नहीं ।

वायसिप्तशती में शब्दाङ्गीकारों का विरल
प्रयोग हुआ है। अनुप्रास और श्लेष ही इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

अनुप्रास

स्वर की विचलित रहने पर भी शब्द
क्यातु पद, पदों के साम्य (सादृश्य) को अनुप्रास कहते हैं। स्वरों की
समानता हो, चाहे न हो, परन्तु कौन व्यंजन वहाँ एक से मिल जायें ,
वहाँ अनुप्रास कर्त्तार होता है।

‘ बान्धील्लोकैसी बन्धीली किं किण्णिगणवणिताम् ।

स्मरसि पुरुषायित्तां तां स्मरामरविह्वयष्टिमि ॥ ’ २

विपरीत - रत में वागे पीछे डोलने से कर्कों बँधल हैं, बँधल करधनी की लुड-

१- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण १०।३

२- वायसिप्तशती- ८५

पण्डिताजी से ध्वनि होती है, कामदेव के चामर- बिन्दु की यष्टि- भी उसकी तुल्य बया स्मरण करते हो ?

यहाँ ' वान्दोललीकेशी ' से केशों की चंचलता तथा चत्करीचित्यादि के सानुनासिक वर्णा से अनुप्रास ने किंकिणी की झंकार का वफ़ी नाद- सौन्दर्य से वाभास कराकर उससे कम सहायता नहीं की है ।

एक अन्य उदाहरण नीजिए-

‘ काल्पकमनीयक्रीडेयं कैतकीति काशसा ।

वृद्धिर्यथा यथास्यास्तथा तथा कण्टकीत्कर्ण ॥ ’ १

यह कैतकी काल क्रम से कमनीय कै में जायेगी ऐसी बया वाशा क्योंकि जैसे जैसे इसकी वृद्धि होगी । वैसे- वैसे ही कांटों का उत्कर्ण बढ़ेगा ।

यहाँ पूर्वाधि में झंकार का अनुप्रास वफ़ी ध्वन्यात्मक प्रसार के साथ साथ वस्तुतः कण्टक- वृद्धि का भी वाभास देता प्रतीत होता है।

श्लेषा

श्लेष पदों से जोड़ करों का अभिधान होने पर श्लेषाकार होता है।^२

“ वायसप्तसती विषीमि व्रयी गायन ।

मधुरं सुनिषदनीषितं हरिर्वयति हयभूषा ॥ ” ३

१- वायसप्तसती - १५१

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।११

३- वायसप्तसती- ग्रन्थारम्भग्रन्था १५

सप्तयज्ञ का प्रतिपादन करने वाली वैद्वयी की सात तारों वाली बीणा के समान कैर गन्धर्वों की भाँति मधुर गाते हुए दृष्टीव हरि सर्वात्कृष्ट है ।

उक्त वायों में "सप्ततन्त्रीजिता" से दो वायों की प्रतीति होने से श्लेष है।

एक अन्य वायों नीजिए-

"गणितगुणो न धुन्दर कृत्वा चरित्रमप्युदासीनम् ।

मक्षतानन्यगतिः सा विहितावर्तन तरणिरिव ॥" १

हे धुन्दर ! सर्वव्य गुणों के आपो उर, चरित्र के प्रति उदासीन और वफा प्रति अन्य गति बना दिया । जब उसकी दशा मीर में फटी नौका जैसी है जिसे न तो बन्धनरज्जु रोक पाती है और फवार भी दूसरी ओर के जाने में असमर्थ रहती है और वह उसी जगह घूमती रहती है।

यहां "चरित्रमपि" और "गणितगुणो न" शब्द शिन्धु है। "चरित्रमपि" नायिका पदा में "चरित्रमेव चरित्रम्" पातिव्रत्य तथा नौका पदा में "च + चरित्रम्" नाव का डाँठ अर्थ व्यक्त करता है। इसी प्रकार "गणितगुणो न" नायक पदा में "गणिताः गुणाः यस्य तेन" अर्थात् जिसके गणित गुण है तथा आवर्त पदा में "गणितः (क्रावृत्त) गुणः (बन्धन रज्जु) येन तेन" जिसने बन्धनरज्जु का तिरस्कार कर दिया । अतः चरित्रमपि और गणितगुणो न शब्दों का प्रयोग होने व्यापक अर्थ की समझे हुए है कि वह अर्थ गौरव की जान ही है।

वर्गीकरण

प्रधानतः वर्गीकरणों के चार भेद किये जा सकते हैं- साम्यमूलक, वैषम्यमूलक, शृङ्खलामूलक और न्यायमूलक ।

साम्यमूलक

इस वर्ग के वर्गीकरण भी कई उपवर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। जब प्रस्तुत एवं वप्रस्तुत के रूप, गुण, धर्म आदि के साम्य के आधार पर उनमें कोई मान लिया जाता है तो कोई- प्रधान साम्यमूलक वर्गीकरणों की सृष्टि होती है। रूप, वस्तु, सन्देह, उन्नेत आदि ऐसे ही वर्गीकरण हैं।

जब उपमान और उपमेय में साम्य की स्थापना करने पर भी उन्हें स्पष्टतः छूट्ट किया जाता है तो भेद- प्रधान साम्यमूलक वर्गीकरणों का आविर्भाव होता है। प्रतीप, प्रतिस्तुपा, दोष, दृष्टान्त, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति और व्यतिरेक में यही बात है। उपमा, अनवय उपमानोपमेय और स्मरण भी ऐसे ही वर्गीकरण हैं।

जिस वर्गीकरण में उपमेय और उपमान के साम्य का कथन न होकर केवल प्रतीति होती है। उन्हें प्रीति- प्रधान साम्यमूलक कह सकते हैं जैसे- वतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा ।

कुछ वर्गीकरणों का अस्तित्व सामान्य (वैधिय) कथों पर न रहकर व्यंजित कथों पर निर्भर रहता है, उन्हें व्यंग्यप्रधान साम्यमूलक

कहा जा सकता है। उपर्युक्त- प्रशंसा , व्यास्तुति, पर्यायीकृत आदि कर्कार ऐसे ही हैं ।

वैशाम्यमूलक

इन कर्कारों में दो वस्तुओं में कार्य- कारण विच्छेद से जी तत्कार उत्पन्न होता है, वह वैशाम्यमूलक कर्कारों की दृष्टि में सहायक होता है जैसे विरोधाभास, विभावना, विषम, विशेषावृत्ति आदि ।

शृङ्खलामूलक

जब एक से अधिक पदार्थों का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि वे एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुए एक शृङ्खला में आवद्ध हो जाते हैं तब शृङ्खलामूलक जन्म लेते हैं। कारणमात्रा, मात्रा-दीप्ति, स्फावनी और सार इसी प्रकार के कर्कार हैं।

न्यायमूलक

जब युक्ति, तर्क, नियम, नीति- व्यवहार आदि से अनुप्राणित वाक्य द्वारा कथं में तत्कार जाता है तो परिसंख्या समुच्चय, काव्यश्लि, अर्थान्तरन्यास आदि कर्कार होते हैं, जिन्हें न्याय-मूलक कहा जा सकता है।

आर्यासप्तशती में सभी प्रकार के कर्कारों का समुक्ति प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण नीचे-

उपमा

एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधान्वित, वान्य सादृश्य को उपमा कहते हैं।

“वालीक एव विमुखी यवन्निदपि दिवसे न दक्षिणा भवसि ।
हास्य एवपि तार्य त्वमेव मे हरसि मानवति ॥” १

तुम दिन होते हो मुँह फेर लेती हो और किसी भी दिन अनुग्रह नहीं होती हो । है मानिनि । तब भी प्रकाश होते हो विमुख और कभी दाहिने न होनेवाली शया के समान तुम हमारे सन्ताप को दूर करती हो ।

यहाँ नायिका और शया के साम्य का
ही उपमा है।

रूपक

निरपह्नव व्यात्ति निष्पीड्यरहित विषय (उप-
मेय) में रूपक (वपह्नवभेद उपमान) के आरोप को रूपक स्वीकार करते हैं।

“श्यामं क्रीकुकुम्भमपिज्जस्तिमुरी मुरदिष्ठा जयति ।
दिनमुखम एव कौस्तुभविभाकरी यद्विभूषयति ॥” ४

श्याम वर्ण लक्ष्मी के (दृढाभिगन से) कुत्तों पर चिप्ट कूकूम के लग जाने

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।१४

२- वायसिप्तशती - ७५

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।२८ का पुरार्थ

४- वायसिप्तशती- ग्रन्थारम्भप्रज्ञा - ११

से भूरे वर्ण का , विष्णु का वक्षःस्थल सर्वात्कृष्ट है जिसे कौस्तुभमणि रूप सूर्य प्रातःकालीन वाकाश जैसा सुशोभित कर रहा है।

इस वार्ता में “ कौस्तुभः एव विभाकरः ” में रूपक तथा “ विभाकरः दिनमुखमः एव ” में उपमा वर्णन है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए-

“ कृतकान्तके निवृत्तक्रीशीतश्वाससैक निद्राणः ।

घोरितविततालिहता नामिसरीजे विधिर्जयति ॥ ” १

एक क्रीड़ा करने वाली लक्ष्मी के शीतल श्वासों से नामि कपल में निद्रा-मग्न भ्रमर ज्वनि रूप सराटा मारते हुए ब्रजा की जय हो ।

यहाँ बलिहृत में घोरित (सराटा) का आरोप होने से रूपक है।

सगिरूपक

यदि बंगी के सब बंगों का रूपण किया जाय तो सगिरूपक होता है।^२

“ जयति जटाकिंजल्कं गंगामधु मुण्डवलयबीजमयम् ।

गलगलपकसम्भवमम्भोरुहमाननं शम्भोः ॥ ” ३

शंकर का मुख कपल सर्वात्कृष्ट है- जिसमें जटा ही केशर, गंगा ही मधु(मकरन्द)

१- वार्तासप्तशती- ग्रन्थारम्भप्रज्ञया -२६

२- वैगिनोयदि सगिरूपकं सगिरूपकं तत् । -विश्वनाथ-साहित्यदर्पण १०।३०

३- वार्तासप्तशती- ग्रन्थारम्भप्रज्ञया ५

मुण्डमान ही बीजमातृका (कमलजट्टा) तथा कण्ठस्थ विष्णु रूप फें ही जिसका उत्पत्ति - कारण क्या उत्पत्ति स्थान है।

उत्प्रेक्षा

किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में संभावना करने की उत्प्रेक्षा^१ कहते हैं।

“ अन्तर्निपतितगुणागुणारमणीयशृङ्गारित केदारः ।

निजगोपीविनयव्ययसेन विदीर्ण हृदय एव ॥ १

जन्दर गिरे हुए गुंजावों के छार से सुन्दर स्तन ऐसा लगता है जैसे अपनी रक्षिका के शीशु विनाश के कारण उसका हृदय फट गया हो ।

यहां स्तन में विदीर्ण हृदयता की उत्प्रेक्षा होने से उत्प्रेक्षा कर्त्तार है।

प्रान्तिमान्

सादृश्य के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को यदि वह कवि की प्रतिमा से उद्भूत^३ हो तो उसे प्रान्तिमान्^३ कहते हैं।

“ इह शिखरिशिखरावलिनि विनोददत्तस्त्वपुष्पि तरुहरिणो
पश्यामिलनति पतितुं विहगो निजगोडमोहेन ॥ ४

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।४०

२- वार्यासप्तशती- ७२

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।३६

४- वार्यासप्तशती- १०६

स्वर देखिए- वृक्षा के लगभग पर चटके, विनीद से थोड़ा सँज वाले बन्दर पर, पक्षिणी अपने घोंसले के प्रेम से बैठना चाहती है।

यहाँ बन्दर और घोंसले की समानता से बन्दर में घोंसले की प्रान्ति होने से प्रान्तिमान् है।

एक अन्य उदाहरण नीजिए-

“ मा वम संवृणु विष्णमिदमिति सार्त्तं प्रामहेनीवतः ।

प्रातर्जयति सलज्जः कज्जलमज्जिनाधरः शम्भुः ॥ ” १

(और १) इस विष्ण की बाहर भत निबाली (मुस के नीतर) शिपा नी, बबराहट सेव ब्रजा गारा प्रातःकाच कहे गये लज्जित कज्जल से मज्जि बधर वाले शिव सर्वोत्कृष्ट हैं।

इस भागी में कज्जल और विष्ण के रंग के सादृश्य से कज्जल में विष्ण की प्रान्ति होने से प्रान्तिमान् है।

दृष्टान्त

दो वाक्यों में धर्म सहित, वस्तु ज्योत् उपमानोपमेय के प्रतिबिम्बन की दृष्टान्ता^२स्तार कहते हैं।

“ जह सुखयसि परलक्ष्णो गृहिणी कारयसि केवर्त्तं मेवाम् ।

वाह्निगति दिशमिन्दुः स्वां तु तिनां वारि वाहयसि ॥ ” ३

१- वार्यासप्तशती- प्रथमारम्भब्रज्या २

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।५०

३- वार्यासप्तशती- २४४

है वह ! परसुमती को सुत देते ही और अपनी गृहिणी से केवल सेवा कराते ही । जैसे चन्द्रमा दिशा का तो वाहिन करता है, किन्तु अपनी शिवा (चन्द्रकान्तमणि) से पानी मखाता है।

सम

योग्य वस्तुओं की अनुरूपता के कारण प्रकृति को समाकार कहते हैं^१

‘ पश्यानुहपमिन्द्विन्द्रेण माकन्दशेखरी मुतरः ।

वपि च पितुमन्दमुकुते मौकुल्लिङ्गमाश्रितं मिलति ॥ ’ २

वाग्र वृद्धा का शिरीभाग भ्रमर गुबार से सुतरित हैं और दूसरी ओर नीम के फूल पर कीड़े सामूहिक रूप से मिल रहे हैं।

उल्लेख

ग्रहीता क्यातु ज्ञाताओं के भेद से या विषय क्यातु हेतु और अवलम्बक वादि के भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन या ज्ञान) करना उल्लेखालंकार कहाता है।^३

‘ नक्षत्रेऽग्ना विन्दावुदरे कनके मणौ दृशि समुद्रे ।

यत्स्तु तेजस्तदस्मिन्पीवा यितमब्जमित्प्रयस्य ॥ ’ ४

नक्षत्र में, अग्नि में, चन्द्र में, उदर में, मणि में , नेत्र में, समुद्र में जो तेज

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।७९

२- वार्यासप्तशती- ३४६

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।३७

४- वार्यासप्तशती -३४१

है वह सब कश्य ही सूर्य का सामर्थ्य है।

यहाँ एक ही तेज का कैंक रूपों में उल्लेख हुआ है। अतः उल्लेख कर्त्तार हुआ ।

व्याजस्तुति

वाच्य निन्दा से स्तुति के व्यंग्य होने पर और वाच्य स्तुति से निन्दा के व्यंग्य होने पर व्याज स्तुति कर्त्तार होता है।^१

“ स्वत्पा हति रामबन्धे न्यस्ता नाशये पयोराशेः ।

ते शैलाः स्थितिमन्तो हन्त नधिम्नैव बहुमानः ॥ ” २

वास्तव्य है । नष्टता से ही अत्यन्त गौरव प्राप्त हो जाता है, राम के ऐनिकों ने जिन्हें शीटा सम्भरकर समुद्र के भीतर नहीं डाला वे पर्वत पृथ्वी पर स्थित हैं।

दोषः

जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध हो क्या कैंक क्रियाओं का एक ही कारण ही वहाँ दोषः कर्त्तार होता है।^३

“ प्रणमति पश्यति तुम्बति संश्लिष्यति पुष्कमुत्तरैर्दुः ।

प्रियसंगाय स्फुरिता वियोगिनी वामबाहुस्ताम् ॥ ” ४

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।६०

२- वार्त्तासप्तशती- ६३१

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।४६

४- वार्त्तासप्तशती - ३४६

प्रिय संगम के लिए फड़कती हुई वायी मुजा की विरहिणी प्रणाम करती है, देखती है, झूमती है, रोमांचित वगैरह उसका वाग्निन करती है।

व्यतिरेक

उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा उपमान से उपमेय की न्यूनता में वर्णन करने में व्यतिरेक अंककार होता है।

“ शयाश्राही चन्द्रः कूटत्वं सततमम्बुजं व्रजति ।

हित्त्वोभयं सभायां स्तौति तवेवाननं जीवः ॥ ” २

चन्द्रमा सक्तं है, कमल निरन्तर सैकोल की प्राप्त होता है। इन दोनों का परित्याग कर जीव सभा में तुम्हारे ही मुख की प्रशंसा करते हैं।

यहाँ प्रसिद्ध उपमानों (चन्द्रमा और कमल) की अपेक्षा उपमेय मुख का गुणोत्कर्ष दिखाये जाने से व्यतिरेक अंककार है।

विरोधाभास

जाति जहाँ जाति , गुण , क्रिया और द्रव्यों के साथ विरुद्ध भासित हो, गुण , गुणादि तीन के साथ, क्रिया, क्रिया और द्रव्य के साथ स्वम् द्रव्य, द्रव्य के साथ विरुद्ध भासित हो तो वहाँ विरोधाभास अंककार होता है।

१- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०। ५२

२- जार्यासप्तशती - २३३

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०। ६

“ यामिरनुः साङ्गीकृतः स्त्रियोऽस्त्रिकृताश्च तायेन ।
वामाचरणप्रणयी प्रणमत तौ कामिनिकामौ ॥ ” १

जिन स्त्रियों ने जंग का सांग बना दिया और जिसने उनकी अस्त्र बनाया, समीचीन वाचरण में तत्पर (जल्दा विपरीत वाचरण में तत्पर) उन कामिनी और काम की प्रणाम करी ।

इस आर्या में “ जंगः साङ्गीकृतः ” और
“ स्त्रियः अस्त्रिकृताः ” में विरोधाभास द्रष्टव्य है।

“ माञ्जयेऽग्निरिन्दुमाली गात्रे भुजंगमणिदीपाः ।
तदपि तमोमय एव त्वमीश कः प्रकृतिमतिशेते ॥ ” २

हे ईश । तुम्हारे भाल नेत्र में अग्नि, मस्तक में चन्द्रमा, शरीर में भुजंगमणि-
रूप दीप हैं। ऐसी प्रकाशक सामग्री के होने पर भी तुम तमोमय (तमोगुण-
शाली, अन्धकार प्रचुर) हो, स्वभाव का उत्पन्न कर्न कर सकता है ?

उपर्युक्त आर्या में प्रकाशक सामग्री के होते भी
अन्धकार प्रचुरता यह विरोध है। तमः पद गुणविशेषवाचक है- यह विरोध
का परिहार है, अतः यहाँ विरोधाभास है।

समासी बित

जिस वाक्य में सम अर्थात् प्रस्तुत और वप्रस्तुत
में समान रूप से वन्वित होने वाले कार्य, लिंग और विशेषणों से प्रस्तुत में
वप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाय तो वहाँ समासी बित क्लृप्त
होता है।

१- आर्यासप्तशती- ग्रन्थारम्भप्रज्या २६

२- आर्यासप्तशती - ४२६

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०।५६

“ चफल मुर्धगमुक्तोष्णित । शीतलमन्ध्रह । निशि भ्रान्त ॥
वपराशां पुरयितं प्रयुज्य सदागते । गच्छ ॥ ” १

चफल सर्पिणियों द्वारा पान किया गया और बाद में त्यागा गया सविन होने के कारण अस्पृश्य । शीतल समीरण । रात में भ्रमणशील । निरन्तर प्रातःकाल जाने वाले (अब तुम) दूसरी की वाशा पूरी करने के लिए जाओ।

विशेषावृत्ति

हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेषावृत्ति उत्पन्न होता है।^२

“ वयि विविधवचनरत्ने वदासि चन्द्रं करे समानीय ।
व्यसनदिवसेषु दूतिं च पुनस्त्वं दर्शनीयासि ॥ ” ३

हे नाना प्रकार के वचन रत्ने वाली दूति । तुम चन्द्रमा लेकर हाथ में दे रही हो परन्तु वफावृत्ति फलने के दिनों में फिर तुम कहाँ दिखाई पड़ीगी ।

व्याप्तावृत्ति

किसी फलट हुई वस्तु की किसी बहाने से व्याप्तावृत्ति कहलाता है।^४

“ वरुणं विनोतमाना गृहिणी हर्षात्तिसत्कपोस्तनम् ।
सुम्बननिषीधमिषतां वदन् प्रिध्याति पाणिभ्याम् ॥ ” ५

१- आर्यासप्तशती २- २२३

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण १०। ६७

३- आर्यासप्तशती - ४

४- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण १०। ६२

५- आर्यासप्तशती - २७६

(नायक को) देखते ही गृहिणी का मान बल गया हर्ष से कपील- तन प्रसन्न हो रहा है, तुम्ह- निधीय के कहाने से वह हाथों से मुसल को ढक रही है।

विषम

यदि कार्य और कारण के गुण या क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध हो जल्दा धारम किया हुआ कार्य तो पूरा न हो , प्रत्युत कुछ कार्य वा पड़े यद्वा दो विरुप पदार्थों का मेल हो तो वहाँ विषम कर्त्तार होता है।

“ तमसि धी विषमै पथि जम्बुकमुत्कामुसं प्रपन्नात्मः ।

किं क्षुभः सौऽपि सते । स्थितौ मुसं मुद्रयित्स्वैव ॥ ” २

हे सते ! धी कन्धकार में, कत्यन्त कठिन मार्ग में उत्कामुस स्वार के पास हम पहुँचे किन्तु वह भी (जम्मा) मुस बन्द करे ही स्थित रहा हम क्या करें ।

प्रतिवस्तूपमा

जिन दो वाक्यार्थों में सादृश्य प्रतीयमान होता हो (बान्य न हो) उनमें यदि एक ही साधारण धर्म को पुनः पुनः शब्दों से कहा जाय तो प्रतिवस्तूपमा कर्त्तार होता है।

१- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण १०। ७०

२- वायसिप्तशती - ४

३- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण - प्रथम परिच्छेद

“ कनुग्रहेण न तथा व्यययति कटुकं जितं यथा फलिनः ।

रुधिरादानादधिकं हुनोति कर्णं क्षणान्मरकः ॥ ” १

सब प्रतिकूल आचरण से उतना दुःख नहीं देता जितना कि दुर्वचनों से ।

जैसे कान पर मिनमिनाता मरकत हून घुसने से अधिक कष्ट देता है।

यहाँ दोनों पंक्तियों में विशेष वाक्य है।

फलिन और मरकत, कटुकजन और क्षणित , कनुग्रह और रुधिरादान शब्दों का साम्य समानार्थक व्यययति और हुनोति क्रियाओं से स्पष्ट होने से प्रति-वस्तुभावा क्लृप्त है।

मीलित

किसी वस्तुकाण वस्तु से किसी अन्य वस्तु के छिप जाने पर मीलितालंकार होता है।

“ मृगमदनेपमैव नीचनिचोन्मैव निशि निचोव त्तम् ।

कान्धिन्यामिन्दोविरमिन्दिरुन्दरीव सति ॥ ” ३

हे सति । कस्तूरी का रूप किये हुए नायक का, नीच परिधान ही धारण कर रात में घुमना कर , जैसे कान्धिन्यो में नीचमण का प्रचरी उपभोग करती है।

उन्मीलित

“ त्वदिनरहापदि पाण्डुस्तन्वद्ग्री शायक्य केवलया ।

इसीव ज्योत्स्नायां सा सुभग प्रत्यभिज्ञया ॥ ” ४

१- वार्यासप्तशती - ५६

२- विश्वनाथ- साहित्यदर्पण ८६

३- वार्यासप्तशती- ४५

४- .. - २५९

है सुमन । दुर्क शरीर वाली तुम्हारी विरह विपत्ति में (स्तनी) पाण्डु ही गयी है कि वह चाँदनी में खड़ी के समान केवल श्याम से ही पहिचानी जा सकती है।

यहाँ नायिका की पाण्डुता और ज्योत्स्ना की एक रूपता में मिलित व्यंकार है, किन्तु ज्यों ही नायिका की श्याम (कान्ति) के कारण ज्योत्स्ना से भेद दिखाया गया त्यों मिलित का उन्मोहित हो गया ।

व्यान्तिरन्यास

जहाँ विशेष से सामान्य या सामान्य से विशेष व्यक्ता कारण है कार्य या कार्य के कारण साधर्म्य के द्वारा किंवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थित होता ही उसे व्यान्तिरन्यास कहते हैं।^१

“ ज्ये ऋषिमा पश्चान्मन्त्रतापि विधीयते नहि महिम्ना ।

वामन इति त्रिविक्रममभिदधति दशावतारविदः ॥ ” २

फरने की श्रुता बाद के महान् गौरव से भी नहीं रिपायी जा सकती (हरि के) दश- अवतारों के जानकार लोग त्रिविक्रम की वामन कहते हैं।

व्यप्रस्तुत- योजना के अन्तर्गत कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति लौकिक तथा अलौकिक उपमानों में करता है। साधारण रूप से कोई बात कहने पर उसका प्रभाव घिर स्थायी नहीं रह सकता और बहुत सी बातों को स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा सकता किन्तु व्यप्रस्तुत द्वारा

१- विश्वनाथ - साहित्यदर्पण १०। ६३

२- वार्यासप्तशती - ६०

बहुत सरलता से किसी को समेत किया जा सकता है। यही कारण है कि गोवर्धनाचार्य ने वप्रस्तुत - प्रसीधा का जन-जागरण की दृष्टि से अधिकारी आर्यावर्त में प्रयोग किया है। वृष्ट स्वामी की सेवा फस वृष्टा के समान कष्टकारी होती है, तथा उसके व्योम्य फसाधिकारी श्लोफ रोग से ग्रस्त चरण के समान होते हैं। इसके सम्पर्क से महान् व्यक्ति भी दानव-वास करने वाले वृष्टा के समान त्यागने योग्य है। वृष्ट का उत्कर्ष बर्षा से मार्गादि को नष्ट करने वाले मेघ के समान है, और कौर्वों की श्वेतता के समान कर्कशी है। इनसे पीड़ित हुए व्यक्ति की मीलों से ठरे हिरण से समता कर उसे उनका सामना करने की प्रेरणा दी गयी है। मूल व्यक्ति में वासवत कामिनी के चातुर्यादि गुण वैसे ही व्यर्थ हैं जैसे जड़ मृग से वन्तः करण को व्याप्त होने वाली चन्द्रोलाओं के पड़ता, कान्ति वादि गुण व्यर्थ है। वैश्या पुरुष को वैसे ही त्याग देती है जैसे सर्पिणी केतु को। वन्त्यासक्त नायक की दोष के माध्यम से निन्दा की गयी है।

बुद्ध रक्षित को बड़े हाथों के समान मद छोड़

१- आर्यासप्तशती - ६००

२-	..	४८७
३-	..	६७४
४-	..	६६८
५-	..	४६७
६-	..	२६४
७-	..	२७७
८-	..	३२८
९-	..	४०४

देने की शिक्षा दी गयी है।^१ चित्त की चञ्चलता की समता प्रमद से कर उस पर पुनः नियन्त्रण रहने का उपदेश दिया गया है।^२ सुन्दर पत्नी वाले पति की समता सुगन्ध युक्त कस्तूरी धारण करने वाले मृग से करके उसे स्पर्क रहने का उपदेश दिया है।^३ अन्य स्थान पर छड़ी सुगन्ध की समता केतक-मैवरी से करके उसे रोकने की शिक्षा दी है।^४ मुर्तियों की बनेबनों के समान मानकर उनके सामने गुण-प्रदर्शित करना अवर्ककारी माना गया है।^५ गुण-गविर्ता की सौम्येयी कहकर उसे अभिमान न करने की शिक्षा दी है।^६ कम-जिनी और प्रमद के अप्रस्तुत-विधान द्वारा नायिका के प्रति नायक के तिहाय का वर्णन किया गया है।^७

गहन श्रुति निरूपण और व्यापक जीक-

दर्शन के कारण जायसिप्तरती के अप्रस्तुत विधान में विविधता और स्वाभाविकता का समावेश स्वतः ही हो गया है। प्राकृतिक पदार्थों, सामाजिक-विश्वासों, शास्त्रीय सिद्धान्तों और पौराणिक कथाओं से अनेकानेक उपमान ग्रहण किये गये हैं। बहुत से ऐसे उपमान हैं जो जीक में न होने के कारण वर्णन किये जा सकते हैं। इस प्रकार सामान्यतया पाँच प्रकार के उपमानों का प्रयोग जायसिप्तरती में उपबद्ध होता है।

१- जायसिप्तरती - ३८४

२- .. ३७८

३- .. ४००

४- .. ४३३

५- .. ६

६- .. ३२३

७- .. ४०६

प्राकृतिक-उपमान

प्राकृतिक उपमानों में रूप-वर्णन के अन्तर्गत परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग हुआ है। नयन के लिए कौकनद^१, पुण्ड-
रिका^२, कृष्णवदन^३ और मृणादा^४, लघर के लिए विम्बाफल^५, मुस के लिए
चन्द्र^६, कमल^७, कुत्तों के लिए कच्छा^८, सैल^९, कृष्ण^{१०}, बिल्व^{११}, नाभि के लिए
फुल^{१२}, सरोज^{१३}, भुजा के लिए खालसुख^{१४}, मृणाल^{१५}, लता^{१६}, चरण के लिए

१- वायांसप्तशती - १६

- २- .. (ग्र० व० १०)
३- .. ६८३
४- .. २२४
५- .. (ग्र० व० २३), ५३६
६- .. १७२
७- .. २५६
८- .. ५६, ३८८
९- .. १ , ३५६
१०- .. १३५
११- .. ५६७
१२- .. (ग्र० व० १३)
१३- .. (ग्र० व० २६)
१४- .. २३४
१५- .. ६८
१६- .. ३४७

चरण के लिए फँज^१, और उसकी केशुलियों के लिए नखन^२, शारीरिक कान्ति के लिए चन्दगिरी^३, पुष्कित तंगों के लिए शतशिर^४, दृष्टि के लिए पीयूष धारा^५ तथा उसकी चंचलता के लिए शफरी^६।

कौन नवीन उपमानों का समावेश किया है जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि कवि का प्रकृति-निरीक्षण कितना व्यापक और कितना भ्रम था। कभी-कभी फँज हस वाम की गठनी में अन्दर ही कौर फूटा हुआ दिसाई देता है जिसके विषय में एक वार्या में कहा गया है कि वह ऐसा प्रतीत होता है जैसे नूतन कमठ की पीठ की ऊपरी छल्ली से बाहर निकला शिरोभाग हो^७। वंशी में कैसा कैकडा अपने दुर्लभ धागे से लटका मकड़ा सा लगता है^८। दृष्ट के द्रव्य से फली स्त्री चाण्डाल के घटसप्पर पर फली आम्रन्ता सी लगती है^९। शिशिर ऋतु में नदियाँ की धारा के पास की भूमि रुखदार गदों सी लगती हैं^{१०}। रात की अन्ध हस कमल-फूल कपाटों से लगते हैं^{११}। सर्प के तिर की मणि रात की दीफा जैसे लगती है^{१२}। गीतान करो वाजी कृन्टा गौदावरी के समान

१- वार्यासप्तमी- ४६०

२- .. (४० व ० ६)

३- .. ५८५

४- .. ४८६

५- .. ३७

६- .. २६७

७- .. ६४

८- .. ३२२

९- .. ३०

१०- .. ३०८

११- .. २१६

१२- .. ६३७

है। गतयाचना वैश्या कावेरी के घुलने पर उसमें बची कीमद् सी लगती है।
 ऋषु व्यक्तियों का वाशय मेहक की रक्षा न करने वाली ग्रीष्मकाशीन नदियों
 के समान है। विपत्तिग्रस्त द्वारा किये जाने वाला दान ऐसा लगता है जैसे
 हाथों की झूठ पर बहने वाला मद जल ही। निर्धन पति का द्रव्यादि से
 पोषण करने वाली स्त्री ऐसी लगती है जैसे मत्स्य वादि से बफे प्रिय का
 पोषण करने वाली कछी ही। मिथ्या प्रेम जताने वाला नायक तीतै की
 भाँति, केवल मुस में ही राग रखता है।

किसी पर रीझने वाली बालाएँ सरीवरस्थ
 कमल-नाला का लकड़ काटने वाली हंसमायावाँ सी लगती हैं। चम्पट में
 नायिका वैसे ही वासवत है जैसे विष्णुकुसुम पर भ्रमरी। प्रियतमा के वरण
 प्रहार से भी उसे न झौड़ने वाला रत्निक ऐसा लगता है जैसे वायु से नैक
 कितन्यों के ताड़न की चक्कर खाता का रसास्वादन करने वाला प्रमर ही।
 पुरुषों का मदगजों के समान गमकारी है किन्तु स्त्रियों का मद हथिनियों
 के समान नाशकारी है। दुष्ट का दुर्जन कान पर भिनभिनाते मन्डर के
 समान कष्ट देता है।

१- वायांसपक्षी - ४३९

२- ,, - ३

३- ,, ४५३

४- ,, १७३

५- ,, ५६६

६- ,, ६४६

७- ,, १३२

८- ,, १४

९- ,, १८४

१०- ,, २४७

११- ,, ५६

प्रथम सुख श्रद्धाओं से जीवन वाला वैभवंता सी लगती है।^१ संयोग के समय ध्वनि करने से फुल्ला हुआ कण्ठ शैल के समान लगता है।^२ पति की सम्पत्ति से दुविधा में पड़ी नायिका की दशा वर्णा पर आधारित सरोवर के समान है। स्वकीया का प्रेम कुरुक्षेत्र जल रत्न पात्रों नर्मदा के समान है।^३ तरुणी के निर्वस्त्र जघन की देखने से नायक वैसे ही लुप्त नहीं होता जैसे प्रातःकालीन सूर्य बिम्ब की देखने से कड़वाक।^४ विरह में मन्दमा की देखकर रात बिताने वाला नायक क्लौर के समान है। विरहिणी को बाँसुओं से नयी दृष्टि करतीया नवी जैसी लगती है।^५ इसके शरीर की कान्ति लीदनी में हँसी के समान प्रतीत होती है। नायक के विरह ने उसके जीवन को वैसे ही घटा दिया जैसे ग्रीष्मकाल ने कमजिनी के जीवन को घटा दिया है।^६ ग्रीष्मकाल में दिन दीपों के समान बड़े होते हैं।^७ सत्पुरुष जन्मदा तथा मरुत्या के वृत्त के समान परीकार करते हैं।^८ इनका प्रतिष्ठापूर्ण नायिक जीवन भी वायंकाल के समान प्रसन्नता माना गया है।^९

१- वार्यासप्तशती - ५१८

२-	..	५६७
३-	..	२५०
४-	..	४५७
५-	..	३१६
६-	..	४८५
७-	..	२२४
८-	..	२५९
९-	..	२७८
१०-	..	४१३
११-	..	४८६
१२-	..	६७६
१३-	..	३९

लौकिक उपमान

लौकिक उपमानों के अन्तर्गत सामाजिक विश्वास स्वप्न विचार, मानव द्वारा निर्मित फार्थ और विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के आधार पर जुटाए हुए उपमान आते हैं। इनमें कहीं तो मूर्त के लिए मूर्त और कहीं समूर्त तथा असमूर्त के लिए मूर्तमूर्त उपमानों की अवतारणा की गयी है। विभिन्न प्रवृत्त स्वप्न भाव सृष्टि में से कोई एक या दोनों ही को लप्य कर सुन्दर ढंग से इन उपमानों की योजना की गयी है।

बाल्य के कृचों से बचन तक चटका हार ऐसा प्रतीत होता है मानों गहरे स्थान की लप्य के लिए काष्ठ का पुन हो^१। नायक के हृदय में नायिका जैसे ही समा गयी जैसे दीवार में लौह कील^२। प्रिय में प्रेमिका जैसे ही आसक्त है जैसे भंवर में नाव^३। यही कारण है कि नायिका को प्रिय की बँधी है निकले राग नायिक के तीर के समान चलते हैं^४। इस प्रकार सुखों के मन में स्थान- सुख भगने वाला नायक ऐसा प्रतीत होता है मानों दधि- पात्र को भगने वाला मन्थदण्ड (रड) हो^५। कृष्णक बाल्य पर रीकने वाले सुख हूटि के चारों ओर चक्कर लगाने वाले तरुण कैलौं से चलते हैं। पर- पुरुषों को झोड़कर अपने प्रिय से ही कुराग रस्ते वाली नायिका ऐसी लगती है मानों घटादि को त्यागकर उसी स्थान पर रुकने वाला नाक हो^६। नायिका के अधर शररा जैसे मीठे हैं^७। प्रेम का

१- वागसिपाकती - १३५

२- .. ३७४

३- .. ४७

४- .. ४३६

५- .. ३४४

६- .. ४२५

७- .. ३१८

८- .. ५१६

परिपाक नीच के अपराध से वैसे ही विरुद्ध हो जाता है जैसे शुद्ध का परि-
पाक मक्खी के मरने से घृणित हो जाता है।

नायिका के प्रति नायक का प्रेम रात की
प्रकाश देने वाले रत्नप्रदीप के समान है। तरुणों के हृदयों पर नसबिन्दुओं
की पंक्ति से लिखती हुई पंक्ति को बूँदें ऐसी लगती हैं मानों रेशमी धागे
में मोती-दानें प्रवेश कर रहे हों। अन्य स्थान पर इसकी वस्तुओं से बनी
जंघाओं ऊपर की रोमावली भूमि में गहरे धन के समान लगती है। कामिनियों
का सुरत दूध के समान मधुर लगता है। पति की सेवा के क्षण पर सुख न
देनेवाली गृहिणी ऐसी लगती है जैसे शीत के दिनों में झल्लाया। चार
दीवारी में रहने वाली नायिका पिंजरे में बन्द कौड़ी सी लगती है। पर-
पुरुष के हृदयन अन्य हृदयन से उत्पन्न होने वाले धूर के समान हैं, किन्तु
वही प्रिय के सुख से निकलने पर अरुण से उत्पन्न धूम के उगान लगते हैं।
परमिता के पाद से जाने प्रिय के कष्टपूर्ण वचन फरनी की ऐसे लगते हैं मानों
सूर के तुमने से पैदा हुई हों। सपत्नियाँ के वेश से दुविधा में पड़ा नायक

१- आर्यासप्तशती - १२४

२-	..	३१७
३-	..	४८६
४-	..	३३८
५-	..	६१६
६-	..	६७३
७-	..	३६६
८-	..	१३
९-	..	११

वो विपरित गामी नाहीं से कधी रस्सी के समान है। मग होने पर कुछा
 ऐसा प्रतीत होता है मानों धिसे वर्तन को रगिरू मोम से जोड़ दिया
 हो।^२ कौन रसिक दुराचारिणी को वाकिंगन के बाद वैसे ही छोड़ देते
 हैं जैसे वस्त्र तुरी को। स्वामी के दुराचार करने पर भी उसका साथ सदा-
 चारी सेवक उसी प्रकार नहीं छोड़ते हैं जिसप्रकार बन्वान् द्वारा लीजी गयी
 भुजा का साथ क्रेण नहीं छोड़ते हैं।^४

वियोगिनी के मुख की वीर चटके बाजों पर
 पड़ी जासुबों की बूँद मोतियों के समान लगती है।^५ इसके हृदय की मृदु-
 लयक वैसे ही शैवता है जैसे फिरे की तीलियों की उसमें बन्द होता। यह
 चित्रकार की सुलिका के समान अपने प्रिय का चित्र बनाती है। इसे गले में
 एक कुल भी हार के बराबर भारी लगता है। इसकी कपीस्थली घर की
 दीवार के समान पाण्डुर लगती है।^६ विरहातिशय से नायिका जतुरंग की
 गीटी के समान मर मर कर जी रही है।^७ बन्धन को माप्त किसी विगत-
 मान का विदीर्ण हृदय ऐसा लगता है मानों केश कन्नाप का हृदय सिन्दूर मरी

१-	वार्यासप्तशती-	२०६
२-	..	२७०
३-	..	४४५
४-	..	५८६
५-	..	५९४
६-	..	५७२
७-	..	३४५
८-	..	३३९
९-	..	२६०
१०-	..	६२३

मान से दो भागी में कट गया हो^१।

मानिनी का मान दाहिने न होने वाली
काया के समान है^२ यह मान के बाद अग्नि में तपे हुए सुवर्ण के समान
सुन्दर लगती है और अपनी सरस झीड़ावी से प्रिय को वैसे ही आनन्दित^३
करती है जैसे हंस की गाँठ कठोरता के बाद मधुर रस पीने को देती है।
वैवकाव वेश्या का मिय्या प्रेम दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख के समान है^४।
इसके प्रेम से कामुक वैसे ही तृप्त नहीं होता जैसे कलश की नली में रुकी
कीचड़ से प्यासा व्यक्ति तृप्त नहीं होता^५। दुराचारिणी की संगति
वैसे ही त्यागने योग्य है जैसे बिल्वपत्ती को नवरात्र में फुँकर विसर्जित किया
जाता है।^७ मकड़ी के जालों से आन्शुदित घर का द्वार ऐसा लगता है मानों
पत्तन से मुँह ढाँककर रो रहा हो। दुष्ट दोनों को वैसे ही ग्रहण करते
हैं जैसे जन्नी घूसी को^८। लुजारी को करोड़ और कौड़ी दोनों समान लगते
हैं^{१०} नीतिज्ञ सभी के साथ धर्मघट के समान व्यवहार करते हैं^{११}। विपत्ति

१- वायसप्तशती - ४७४

२-	..	७५
३-	५६	४६१
४-	..	१६८
५-	..	५६
६-	..	३५
७-	..	३४०
८-	..	५०६
९-	..	(प्र० प० ४३)
१०-	..	६२२
११-	..	२०८, ५४५

में भी नीच कार्यों को न करने वाले वीर ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों जल में न डूबने वाले हीरे हों^१।

शास्त्रीय उपमान

कुछ ऐसे उपमान भी हैं जिनकी समझने के लिए विभिन्न शास्त्रों का कुछ ज्ञान अपेक्षित है। जैसे एक वाक्य में विद्यो-
गिनी की अप्सर-भाषा के समान बताया गया है और श्लेष ध्वनि के
बाधार पर काव्यशास्त्रीय विशेषताओं का स्मृत किया है। सीधे और
कृटिल पुरुष क्रमशः लघु और दीर्घ रेखाओं के समान होते हैं। सज्जन दुष्टों
के सम्पर्क से जैसे ही कृटिल बन जाते हैं जैसे काव्य-सर्ग विजातीय इन्द्रों के
बाने से समाप्त हो जाता है। अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि वह
दुष्ट के साथ होने पर भी अपनी उत्कृष्ट स्वभाव की उसी प्रकार नहीं होड़ता
है जिस प्रकार चन्द्रमा अमावस्या की सूर्य के साथ रहकर भी शीतल की नहीं
होड़ता^५। सज्जन व्यक्ति का रोष ईशान दिशा की प्राप्त हुए सूर्य के
समान है। विद्वानों के हृदय से मूस जैसे ही निकल जाता है जैसे अमावस्या
के दिन सूर्य में प्रविष्ट चन्द्रमा^७। सम्पत्तिशालियों के दीर्घ आत्मा के कर्म
और क्षेप गुणों के समान हैं। दुष्टों का धर्माचरण ऐसा लगता है मानों
कौबों के स्नान करने पर दृष्टि न हुई हो^६। दिन में सीधी सादी और
रात को कामकलाओं से सुशोभित कौबों वाली नायिका उस वीरगधि विशेष
के समान है जो दिन में कुम्भी और रात को प्रज्वलित होती है।^{१०} पत्नी से

१-	वायसिप्तशती	२६४	९-	वायसिप्तशती	३४२
२-	..	४८६	४-	..	६२८
५-	..	२७६	६-	..	२८२
७-	..	६६	८-	..	५५०
६-	..	३०७	१०-	..	५२५

ही अनुराग रखने वाला नायक ऐसा लगता है मानों द्वितीया तिथि को न जानने प्रतिपञ्चन्द्र ही^१, किन्तु परगिना से प्रेम करने वाला नायक अन्य राशि पर गमन करने वाले बृहस्पति के समान है^२ ऐसे चन्द्र का प्रेम बौद्ध-धर्म के पदार्थ के समान अस्थिर एवं क्षणिक है^३। दिवसोक्ति कार्य करने वाली सप्तमी की तिथि वाले दिन की दूसरी तिथि के समान रात में देख्य होती है^४। विरहिणी के वक्ष पर पड़ी माना ऐसी लगती है मानों वातु-र्थिक वादि ज्वर के लिए औषध धारण की हो^५।

ऐतिहासिक तथा पौराणिक उद्गम

चतु व्यपित द्वारा पहुँचाया गया महापुरुष महान् के हृदय में वैसे ही प्रवेश नहीं पाता जैसे वानर द्वारा डाला गया फल समुद्र में डूब नहीं सका। चतुता से वैसे ही गौरव प्राप्त हो जाता है जैसे वानरों ने जिन फलों को शोटा सम्भरकर सागर में नहीं डाला उन्हें ही धरातल पर बड़े होने का गौरव प्राप्त हुआ^७। अन्य कौनारों को परास्त कर नायक के चित्त की अपनी पास वापस लौटाने वाली नायिका ऐसी लगती है मानों विराट् के पुत्र उत्तर ने कर्जुन को पकड़ सुयोधन वादि शत्रुओं सहित की जीतकर गायों की लूट ली थी^८। नायक ने नीची दृष्टि से नायिका का चित्त वैसे ही हर लिया जैसे कर्जुन ने नीची दृष्टि से तेज में प्रतिबिम्बित

१- वायसिप्तशती - ६९

२-	..	६४४
३-	..	४७८
४-	..	५८८
५-	..	४६
६-	..	१६५
७-	..	६३९
८-	..	३५८

मीन के नेत्र की बाण से बंध दिया^१। नायिका की कर्ण-पर्यन्त विस्तृत दृष्टि कर्ण की समीप शक्ति के समान है^२। ऐसी दृष्टि से निकल कटाक्ष कर्तुन के धनुष से बूटे बाण के समान लगता है। बाण के हृदय में छुसा बाणक वैसे ही नहीं निकल पा रहा है जैसे कण्वरुह से वमिषन्त्यु^३। प्रेमिका ने प्रिय का वैसे ही कण्ठाग्निन किया जैसे कृष्ण ने वरिष्ठासुर का गन्ध दबाया^४। सुरत में निपुण नायक धनुर्विद्या में निपुण स्कन्ध के समान है। विपरीत रत में नायक की जीतकर नायिका वैसे ही शोभित होती है जैसे युद्ध में मीन की जीतकर शिखण्डी^५।

प्रिया के प्रेमातिशय से मान धारण करने वाली नायिका की समता शंकर के शिर पर स्थित इन्दुकला से की गयी है^६। पति की प्रसन्नता के लिए गृहिणी की सफलता का वैसे ही सम्मान करना चाहिए जैसे पार्वती ने गंगा को शिर पर धारण किया^७। प्रिया के नरण से चिह्नित मस्तक वाले नायक की समता यमुना से निकाले गये सुदर्शन - चक्र से चिह्नित कान्धिय नाग से की गयी है^८। करौंसे से निकल कर प्रासाद तल पर पड़ी

१- वार्यासप्तशती - २३४

२-	..	१८१
३-	..	६७५
४-	..	३४८
५-	..	१७४
६-	..	६६४
७-	..	५३५
८-	..	५७८
९-	..	३६६
१०-	..	५७०

सूर्य की किरणें ऐसी लगती हैं मानों विरण्यकशिपु के वदास्थल में वृसिंह के नसी ने प्रवेश किया हो^१। सज्जन सल की वागे करके दुष्ट की वैसे ही जीत सकता है, जैसे विष्णु ने ज्वर को जात्मीय बनाकर रण में बाणासुर को जीता^२। पहले की लघुता बादके गौरव से वैसे ही नहीं क्षिपायी जा सकती जैसे दश अवतारों के जानकर त्रिविक्रम को वामन कहते हैं^३। लज्जा के कारण नायिका का शरीर वामन जैसा शीटा लगता है^४। अपने महान् प्रसार से (त्रिवलि) की बाधि लेने वाला नायिका का मध्य भाग वलि बन्धनकारी विष्णु के सदृश प्रतीत होता है^५। सन्ने प्रेमियों का प्रेम अग्नि में न जलने वाले दो वस्त्रों के समान है। मलिन का वाश्रय उसके अनुरूप वैसे ही होता है जैसे यमुना की मंवर कालिय नाग का नगर होती है। जलदबाजी में किये जाने वाला कार्य बिनता के पुत्र अरुण के समान अधूरा रह जाता है। नागरिक की तिरछी दृष्टि से बिंधी नायिका ऐसी प्रतीत होती है मानों वराह की दृष्टा से बिंधी पुष्पी हो^६। प्रेमशून्य नायक के हृदय से नायिका वैसे ही निकल जाती है जैसे चन्द्रोत्ता शुक्ल सूर्य- बिम्ब से^७। ऐसे अजीब उपायों का भी प्रयोग किया गया है।

१- वार्यासप्तशती २६६

२- .. ३६६

३- .. ६०

४- .. १६

५- .. ८६

६- .. ४६८

७- .. ३६८

८- .. ६६६

९- .. २६१

१०- .. ६३६

उक्त विवेचन से एक बात साफ तौर से सामने आजाती है, वह यह कि वार्यासप्तशती में प्राकृतिक, जैविक, शास्त्रीय, ऐतिहासिक-पौराणिक उपमान अधिक संख्या में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु जैविक उपमान बहुत कम संख्या में प्रयुक्त हुए हैं। अधिकांश उपमान प्रकृति के सूक्ष्म-दर्शन तथा लोक जीवन में गहरी पैठ के परिचायक हैं। जिनसे सत्कान्धों सामाजिक परिस्थितियों का आभास तो मिलता ही है साथ ही यह प्रमाणित हो जाता है कि वार्यासप्तशती सामान्य जन जीवन की एक सटीक व्याख्या है।

वार्यासप्तशती में काव्यगत दोष

गीवर्धनाचार्य ने अपनी रत्ना के सन्दर्भ में कहा है कि मैरी यह सप्तशती व्यंजना से युक्त है, त्रिभुवन में रसवती है तथा उक्ति-चातुर्य में निःसन्दिग्ध है^१ यह कवियों के संग्राम में सिक्तावर्ण माधुर्य युक्त सुधा के समान है।^२ अतः इसमें समझ झूझकर ही कोई दोष निकाले। कवि की वर्णवृत्ति के अनुसार यदि इस काव्य में व्यंजना शक्ति की और ध्यान देते हैं तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्त ग्रन्थ व्यंजन प्रधान है, शृंगारिक ग्रन्थ होने के कारण माधुर्य गुण से परिपूर्ण है और उक्ति-चातुर्य तो सर्वत्र विद्यमान है। अतः इस दृष्टि से कवि की वर्णवृत्ति की सत्य माना जा सकता है क्योंकि काव्यप्रकाशकार ने जिन दोषों की उल्लेख किया है, उनमें से कुछ दोष इसमें दृष्टिगोचर होते हैं। अतः बहुत सोचने पर कतिपय दोषों के उदाहरण मुश्किल से मिलते हैं। यथा-

१- वार्यासप्तशती- ६६६

२- ,, ७००

३- ,, ७०१

रसस्य स्वशब्दवाच्यता

‘ किञ्चित्कर्तव्यतामनु रसं प्रदास्यन्निर्गमयति मे ।

इष्यतीति ते सुन्दरि । मानस्य ग्रन्थिरपि काम्यः ॥ ’ १

हे सुन्दरि । थोड़ी सी कठोरता के बाद मुझे स्वभावतः स्वादिष्ट जी रस (रति) प्रदान करेगा तुम्हारे उस मान की ग्रंथि भी उसी प्रकार वाञ्छनीय है जैसे हंस की गाँठ थोड़ी सी कठोरता के बाद स्वभावतः मधुर रस (पीने की) देती है अतः वह सभी की वाञ्छनीय होती है।

उपर्युक्त वाक्यों में वात्सावादात्मक रस रूप का अनुभव ‘ रसम् ’ वाक्य पद के द्वारा वामिधान किया गया है। ‘ रस ’ शब्द के प्रयोग से रस ही उपस्थित नहीं होता क्योंकि वह तो वसण्ड स्व-प्रकाशनन्द रूप संवेदन है वह एक मात्र उमिष्यग्य तत्त्व है जिसे कदापि वाच्य नहीं बनाया जा सकता । उसे वाच्य बनाने में कोई समत्कार नहीं मिल सकता । इसलिए उक्त वाक्यों में रस की स्वशब्दवाच्यता रूप दोष है। इसी प्रकार वाक्यों ५०७ में शृंगार पद के प्रयोग से वही दोष है। इसमें वल्ली-त्त्व दोष भी है।

व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता

‘ व्रीडाप्रकारः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्टचेष्टेयम् ।

ज्वनीवि निर्गमादनु नटीवि दयिता मनी हरति ॥ ’ २

परदे से बाहर निकलने के बाद नटी के समान प्रिया पहले रज्जु प्रदर्शित करती

१- वाक्यसंज्ञासूची- १६

२- .. ५२

है और भाव में इस और भाव से पुष्ट चेष्टाओं से (मेरे) मन की हस्ती है।

इस वाक्य में ब्रीह्या के व्यभिचारि भाव का उसके वाक्य पर द्वारा जो उपस्थापन है। उससे ' रति ' व्यभिचयना का सम्बन्ध नहीं और न उसमें सङ्ख्येय की ही स्पर्श करने की सामर्थ्य है । अतः यहाँ व्यभिचारिभाव की स्वतन्त्रवाच्यता नामक दोष है।

वर्मणालश्लीलत्व

‘ प्रेतिः प्रस्तसत्त्वा साशु वृकैर्वीणितास्तत्त्वग्रासेः ।

बुम्बति मृतस्य वदनं मृतोमुत्तीर्त्तुं दितं बाला ॥ ’ १

प्रेती ने जिसके सामर्थ्य की प्रशंसा की गिरते ब्राह्म वाले में दियों ने जिसे वस्त्रों में वस्त्र भर कर देता, वह बाला , मृतों के मुल के मसान के प्रकाश में दितायी देते मृत प्रिय के मुल की वृम्ती है।

यहाँ ' मृत ' शब्द का प्रयोग वर्मण्य का सूचक है एवं मृत शब्द के साथ प्रियस्य वादि विशेषण के अभाव में वाक्य के अन्तिम अक्षर ' बाला ' शब्द तक पहुँचने से पहले स्पष्टान मयैकर एवं वीमत्स दृश्य ही प्रस्तुत होता है। अतः यहाँ वर्मण्य सूचक अश्लीलत्व दोष है।

निर्यक्तत्व- दोष

‘ ‘ वृक्षानुवृत्तयोऽपि हि परीफारं त्यजन्ति न महान्तः ।

तृणमात्रजीवना अपि करिणी दानद्रवार्द्रकराः ॥ ’ २

१- वाक्यसंज्ञासूची - ३६५

२- , , १७३

कष्टमय जीवन में भी महापुरुष वान रूप परीकार-वृत्ति को नहीं छोड़ते । हाथी, जो तुल्यमात्र से जीवन व्यतीत करते हैं, उनका कर (शुष्कादण्ड) वानजल (मय) से बाढ़ें रहता है।

इस वाक्या में ' हि ' पर केवल इन्द्र पूर्ति के लिए ही प्रयुक्त है क्योंकि इसका कोई भी अर्थ यहाँ उचित नहीं होता ।

वप्रयुक्तत्व पर दोष

* तानममेत्यच्छिन्नः परीपलितरागमदनसंघटितः ।

कर्णं ह्य कामिनीनां न शोभते निर्भरः प्रेमा ॥ * १

(धीरे धीरे) स्वल्प होकर टूट गया , दूसरे के कहने से पुनः किया गया मदन विकार से पुनः जोड़ा गया कामिनियों का प्रेम पहले सा वृत्तिशक्ति न होने के कारण उसी प्रकार नहीं शोभित होता है जैसे घिसते घिसते कमजोर होने से टूट गया, दूसरी वस्तु से रीज दिया और मीम से जोड़ दिया गया, बड़े बड़े बरतनों का कड़ा पहले सा गार न सह सकने के कारण शोभित नहीं होता ।

उपर्युक्त वाक्या में वप्रयुक्तत्व दोष है। प्रेमन् शब्द (पुंलिङ्ग प्रथमान्त प्रेमा) पुंलिङ्ग रूप की भाँति में भजे ही प्रसिद्ध हो, कवि सम्प्रदाय में सदा नपुंसकलिङ्ग (प्रथमान्त प्रेम) में ही प्रयुक्त हुआ करता है।

हृष्ट विसर्गत्वं दोषः

‘सप्त कुराननभावादेमुत्थं वापि नैव वर्जयति ।

व्यमेकहृदयं एव दृष्टिण एव प्रियतमस्तदपि ॥’ १

हे सति । मेरा प्रियतम विधाता के समान (१- चातुर्यवान् होने के कारण
२- चार मुख वाला होने के कारण) किसी में भी क्यथा कहीं भी विमुक्ता
नहीं दिखाता है, तो भी यह एक हृदय ही है।

इस वाक्य के ‘व्यमेकहृदय एव दृष्टिण एव’
में विसर्ग का लोप है । जिस वाक्य में विसर्ग का उच्चारण हो उसमें पाठ
सौन्दर्य किंवा पाठ माधुर्य रहा करता है। किन्तु यदि विसर्ग हृष्ट रहे तो
पाठ में असौन्दर्य तो होता ही है साथ ही साथ नीरुक्ता भी उत्पन्न हो
जाती है। अतः यहाँ हृष्टविसर्गत्वं दोषः दिसाई देता है।

उपहृतविसर्गत्वं दोषः

‘सत्यं मधुरो नियतं वङ्गो तूर्णं कलाधरो वयितः ।

स तु वेद न द्वितीयामकः प्रतिपदिन्दुरिव ॥’ २

वह सुन्दर, वङ्गो वितकृश, कामकलाविश है- यह सत्य स्वम् निश्चित है
किन्तु प्रिय वक्ताद शुन्य , द्वितीय तरुणी को नहीं जानता जैसे सुन्दर,
वङ्ग, कलाधर निष्कल प्रतिपद्वन्द्व द्वितीयानामक तिथि को नहीं जानता ।

१- वायसिप्तशती - ६८०

२- ,, ६८१

उपर्युक्त वाय्या के पूर्वाधि सत्य----- दयितः
 में विसर्ग के वीकार में परिवर्तन से वाक्य पाठ में नीरस्ता जाने के कारण
 वास्तव विसर्गत्व कथवा उपर्युक्त विसर्गत्व नामक दोष है।

इस प्रकार के विवेचन के आधार पर यह कहा
 जा सकता है कि काव्यगत दोषों की दृष्टि से वाय्यासप्तशती में अधिक
 दोष प्रायः नहीं पाये जाते हैं, जो पाये जाते हैं उन्हें भी ' मार्ग गच्छतः
 क्वापि स्तम्भ भवति प्रमादतः ' के अनुसार उपेक्षित किया जा सकता है,
 किन्तु वाय्यासप्तशती का सबसे बड़ा दोष वशीलत्व भावनाओं का कनी-
 चित्त्व एवं शैली की कृत्रिमता है जो सरल सङ्ख्य पाठकों को कुछ न कुछ अवश्य
 ही लगेगा ।

...

वन्द्य कव्याय

बादान- प्रान

बादान

संस्कृत काव्यशास्त्रियों के अनुसार शक्ति ,
निपुणता और अभ्यास ये तीनों मिलकर काव्य के हेतु स्वीकार किये गये
हैं। इनमें कवित्व के बीजभूत संस्कार विशेष की शक्ति कव्या प्रतिमा कहते
हैं जो जन्म- जन्मान्तर से कवि के हृदय में संनिहित रहती है और जिसके न
रहने पर काव्य की रचना ही नहीं हो सकती । यदि कुछ तुलसीदास से काव्य
की रचना कर नीचे जाये तो वह उपहासनीय होता है। लोकशास्त्र काव्यादि
के ज्ञेयता से निपुणता वा जाती है कर्तुं लोकावेक्षण- नराचरात्मक वस्तु
के व्यवहार से , शास्त्रवेक्षण- इन्द्र , व्याकरण , अभिधानकोष , भक्त-
कलादि प्रणीत नृत्य- गीतादि , चौसठ कलाओं के प्रतिपादक ग्रन्थ , गजा-
युर्वेद , वल्गायुर्वेद आदि के ज्ञेयता ग्रन्थों के बार बार पर्यालोचन से निपु-
णता प्राप्त होती है। जो लोग काव्य की रचना या विवेचना करना जानते
हैं उनके उपदेश के अनुसार और प्राचीन कवियों की रचनाओं की व्यान में रह
कर बार बार काव्य- रचना करने से अभ्यास प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार
शक्ति, निपुणता और अभ्यास ये तीनों समष्टि रूप से काव्य के निर्माण में
हेतु माने गये हैं।

१- शक्तिनिपुणता लोकशास्त्रकाव्यावेक्षणात् ।

काव्यशिक्षायाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवः ।।

- मम्मट- काव्यशास्त्र १।२

काव्य के उपर्युक्त जिस समुचित हेतु की वाचाय मम्मट ने स्थापना की है वह इसी रससिद्ध कवियों में स्वतः समाविष्ट होता है। उनमें जन्मजात प्रतिभा ही होती ही है। अध्ययन और तीक्ष्णदर्शन की भी अधिक रूचि हुवा करती है। अपने हृदय गिर्द रखने वाले लोगों और होने वाली घटनाओं से वे अनभिज्ञ ही नहीं रह सकते। पूर्ववर्ती श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं का अध्ययन और उनसे प्रेरणा लेना भी उनके लिए प्रायः स्वतः सिद्ध ही हुवा करता है। रससिद्ध कवियों की इस सहज प्रवृत्ति के कारण पश्वर्ती और पूर्ववर्ती रचनाकारों में भाव, भाषा आदि का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वादान-प्रदान भी उतना ही स्वाभाविक है। स्पष्ट है कि वार्यासप्तशती भी इसका अपवाद नहीं हो सकते। ग्रन्थारम्भग्रन्था के अध्ययन से ही पता चल जाता है कि गोवर्धनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का गहन अध्ययन किया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं भी कहा है कि मैंने जन्मपूर्वक प्राकृत भाषा में निहित भावों को संस्कृत में परिणत करके वार्यासप्तशती की रचना की^१। यह इस बात का निःसंदिग्ध प्रमाण है कि उन्होंने हास की गाथासतसई तथा अन्य प्राकृत रचनाओं का भी अध्ययन किया। एक वार्या में उन्होंने कहा है कि निधि रचित स्थान पर सैन्य सम्पत्ती सुरत क्रीडारं नहीं करते हैं,^२ दूसरी वार्या में वीर पुरुष की समता डीरे से की है^३। ये उनके जीवनेका के प्रमाण हैं। कवि ने वात्सल्य^४, व्यास^५, शृणालय^६, काण्डवास^७,

१- वार्यासप्तशती (ग्रन्थारम्भग्रन्था - ५२)

२- .. - ७

३- .. - २६४

४- .. (ग्रन्थारम्भग्रन्था - ३०)

५- .. (.. - ३१)

६- .. (.. - ३३, ३४)

७- .. (.. - ३५)

भवन्नुति^१, बाण^२ जादि वफो पूर्ववर्ती कवियों की क्रमानुसार स्तुति एवं प्रशंसा की है। जो केवल उनके प्रसिद्ध होने के ही कारण नहीं बल्कि उपजीव्य होने के कारण भी की गयी है।

वायसिप्तशती के अतिरिक्त मेघदूत, रघुवंश, कुमारसंभव, मृच्छकटिक, उत्तररामचरित, नैषाधीयचरित, शृंगार शतक, नीतिशतक वादि ग्रन्थों की भावच्छाया के अनेक उदाहरण भी वायसिप्तशती में लीये जा सकते हैं। किन्तु उनका वादसँ हाल का मुक्तक बीज ही रहा है। कतिपय उदाहरणों से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

वावण्णावहिद्वणि सिक्कमल्लम्पाद वाड हरिणीए ।

जदसणी फिरी होहिह सि वन्तिं निर् विट्ठी ॥ ३

कान तक सीक्कर झोडे हए तीदण बाण है ममाहित हिरनी, यह सीक्कर कि अब कभी प्रिय का दर्शन नहीं हो सकेगा, देर तक उसे देखती रही।

वायसिप्तशती की हिरनी भी ऐसा ही भाव प्रकट करती है -

दृष्ट्येव विरक्तातर तारकया प्रियमुसे समप्तिया ।

यान्ति मृगवल्मपायाः पुच्छिन्दवाणार्दिताः प्राणाः ॥ ४

मृग की प्रिया हिरनी के, व्याध- बाण से पीड़ित प्राण, विरह से कातर सुतनी वाली प्रिय के मुख पर गढ़ायी गयी दृष्टि से ही जा रहे हैं।

१- वायसिप्तशती ग्रन्थारम्भप्रज्या - ३५

२- ,, ,, - ३७

३- काथा० ६। ६४

४- वायसि० सू३

प्रणय- विमुक्त नायक को पुनः क्लेश करने की
इच्छा से प्रती नायक से कहती है :

सा तुह सहस्यदिष्णं वज्र विरे सुख गन्धरहितं पि ।

उत्पत्तिवर्णनार्थं देवदेव्य वीमांस्त्रिं वहस ॥ १

हे सुभग । तुम्हें जो माला अपनेहाथ से दी थी वह यद्यपि गन्धहीन हो गयी है तौ भी परित्यक्त नगर देवता के समान वह उसे धारण किये रहती है ।

नाया है -

वर्षादिनिमित्तायां सुभग स्वक्रेण विनिहिता मयता ।

पतिशयनवारपा लिङ्ग्वरीणधं वहति सा मान्नाम् ॥ २

हे सुभग । तुमने अपने हाथ से समस्त ताप को हटाने वाली जो माला उसे प्रदान की थी उसे वह अपने पति के साथ शयन रूपी तिजारी ज्वर की बीजबधि के रूप में रखती है।

और सुन्दरियों से प्रेम करने वाले रसिक के प्रति नायिका के अनुराग का वर्णन करती हुई सुती कहती है :

महिमासहस्रभरिए तुह दिवर साकमावन्ती ।

दिवहं वणण्णकम्मा कीं तण्णुवं पि तण्णुरह ॥ ३

हे सुमन । सशर्मा महिलाओं से मेरे हृत्कारे हृदय में स्थान न पाने के कारण

१- वास्तु ००००० नापा ०२।६४

[illegible]

३- गाथा० २।८२

वह दिन भर अन्य काम छोड़कर अपने कुश शरीर की और भी कुश करती रहती है ।

गाथा के इस भाव को वायकार ने कुछ पुनः फिराकर इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

प्रददाति नापराधां प्रीतिमपि पीनतुंगवर्णाहः ।

या दुष्कलीभावं याता हृदि बहिरुश्यापि ॥ १

पीन वषण -स्यल वाली वह सुन्दरी जो बाहर न दीखती हुई भी हृदय में गुप्त कील के सदृश गहरी हुई है, अन्य सुन्दरियों का प्रीति नहीं होने देती ।

विपरीत रति में शीघ्र ही भान्त हुई नायिका को गाथा का नायक उपालम्भ देता है -

सिंहिपिच्छदुर्विकीरे वैवन्तीह विणिमीलितदन्ति ।

वरपुरुसाहरि विसुमरि जाणु पुरिमाणं व हःसम् ॥ २

मीरपिच्छ के समान वस्तु- व्यस्त केशों वाली । काँप्तीहुई जघावी वाली । कथमुदी वाली वाली । तनिक से ही पुरुष सद्गुण आचरण (विपरीत-रति) से एक जाने वाली । जान ली कि पुरुषों को कितना कष्ट उठाना पड़ता है।

वायकार ने इसी भाव का चित्रण इस प्रकार किया है :

वक्ताः प्रणयिनि सान्द्रस्वारी वाह्०मात्रसुभटि पार्धर्म ।

सुतनु प्लाटनिवे शितल्लाटिके तिष्ठ विजितासि ॥ ३

१- वायार्० ३७४

२- गाथा० १।५२

३- वायार्० ५२६

(मेरे) बदा से अधिक पीह करने वाली । (बदा पर शरीर का भार
रत्नर शिथिल होती हुई ।) तुम हाँफ रही हो , पसीने से लथपथ हो ।
मेरे मस्तक पर अपना मस्तक टेके हुए हो । सिर्फ बाणी की ही बहादुर
हो । ठहरी, तुम डार गई ।

गाथा में नृत्यविना के कुर्ची की उपा कृतकार्य
मर्तों (वीरों) से दी गयी है -

तुंगाणं विसेसनिस्ताराणं वणन्दसीहाणं ।

कृष्णज्याणं मठाणं व घणाणं पङ्कणं वि रमणिज्जम् ॥१

तुंग , सटे हुए तथा (प्रणयकेलि में नल आदि के) दातों से शीमित कृतकार्य
कुर्ची का गिर जाना (शिथिल होना) भी मानगर्वित, समशक्ति तथा युद्ध
में लगे घावों से शीमित विजय प्राप्त मर्तों के फल के समान श्रेष्ठ ही होता
है।

इसी प्रकार आर्याकार ने श्लोक के अन्त पर
कुर्ची की उपा सज्जनों से दी है -

महतीः सुमुत्तयीः सति हृदयग्रहयोग्यीः समुन्मिक्तयीः ।

सज्जनयो स्तनयोसि निरन्तरं संगतं भवति ॥ २

है सति । विशाल, वर्तुल (गोल) , बदा पर आधिपत्य जमा लेने वाले
उत्तुंग कुर्ची का सटाव महान् , सदाचारी, हृदयहारी और अभिजात सज्जनों

१- गाथा० ५।२७

२- आर्या० ४३

की मैत्री के समान निरन्तर रहता है।

नायिका के लीक- स्नान पर न पहुँचने और नायक के वहाँ जाकर लौट जाने तथा अपनी इस विहम्बना को बताने पर गाथा की नायिका का मुँह फीका पड़ गया-

‘सामाह सामलिज्जह अहलिङ्गनीहरीव मुहसीहा ।
अम्बुदलककण्ठामवसपरिह हलिवपुत्ते ॥ १

हलिक हुआ जब जामुन की कोंफ की कान में लौंघ कर घूमता हुआ दिखायी दिया तो कटाक्ष सुन्दरी के मुँह की छाया श्याम हो गई ।

वायिकारने इसी भाव का अनुवाद इस प्रकार किया है -

कोपति पाणिनीलाननतवृताहिर त्वयि प्रमति ।
कम्पित्कखाले स्मर ख्व सा मुर्च्छिता सुतनुः ॥ २

हाथ में तन्वार लिए काम के समान अपने हाथ में स्थित वाम की मँजरी से झोड़ा करते हुए तुम्हारे सरीख घूमने पर वह कृशोदरी मुर्च्छित हो गयी ।

बहुत दिनों में बीमारी सुनकर वाये हुए नायक की उपाश्रम देती हुई गाथा की नायिका ज्वर की प्रतीक्षा करती है :

‘सुहउच्छ्वर्ष वर्ण दुल्लहं वि दूराहि अम्ह बाणन्त ।
उववारव जर बीर्वं पि णोन्त ण कवावराहीसि ॥ ३

१- गाथा० २।८०

२- वायिका० १६०

३- गाथा० १।५०

है उफकार ज्वर । प्राण लेते हुए भी तुम्हें दुर्लभ व्यक्ति को दूर से कुत्तल
पूँने के लिए यहाँ लाने के कारण मेरा कोई अपराध नहीं किया है।

वार्या की नायिका की भी ऐसी उक्ति

सुनिए -

“ ज्वर । वीती-वधवाधस्तिष्ठ सुतं दत्तमङ्गुलिं ते ।

वधु लम्बोदाकर्णपाचाण सहै न मोक्षयसि माम् ॥ ” १

है ज्वर । मैं प्रसन्नता के साथ तुम्हें अपना शरीर दिया । वी-वधि के
मय से रहित होकर रही, दुर्लभ व्यक्ति को खींच लाने वाले तुम्हारे । मुझे
होइकर न जाओ ।

नायिका की सम्यक्तावस उसे पर- पुरुष

से विरत सम्पन्नते हुए नायक से उता ऊँ रहा है -

“ वण्णासज्जहं वैत्ति तस्य सुरस हरिषविषसिक्कजीन्हा ।

नोसे वि वीणाञ्जुही जह सेत्ति पिमां ण उदधिमी ॥ ” २

सुरतकाल में हर्ष से विकसित कपीली वाली प्रिया सुरत- विषयक सेकड़ों
वाशाई देती है और प्रातःकाल लज्जा से कमलतुल्य विलास देती है तो
विश्वास नहीं होता कि यह वही है।

वार्याकार ने यही भाव इस प्रकार संवारा

है :

१- वार्या० २४०

२- नाया० १। २३

° विनयविनता विनेऽसौ निशि मदनकलाविलाससद्वर्गी ।

निर्वाणज्वलितौघधिरिव निपुणप्रत्यभिज्ञया ॥ १

दिन में विनत तथा रात में कामकलाविलास से शोभित शरीर यह सुन्दरी
मत्स्य की हुई वीर्याधि के समान कठिनाई से पहिचान में जाती है।

किसी युवक के साथ नायिका को प्रणय-सूत्र
में बाधने के लिए गाथा की वृत्ति उसके प्रति उस युवक के वगाध क्रुराग की
वर्णिव्यक्ति इन शब्दों में करती है-

सौ तुज्झ कर सुन्दरि सह वीणा सुमहिनी हन्तिवृत्तौ ।

जह से मञ्जरिणीए विदोन्म जातार पडिवण्णन् ॥ २

हे सुन्दरि ! वच्छी फली वाला वह हल्कि तुम तुम्हारे कारण हटना
धीजा हो गया है कि उसको हिन्यानु फली ने स्वयं वृत्ति का कार्य स्वी-
कार कर लिया है ।

जाया की वृत्ति ने यही बात कुछ घुमा-
फिराकर इस प्रकार कही है -

° प्रियविरहनिःसहायाः सहजविपलाभिरपि सपत्नीभिः ।

रक्षन्ते हरिणाद्याः प्राणा गृह्णन्मतीताभिः ॥ ° ३

प्रिय के विरह को न सहने वाली सहज विरह सपत्नियों भी घर बिगड़

१- वार्ता० ५१३

२- गाथा० १।८४

३- वार्ता० ३८०

जाने के मय से उस मृगयन्त्री के प्राणों की रक्षा करती है।

गाथा की उदात्त यौवन वाली नायिका
पथिक में वासन्त होकर कहती है -

‘ पथिक ण एत्थ सत्थरुमत्थि मणं पत्थरुत्थले गामे ।
उण्णवप्पवीहरं पेक्खिउण्ण जह वससि ता वससु ॥ ’ १

हे पथिक । इस पथरीले गाँव में बटाई कादि कुछ बिहाने के लिए तो है
नहीं । उन्नत पयोधर (बादल और कुबमण्डल) को देखकर रुकते तो
जाओ ।

वार्या की नायिका भी पथिक के प्रति ऐसा
ही भाव व्यक्त करती है -

‘ पथिक कथं वप्पोज्ज्वलपम्बुव जल विन्दु निवहम वि णह्यम् ।
मयपुरा-न-द्रवपिब शिवरुरशिसिमा विरं एहसे ॥ ’ २

हे पथिक । बिजली से उज्ज्वल अत्यन्त बसह्य, मेघ- जल बिन्दुओं को रँकर
के बाष्पाग्नि से संतापित, मय नामक दैत्य नगर के सुवर्णद्रव की भाँति कैसे
सह रहे हो ।

वज्जालम्भी की किशोरावस्था नायिका के
साथ रमण करते हुए नायक के प्रति अन्य नायिका की प्रेम भरी परिहा-
सोचित सुनिये -

१- यह गाथा काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में उदाहृत है। गाथा सप्तशती
में तो देखी की नहीं मिली । वज्जालम्भी में संगृहीत है।

२- वार्या ० ३७२

जाव णा बियसह सरसा वराह न हँसै पि मलाई कलिया ।
बविणीयमहुयरेहि ताव न्निब पाउमारदा ॥ १

मालती की कली, बिकसित होकर सरस होना ती दूर रहा, तनिक कली भी नहीं थी कि जविनीति महुकरी ने उसका रस पीना प्रारम्भ कर दिया ।

जार्वाकार ने वही भाव का अनुवाद इस प्रकार किया है -

पिब मधुप बहुलकलियाँ दूरे रत्नाग्रमात्रमाधाय ।
तथर विलेखमाये मधुनि भुधा ववनमप्यसि ॥ २

हे मधुप । दूर से बिज्जुआग्र मात्र रखकर बहुत कली की पिली । तथर लग जाने से ही समाप्त हो जाने योग्य मकरन्द पर व्यर्थ भुँह लगाते हो ।

गुन्दरी के पुष्ट कृत मण्डन पर पहेलुए हार का वर्णन वज्जानन्नी ने इस प्रकार किया है -

उच्चिम्बे थणहारे रेहह बाजार धोलिरी हारी ।
हिमनिशिरसिहराओ ललिवी गंगाफाहो ज्व ॥ ३

बाज्रा के उभरे हुए कुछ मार परध घुमता हुआ हार ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि हिमान्य पर्वत के शिखर से गिरा हुआ गंगा का प्रवाह हो ।

१- वज्जा० २४२

२- जार्वा० ३६७

३- वज्जा० ३०६

आर्यासप्तशती में इसी भाव ने यह रूप धारण

किया है -

उच्छृङ्खलम्निष्ठितो हृदयं वान्यति जघनलग्नाग्रः ।

वृत्तिनिम्नमध्यस्थमदारुनियस्तह्णित्वं तव हारः ॥ १

है तह्णिति । उच्छृङ्खलम् पर मूत्र, जिसका लगभग जघन से लगा है, मध्य भाग रूप निम्न स्थान की लघिने के लिए स्थापित दारु- सा तुम्हारा हार हृदय की चकन कर देता है।

अतिवाता नायिका ने राजा नायक की उत्कृ-
त्त नामक वासन से रमण करने का उपदेश वज्जा में पुष्प कंकित एवं प्रमद
की वन्योचित द्वारा इस प्रकार दिया गया है -

निविडदर्शित्वं पि ह्यु काचित् विवक्षाविजृम्भ सा विशेषः ।

वै फर्म तीरे रसं पियन्ति ते हृष्यता क्रिया ॥ २

जी पूर्णतया मुँहो हुई फेसदियों वालो कल्पिता की विशेष रूप से विवक्षित
करके उसकी प्रथम रस का पान करते हैं, वै ही प्रमद विवग्ध हैं।

आर्यासप्तशती में यही प्रसंग इन शब्दों में
उद्धृत किया गया है :

चित्तं न मुसं नाङ्गं न पलातौ न चरणाः परागेण ।

वस्त्रश्लेषं न लिन्या विदग्धमधुभि मधु पीतम् ॥ ३

१- आर्या० १३५

२- वज्जा० २५२

३- आर्या० ५०८

पराग से सुस, वींग, चरणों तथा पैरों के मुल भाग को लिप्त नहीं किया,
रफ़ी न करते हुए विदग्ध प्रेम ने कमलिन की मधु पीया ।

गर्मी की बुझपरी में पथिक की विश्राम के
लिए निमन्त्रित करती हुई अप्रिय के अज्ञात कवि की नायिका देखिए-

‘ तरुण तरुणि तवह परिणि पवण बड सरा ।
लग नहि जल बड मरुथल जणजिवहरा ॥
दिसइ बलह दिखइ हुनइ हम छलि बह ।
पर णहि पिय सुणहि पहिब मणि छपइ कह ॥ १

दोपहर का सूरज तप रहा है, तीव्र पवन चल रहा है। जल उमीप नहीं है,
मरुस्थल लीनों के लिए घातक है, दिशार्ध चल सी रही है। हृदय ठोस रहा
है, प्रिय घर नहीं है। पथिक ! सुनी अपनी जान की छत्का-

वायिकार की नायिका ऐसा ही भाव सती
से प्रकट करती है :

सति मज्झाएन दिगुणधुमणिकल्लै णिपीडिता हाया ।
मज्झितुमिवात्मात्ते परितस्तहमुल्लासयति ॥ २

हे सति । दोपहर में सूर्य की किरणें दूती तीव्र हो गयी हैं, उनसे पीडित
हाया आत्मा (आत्मा) में मग्न होने के लिए सब जीर से वृक्षमूल का
वाक्य ले रही है।

१- प्राकृतफाल्गु पृ० ५४१

२- वायसिप्तशती - ५६४

वर्णन भाषा की नायिका ने प्रियतम के वर्णन मात्र से ही जो सुरतानन्द प्राप्त किया उसका वर्णन वह सही से कर रही है -

° वीगहि जंगु णा गिल्लि हन्नि जहरे जहल णा फत्तु ।
फिज जीवतिहै मुत्तमल खंड सुरत समत्त ॥ ° १

सखि । वीगों से जंग नहीं मिला जीर जहर के साथ जहर नहीं मिला । प्रिय के मुत्तमल की देखते हुए सुरत किया यों ही समाप्त हो गयी ।

इसी भाव की गोवर्धन ने प्रकारान्तर से व्यक्त किया है -

° वर्णवृत्तिं लगाटे न दन्तिमधुं न चापरे वीजः ।
उत्पन्नहारि वारि न न स्पुष्टमुपायस्तुरेण ॥ ° २

न तो लगाट में तिलक का रंग नष्ट नहीं हुआ, न जंग लगाने को पाया जीर न जहर पर दन्तपात ही हुआ, उस उपायनिशुण ने कल का हरण भी कर लिया जीर जल का स्पर्श नहीं किया ।

कविकुलगुरु काव्यदास का 'कश्चिद्' यदा वर्णनी विरहिणी प्रिया की समावित दशा से मेघ की परित्त करवता हुआ कहता है-

° उत्सर्गि वा मन्विषने पीम्य निदिप्य वीणां
मद्गीव्रकि विरचित फं गेयमुद्गातुमापा ।
तन्त्रीमाद्रां नयसन्निः सारयित्वा कथञ्चिद

१- सिद्ध वैमल्यदानुशासन सूत्र ३३२ दोहा २

२- वार्तासप्तशती - ५९३

भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।। १

हे साम्य ! मल्लि वस्त्रवाली गीद में वीणा की रत्नर मेरीगीत में रहे हुए फाँ वाले गेय की ऊँचे स्वर से गाने की झकझु वाँधुवाँ से गीत ही जाने वाले तार की किसी प्रकार बजाने योग्य कर अपने द्वारा बजाई हुई भी मूर्च्छना (स्वरों के बढ़ाव-उतार के क्रम) की बार बार भूलती हुई (दिखायी देगी) ।

वार्या की विरहिणी की दशा की चेष्टाएँ
भी इसी प्रकार की हैं -

“ गायति गीति शंसति वशी वादयति सा विषीषु ।

पाठयति पञ्चरसुर्कास्तव संवाददादौ बाला ।। ” २

तेरे संवाद का उतार वह बाला गीत में गाती है, वशी में सुसहित करती है, वीणावाँ पर बजाती है, पञ्चरस्य सुर्कों की पढ़ाती है।

रघुवंश में हनुमती की मृत्यु पर विलाप करता
हुवा वन कहता है -

“ ह्यमुच्छसितात्कं मुनिं तव विभ्रान्तकथं हुनीति माम् ।

निशि सुप्तमिवैकफेजं विरताभ्यान्तरणाद्वदस्वनम् ।। ” ३

सुन्दारा बितरी हुई कण्ठों वाला स्व शब्द हीन यह मुन मुने रात्रि के समय मुझे हुए उस कण्ठ के समान जिसमें भारी का स्वर बन्दर ही बन्दर शान्त ही चुका ही, दुस्त है रहा है।

१- कालिदास- मेघदूत - उत्तरमेघ २६

२- वार्याविप्लवतो - २११

३- कालिदास- रघुवंश महाकाव्य ८।५५

वार्या का बिहरी नायक भी प्रियतमा के
इसी भाव का अनुमान लगाता हुआ वषी मित्र से कहता है -

तुम्हें क्या वाह-शलाका-फिज्जरफु-विषयवर्धमानों में ।

कुन्तति वदित्वाकृत्य शोकः स्मरति तिस्तीक्ष्णमुतः ॥ १

जैसे काठ की तीलियों वाले पिन्हे की तीता कैवता रहता है, उसी प्रकार
प्रिया के कृत्य की प्रतिदिन कामदेव के बाणों से तीक्ष्ण वारम्भ होकर
उत्तरीस्तर बढ़ता हुआ मेरा शोक कैवता रहता है।

रघुवीर के एक श्लोक में हनुमती के मरने पर
उसके गुणों का स्मरण करता हुआ वह कहता है कि - 'तू मेरी गृहिणी
थी, सखि थी, रहस्यगत बातों में सती थी, ललित कलाविधि में प्रिय
शिष्या थी, करुणाविभूत विधि ने तुम्हें धरते हुए मेरा क्या नहीं धर
लिया अर्थात् सब कुछ धर लिया ।'

वार्या का नायक प्रियतमा के गुणों की प्रशंसा
करता हुआ ऐसा ही भाव व्यक्त करता है :

तल्पे प्रभुरिव गुरु-रिव मनसि तन्त्रे अमे भुवि च्येव ।

मेहे अोरिव गुरु-जगुरतो भूतैव वा ब्रिहता ॥ २

वह शय्या पर प्रभु- सी कामशास्त्र में गुरु सी, नमदासी सी, घर में लक्ष्मी

१- वार्याचिन्तनी - ५७२

२- गृहिणी सखि----- किम् न मे कृतम् ॥

- कालिदास, रघुवीर महाकाव्य वाक्यांश

३- वार्याचिन्तनी - २५७

सी, गुरुपत्नी के बागे मूर्तिमती लज्जा - सी है।

वाम्पत्य प्रेम के वादर्स का उत्प्रेत करता हुआ
उत्तररामचरितकार कहता है :

व्यतिगजति पत्न्यानिन्तरः कौडपि हेतु-
नं स्तु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संयन्ते ।
विकसति हि पद्मस्यीवये पुण्डरीकं
प्रवति च हिमश्मावुदगते चन्द्रकान्तः ॥ १

कौहं (वशात) भी वान्तरिक कारण पत्नी की परस्पर सम्बन्ध करता है,
निश्चय ही प्रेम बाह्य साधनों पर निर्भर नहीं होता है, क्योंकि सूर्य के उदय
होने पर कमल खिलता है वीर चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्तमणि प्रिय-
न्ती है।

वार्तासप्तशती में यही भाव इस प्रकार चित्रित
किया गया है :

निष्कारणापराधं निष्कारणकलहरीणपरितोषम् ।
सामान्यमरणजीवनसुखदुःखं जयति दांपत्यम् ॥ २

जिसका कारण अपराध होता है, कारण कलह, शोध वीर सन्तोष होता
है, जिसका साधारण मरण, जीवन, सुख- दुःख है, ऐसा वाम्पत्य (उन
पति पत्नी का सम्बन्ध) सर्वोत्कृष्ट है।

१- बहिरुपाधीन्प्रीतयः०० भवभूति - उत्तररामचरित ६।१२

२- वार्तासप्तशती - ३३४

सभी अवस्थाओं में समान प्रेम रहने वाले
दम्पती की प्रशंसा करते हुए मन्त्रोक्ति करते हैं -

“ अद्वैतं सुसहृःस्योऽनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-

दिनामोद्वयस्य यत्नवशा यस्मिन्वहार्यो रसः ।

कालेनावर्णात्ययात्परिणते सत्स्नेहसारे स्थितं

भद्रं तस्य सुमङ्गलस्य कथमप्येकं हि सत्प्राप्यते ॥ ” १

जी सुस- सुःस में एक रूप रहता है, जी सभी अवस्थाओं में व्याप्त रहता है, जिसमें हृदय की विभ्राम भिन्ना है, जिसके रस की वृद्धावस्थानहीं हर सकती जी समयानुसार विवाह है और मृत्युपर्यन्त परिपक्व प्रेम के सार भाग में स्थित है, उस दम्पत्य का वह अनिर्वचनीय और विलक्षण आनन्द सर्वथा अभीष्ट है।

वार्ताकार ने इसी भाव का समर्थन इस प्रकार
किया है -

“ यावज्जीवनभावीतुन्याशययोर्नितान्तनिर्मदः ।

नदयोर्विवर्धन सुवयोः संगी रसमधिकभावस्तु ॥ ” २

जीवन भर स्थित रहने वाला, अत्यन्त अभिन्न समान वस्तुःकरणा वाले युवक
और युवती का संग, समान गम्भीरताशाली नद और नदी के, जब रहने तक
स्थित , अत्यन्त अभिन्न संग की भाँति अधिक रसावह की ।

१- उत्तररामचरित १। ३६

२- वार्तासप्तस्तो - ४६६

निःस्वार्थ एवं उवात्त प्रेम का वर्णन करता
हुवा उत्तररामचरितकार कहता है -

“ न किञ्चिदपि कृपाणिः सौख्यैर्दुःखान्यपीरति ।
तत्तास्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ १

जो जिसका प्रिय होता है, वह कुछ न करते हुए भी सुख से दुःखों को दूर
करता है, क्या वही व्यक्त उसके लिए सर्व धन है ?

कार्या के उपराधी नायक की समझाने के लिए
वृत्ती ने यही बात इस प्रकार कही है -

“ महताप्रियेण निर्मितमप्रियमपि सुखं सव्यतां याति ।
सुतसंभवेन यौवनविनाशनं न सत् लेवाय ॥ ” २

हे सुमन । अत्यन्त प्रिय द्वारा हुआ अप्रिय भी सख्य लिया जाता है, पुत्री-
त्वपत्ति से यौवन का विनाश के लिए नहीं होता ऐसा निश्चित है।

राम की विरह-वैदना का वर्णन करते हुए
भवभूति कहते हैं :

“ पलति हृदयं शोकोदेगात् दिधा तु न भिषते
बहति विकल्ब कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वल्यति तनून्मन्तवहिः करोति न मत्स्यसात्
प्ररति विधिर्मयंकैदी न कुन्तति जीवितम् ॥ ” ३

१- अव्यति - उत्तररामचरित ६।५

२- कार्यासिप्तशती ४६०

३- उत्तररामचरित ३।३१

हुवय शोक की व्याकुलता से फट रहा है, परन्तु दो टुकड़ों में विभक्त नहीं होता । व्याकुल शरीर घूर्णित हो रहा है, परन्तु जेतना की नहीं झोड़ता । वान्तरिक सन्ताप शरीर को जला रहा है, परन्तु मस्मसात् नहीं करता । मर्म स्थल की बीधने वाला माग्य प्रहार करता है, परन्तु जीवन की सर्वथा नष्ट नहीं करता ।

जायाँ के विरही नायक ने भी यही भाव व्यक्त किया है -

“ हन्त विरहः समन्ताज्ज्वलयति ह्वारितीग्रसैवः ।
वरुणस्तफाशिलापि पुनर्मा मस्मतां नयति ॥ ” १

ह्वारि सर्व तीव्र आवेगशाली विरह, सूर्यमान्त मणि की सूर्य के समान, सर्वत्र घेरें वगीं को जलाता है किन्तु तैल है मस्म नहीं कर डालता ।

विरहिणी सीता की कु मरी दृष्टि की समता धूध की नहर से करता हुआ उत्तररामचरितकार कहता है -

“ विहस्तिमतिपूरेर्वाष्पमानन्दशोक-
प्रभवमवसृजन्ती पत्पलीस्तानदीर्घा ।
सपयति वृषयेर्ल स्नेहनिष्यन्दिनी ते
ध्वजन्धुरमुग्धा दुग्धकुन्धेव दृष्टिः ॥ ” २

कोक प्रवाहों द्वारा फैले हुए तथा वानन्द और शोक से उत्पन्न वासुवीं की बहाती हुई , सुन्दर पत्तों वाली, विस्तृत और दीर्घ तथा प्रेस की बचाई

१- जायाँसप्तशती ६६१

२- भवमूति- उत्तररामचरित ३। २३

करने वाली, श्वेत मधुर रस मीठर तुम्हारी दृष्टि की नहर की तरह अपने हृदयेश्वर को स्नान कराती है।

किन्तु आर्या की नायिका की भी वसूत-धारा सी दृष्टि कुछ कम वाकर्षक नहीं है -

“ वस्याः करुणवसन्धितकाण्डपटप्रकटनिर्गता दृष्टिः ।
पटविगन्धितनिष्कलुषा स्वयते पीयूषधारिव ॥ ” १

कनात में नल द्वारा बनाये गये छिद्र से स्पष्ट निकली, इसकी दृष्टि, वस्त्र से कनी कतः निर्मल पीयूष धारा सी मन को माती है।

उत्तररामचरित में विरहिणी सीता की सान्त्वना देती हुई तमसा कहती है -

“ पुरीत्पीडै तटाकल्य परीतातः प्रतिक्रिया ।
शोकदाभे च हृदयं प्रलापैव धायेते ॥ ” २

जल का बाधिव्य होने पर तालाब के किनारों की चर्चकर बहना ही उसकी प्रतिक्रिया है। शोक और दाम में हृदय प्रलापों द्वारा ही धारण किया जाता है।

आर्या की नायिका भी ऐसा ही भाव प्रकट करती हुई अपनी सखी से कहती है -

“ रोषवसेतदन्यं सति किं बहु मत्पुत्रमि समानर्धः ।

स्वप्नेनैव हि विहितो नयनमोहारिणा तेन ॥ १

है सति । नयन और मन की कधीन करनेवाले स्वप्न के समान, उसके द्वारा किया गया मेरा यह रोदन सर्वात्कृष्ट है, अधिक बया कहुँ, मेरा मरण भी समीचीन है ।

दरिद्रता का वर्णन करता हुआ मृच्छकटिककार कहता है :

“ दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजीवान्ये न संतिष्ठते ।

सुस्निग्धा विमुक्ती भवन्ति मूढवः स्फूर्तिमिवन्त्यापः ।

सत्त्वं ब्राह्ममुपैति शीलशक्तिः कान्ति परिस्मायते

पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य समाव्यते ॥ २

बन्धु लीन निर्धनता से पुरुष के कहने में नहीं हारते, अत्यन्त स्नेही विपरीत हो जाते हैं, आपत्तियों अधिक हो जाते हैं। शक्ति-दाग की प्राप्ति हो जाती है, जो दूसरों के द्वारा भी किया गया पापकर्म है, वह उसी का सम्पन्न जाता है।

कार्यकार ने यही भाव लक्ष्मी और दरिद्रता के भावों की उगति करते हुए सीन्धु में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

“ लक्ष्मीः शिवायति गुणानामुत्तुर्गुणैर्विभूयति ।

गुणो भवति सुवृत्तस्तुणारुचिरफले वः ॥ ३

१- कार्यसिप्तरत्नी - ५०१

२- मृच्छक- मृच्छकटिक १।३६

३- कार्यसिप्तरत्नी ५०५

श्री गुणों को सिताती है, दारिद्र्य गुणों को दूर करता है, पूर्ण चन्द्र
सुवर्तुनाकार होता है और कलाओं के विनाश से कूटिल हो जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वायुकार का
प्रयास नागर में सागर भरने के समान है।

मुख्यक टिक में वैश्या प्रेम की अविवशनीयता
का चमत्कारी वर्णन इस प्रकार किया गया है -

‘ वन्य मनुष्यं हृदयेन कृत्वा वन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति ।
वन्यस्त मुञ्चति मदप्रसक्तमन्यं शरीरेण च कापयन्ते ॥ ’ १

हृदय में दूसरे पुरुष की रस्कर तत्पश्चात् दृष्टि से वन्य की बुझाती है,
मदसिक्तता की कही अन्यस्त प्रभावित करता है और शरीर से दूसरे की चाहती
है।

यही भाव वायुकार ने किसी पार्श्विक की
भाँति दर्पण और प्रतिबिम्ब के उपमानों द्वारा अधिक कारणर वंग से प्रस्तुत
किया है -

‘ वयि निक्षिप्तं विनिक्षिप्तमिव सुप्तं स्वेच्छन् वास्वामपुतः ।
उपदर्शयन्ति हृदयं दर्पणविम्बेण वदनमिव ॥ ’ २

वैश्याएँ निर्मल वन्तःकरुण वाञ्छे सुप्तों में न सोपि गये हृदय की उसी प्रकार
सोपा हुआ सा दिखाती है जिस प्रकार दर्पण में मुस न रहने पर भी निक्षिप्त
सा दिताई देता है।

१- सूत्र- मुख्यक टिक ४।१६

२- वायुसप्ततती - ५६

नववधू की रतिवामता का वर्णन नागानन्द

में इस प्रकार हुआ है -

‘ वृष्टा वृष्टिमयी वदाति श्रुते नालाफाभाणिता
शय्यायां परिपुत्य तिष्ठति क्लादाभिगितावेक्षी ।
निर्यान्तीन्नु सलीन्नु वासभवनाग्निगन्तुमेवहते ।
जाता वामतयं सम्प्रति मम प्रीत्यं नवीढा वधू ॥ ’ १

देखी जाने पर वृष्टि नीचे कर लेती है, कोली पर भावण नहीं करती ,
शय्या पर मुँह फेरकर लोटती है, क्लेशक वाग्विग्न करने पर काँपी लगती
है, सतिर्या वासगृह से निकल जाती है तो भी उनके साथ ही निकल जाना
चाहती है। इस प्रकार वामता धारण करने पर भी नववधू मेरे हृदय में प्रेम
ही उत्पन्न करती है।

वार्गा की मानिनी नायिका की भी रति-
वामता ऐसी ही आकर्षक है :

‘ जान्नीक स्व विमुली क्वचिदपि विवसे न ददिणा मवसि ।
हाथेन तदपि तार्प त्वमेव हरसि मानवति ॥ ’ २

दर्शन होते ही मुँह फेर लेती है, किसी भी दिन अनुकूल नहीं होती । है
मानिनी । तो भी, प्रकाश होते ही विमुक्त और सभी वाग्वि न होने वाली
हाथा के समान तुम ही मेरे सन्ताप की हरती हो ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीहर्ष ने

१- श्री हर्ष - नागानन्द ३१४

२- वार्गासप्तशती ७५

जहाँ कुम्भों के माध्यम से सौंदर्यों की सहज व्यंजना द्वारा रस सृष्टि की है वहाँ कार्याकार ने लीला पीणित उष्मा द्वारा वमत्कार उत्पन्न किया है। एक में वृक्ष की प्रधानता मिली है, दूसरे में सुदि की।

नल के मुस और नेत्रों की सुन्दरता का वर्णन करता हुआ नैषधीयचरितकार कहता है -

‘सरीरुहं तस्य दृशेव निर्वृत्तम्
जिताः रिमतेनैव विधौरपि श्रियः ।
कृतः परं भव्यमहो महीयसी
तद्वाननस्योपमितां परिग्रता ॥ १

कमल उसके नेत्र से ही जीत लिए गए, सुन्दराक्षर से ही चन्द्रमा की भी जीता जीत ली गयी। (उन दोनों से) अधिक सुन्दर वस्तु कहाँ है, वाच्य है कि उसी मुस की उष्मा के विनाय में बहुत बड़ा अभाव है।

कार्या की नायिका के मुस की प्रशंसा में यही भाव व्यक्त हुआ है :

‘वायाग्राही चन्द्रः कूटत्वं सततमभुजं द्रवति ॥
हित्वाभयं समार्यां स्तौति तवैवाननं लीकः ॥ २

चन्द्र सक्त है और कमल निरन्तर पंक्ति की प्राप्ति होता है, उन दोनों का परित्याग कर समा में जीग तुम्हारे ही मुस की प्रशंसा करते हैं।

नैषधीयचरित में नल विषयक वाच्यित से केवल

१- श्री कृष्ण - नैषधीयचरित १।२४

२- वायासिप्तशती - २३३

हुई वमयन्ती की देखिए -

° प्रियं प्रियां च त्रिषण्णव्यधिर्या
 लिता धिनीनागृहभित्ति कावपि ।
 इति स्म सा काह्वरेण लेखितं
 ननस्य च स्वस्य च सख्यमीषाते ॥ ° १

श्रीहृदा भवन की भित्ति पर तीनहैं लीकों की जीतने वाली शोभा से सुन्दर
 किन्हीं प्रिय तथा प्रेयसी के चित्र बनायी, इस प्रकार कहकर वह कुशल चित्र-
 कार द्वारा लिखित नल के तथा उन्ही चित्र की समानता की देखती है ।

वार्गा की नायिका की ऐसी ही वासन्ति का
 वर्णन करती हुई उसकी सही नायक से कहती है :

° नानावर्णैरूपं प्रकल्पयन्ती मनोहरं तन्वी ।
 चित्रकरतुल्लिख त्वां सा प्रतिमिस्ति भावयति ॥ ° २

प्रत्येक दीवार पर नाना रंगों से रूपान् मनोहर चित्र की बनाती हुई चित्र-
 कार की तुलिका के समान वह कृतांगी तेरा ही ध्यान करती है।

प्रिया के लहर एत के समान जल की तुल्य
 स्पर्शकार करता हुआ समरुक्कस्तकार प्रकारान्तर से कहता है :

° संदष्टेऽधरपल्लवै सचकिर्तं कृताग्रमाधुन्यती ।
 मा मा मुञ्च सठेति कोपधैरानर्तितमुत्ता ।

१- श्रीवर्ण- नैषधीयचरित १।३८

२- वार्गासप्तशती - ३४५

सीत्काराञ्जितनीन्ना सस्मसं येशुम्बिता मानिनी

प्राप्सं तैरपूतं अमाय मयिती मूढः सुरैः सागरः ॥ १

कधर पल्लव का दर्शन करने पर हाथ हिलाकर क्रोध के साथ यह कहती हुई कि 'शठ मुझे डोढो' तथा प्रकृति बदलाव रिसियाती हुई मानिनी का चुम्बन जिन्होंने किया, अमृत उन्होंने को मिला। मूढ सुरगण ने तो व्यर्थ ही परिश्रम मात्र के लिए सागर का मन्थन किया।

इसी भाव की जायकियार ने इस प्रकार व्यक्त किया है -

“ लो हरः प्रियाधरगुणवैदी दिविषदोऽपरे मूढाः ।

विषममूर्तं वा सममिति यः पर्यन्तरन्नेव पपी ॥ ” २

प्रिया के कधर गुणों के जानकार ऊँचे स्तर हैं जो विषम और समुत को समान समझकर विषम को ही पी गये अन्य देवता भी मूढ ही रहे।

अमरुत की नायिका तौते तारा अपनी सुरत-
के लिए का भेद गुरुजन के समझा सोलने पर उसे बुद्धिमानों के परिस्थितिवश समझती है -

“ वम्पस्यो निशि जम्पस्योर्गुरुकेनाकृणितं यद्वचः ।

तत्प्रातरुं सन्निधी निगद्यतः सुत्वंव तारं वधूः ।

कथामिम्बितपथरागशक्तं विन्यस्य नञ्चवीः पुरी

प्रीडार्ता प्रकरोति वाहिमकञ्चव्याधेनवाग्वन्धनम् ॥ ” ३

१- अमरुत - अमरुतशक्त - ३६

२- वायसिप्तशती - १४२

३- अमरुत - १७

रात में वार्तालाप करते हुए बम्फी की जीवात घर में फी हूँ तोते हूँ
 सुन ली उसे प्रातःकाल ही गुरुजन के पास दुराते सुनकर मज्जित गधू ने अपनी
 जान में पहिना हुआ पमरागत्न का टुकड़ा उसकी जीब के बागे रखकर बाहर
 के बाघ के घ्रम से उसकी बाणी की रोका ।

जार्ज की नायिका तीते की ऐसी ही हस्त
 की रोकती हुई उससे कहती हैं -

“ शुभं सुखसमसाद----- कृपयस्वत्यंसार सर्वज्ञ ।
 गुरुजनसमक्षम् प्रसीद जम्बूफलं ज्ञेय ॥ ” १

हे शुभ । सुख स संग्राम की बहाने जाने , (मेरे) हृदयों के रक्षकों में
 मुख्य, सब दूर जानी जाने, गुरुजन के पाससे शुभ, प्रदान ली जाती , जम्बू-
 फल कुन्नी (आजी) ।

बाहक के दो लीकों में लिखने पर भी
 मान धारण करने में अवश्य नायिका सती से कहती हैं -

“ हस्तं नामापि यद्यं कण्ठधनपुष्पं बायोडुर्लभन्तात् ।
 कृष्टं यद्यपि नैव नमस्ति सुखिदं मन्त्रान्तात्कारि ।
 तस्मिन्नागत्य कण्ठधनपुष्पं बायोडुर्लभन्तात्कारि ।
 मन्त्रा मानस्य चिन्ता मयति मयि पुनर्व्रमय्या कदाचित् ॥ २

जिह्वा नाम दुरार की पुनित ली जाता है और जिसे मुसमन्त्र की देकर
 शरीर चन्द्रकान्त मणि का कुरुण करने जगता है (स्वेद से मीन जाता

१- जार्जसिपतली ५७

२- जम्बूफल - ५६

जाता है) वह प्राणनाथ जब इतने समीप आ जाये कि वाजिन हो सके, तो मान का टूटा हुआ हरावा मुख पाणाणी में फिर कमी हो सकता है ?

° भ्रूमणि रक्षितेऽपि दृष्टिर्धर्मसौत्कण्ठमुदीयते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं वन्धाननं जायते ।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनुं रोमांसिमात्म्यते
दृष्टे निर्वहणं न विष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने ॥ १

(सही जब) मैं अपनी माँह तरेर लेती हूँ तो वाहि वीर भी उत्कण्ठित होकर उसे देखने में लुट जाती है, यदि बोलना बन्द करती हूँ तो निगाहें मुख पर मृस्कान जाने लगती हैं, यदि हृदय को कठोर बनाती हूँ तो शरीर रोमांचित हो उठता है। तब तुम ही बताओ कि उसे देखकर मैं अपनी मान का निर्वह किस प्रकार कर सकती हूँ ।

यही माव वार्याकार ने उत्तरोत्तर वार्यावीं में क्रमानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं :

° प्रणयचक्षितोऽपि सकृत्क्रीकटान्मर्मया स्तिस्तम्भः ।
ब्राससरलीः गृहीतः सहासरमसं प्रियः कण्ठे ॥ २

प्रेमवश विचक्षित प्रिय को मैं कोपपूर्ण बड़ दृष्टि से स्तब्ध कर दिया वीर तब ब्रासवश काँपते हुए के गले का मैं जोर से हँसकर वाजिन कर लिया ।

° वसनं विनीमाना गृहिणी हर्षात्सत्कपोलतन्त्रम् ।
बुम्बननिषीधमिषतौ वदनं पिधाति पाणिभ्याम् ॥ ३

१- अमरक० - २५

२- वार्यासप्तशती - ३७६

३- वार्यासप्तशती - २७६

(नायक की) देखते ही उसका मान चला गया है, (बहुत दिनों के बाद प्राप्त) दर्शन के क्षण से कपील तन प्रसन्न हो रहा है। (केवल इस भाव की क्षियाने के लिए ही) चुम्बन - निजीध के बहाने वह गृहिणी हाथों से मुक्त हो ढक रही है।

वमरुक की मानिनी प्रिया का स्मरण करता हुआ नायक अपने मित्र से कहता है -

“ त्वं दृष्ट्वा करणदातं मधुमदप्रीया विचार्येभ्यं ।
गच्छन्ती ननु नु गच्छसीति विधृता बाला पटान्ते मया ॥ १
प्रत्यावृत्तमुत्ती सबाष्पयता मां मुञ्च मुञ्चेति सा ।
कीपप्रसृजिताधरा यदवदत्तु केन विस्मायेति ॥ ” १

अपने द्वारा ही (मेरे ऊँक पर) किये हुए नसबिन्दु की देखकर मधुमत्त प्रिया जब हँस्यविश कुछ सोचकर जाने लगी तो मैं यह कहते कि तुम कहाँ जा रही हो ? उसका अचानक फट्ट लिया । उसने मुँहकर सजल नयनों और कीप से काँपते अधरों से जो कुछ कहा उसे कौन मुला सकता है ?

वार्ता के नायक ने यही भाव इस प्रकार प्रकट किया है -

“ यस्मिंश्चित् शैत्यसि मार्गा सा यातु शठ भवन्तमिति ।
प्रवृत्ती शिरसि का स्मरामि तां गर्वतुहकीषाम् ॥ २

१- वमरुकस्तक - ५५

२- वार्तासप्तशती - ४७२

बिस्की दी गयी माला की तुम सिरामुष्ण रूप में धारण कर रहे हो,
हे सठ । वहीं तेरे पास जाय, ऐसा कहकर सिर पर चरण प्रहार करती ,
गर्व से महाकीर्ण वाली उसी स्मरण करता हूँ ।

अमरक का विरही नायक सर्वत्र प्रियतमा की
ही मूर्ति के दर्शन में उदितवाद की घुष्टि करता है -

‘ प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा ।
पश्ये सा पथि पथि च सा तद्वियोगात्तुरस्य ।
हं ही चैतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा ।
सासा सा सा जगति सक्ते कौड्यमदितवादः ॥ १

उसके वियोग में वातुर होने के कारण मुझे प्रासाद और दिशाओं में, वागे-
पीछे , फेग ज्यवा मार्ग पर वहीं दिसाई देती है। समस्त जगत् में वहीं वह
है। यह कैसा उदितवाद है ।

आर्या की विरहिणी के ऐसे ही माव का
वर्णन करती हुई दूती नायक से कहती है -

‘‘ नानावर्णिकरूपं प्रकल्पन्ती मनोहरं तन्नी ।
चित्ररत्नं त्वैव त्वं सा प्रतिमिति मावयति ॥ २

प्रत्येक वीथार पर नाना रंगों से रूपां मनोहर चित्र बनाती हुई वह कृशंगी
चित्रकार की तुलिका के समान तेरा ही व्यान करती है ।

प्रास से जाये हुए प्रियतम का स्वागत करती

हुँ नायिका का वर्णन करता हुआ वमरुकशतकार कहता है -

“ वीर्षा वन्दनमात्मिका विरचिता दृष्ट्येव नैन्दीषरः ।
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचिता नौ कुन्दजात्यादिभिः ॥
वत्तः स्वेदमुखा पयोधरेणार्धा न कुम्भाम्भसा
स्वैवावयवैः प्रियस्य विरतस्तन्व्या कूर्तं मंगलम् ॥ ” १

उसने नीलकमली से नहीं बल्कि दृष्टि से ही वन्दनवार की माला बना ली, कुन्द, जाति आदि पुष्पों को छोड़कर मुस्कान से ही पुष्पों को बिखेर दिया, घट जल का परित्याग कर पत्थरों की झूलें गिराने वाले स्तनों से ऊँच जल दिया, इस प्रकार उस कुशांगी ने प्रिय के जाने पर अपने ऊँचों से ही मंगल-चार किया ।

इसी प्रसंग में वार्या की नायिका की वृत्ति-

“ वावर्तीरातपेणशोभां डिण्डीरपाण्डुरेध्वती ।
गायति मुखरितसन्मिता प्रियसंगममंगलं सुरसा ॥ ” २

फेनों से श्वेत जल-मोहरों से तपेण शोभा का सम्पादन करती हुँ, जल की मुखरित कर परमानुरागवती, प्रिय संगम के लिए मंगल गीत गा रही है ।

कामदेव की स्तुति करता हुआ शृंगारशतकार कहता है -

“ शम्भुस्वयम्भुहरयी हरिणीजाणानां
येनाक्रियन्त सततं गुह्यकुम्भदासाः ।

वाचामगौचर चरित्र विचित्रिताय

तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय ॥ १

जिसने शिव, ब्रह्मा और विष्णु को मृगयनियों के गृह कार्यों में निरन्तर दास बनाये रखा, जिसके वर्णन में वाणी असमर्थ है ऐसे चरित्रों से विचित्र माहूम पड़ने वाले उस भगवान् मकरध्वज के लिए प्रणाम ।

वायार्कार ने ग्रन्थारम्भब्रज्या में यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया है -

‘यामितुङ्गः साङ्गीकृतः स्त्रियौऽस्त्रीकृताश्च ता येन ।

वाभाचरणप्रवर्णां प्रणमत कामिनिकामौ ॥’ २

जिन्होंने (कामिनियों ने) जंग (कामदेव) को दाग बना दिया और जिसने उनको उत्त्र बनाया, समीचीन जगत् विपरीत जाचरण में तत्पर, इन दोनों कामिनी और काम की प्रणाम करी ।

शृंगारस्तक में शिशिर- ऋ के पवन की समता नायक से इस प्रकार की गयी है :

‘केलानाकृत्यन् दृशी मुहुष्यन् वसी वगदाप्तिप-

न्नातन्वन् पुष्कोद्गमं प्रकटयन्नावैगम्य शनैः ।

वा रिवारमुदारसीत्कृतकृती वन्तच्छब्दान् पीडयन्

प्रायः शिशिर एव सम्प्रति मरुत् कान्तासु कान्तायते ॥३

१- भर्तृहरि- शृंगारस्तक - २

२- वायार्सप्तशती ग्रन्थारम्भब्रज्या - २६

३- भर्तृहरि- शृंगारस्तक - १००

केशों को व्याकुल करता हुआ, दृष्टि को निमित्त करता हुआ, वस्त्र को वेग से उठाता हुआ, रोमांच उत्पन्न करता हुआ, शरीर के अंगों में धीरे-धीरे कम्प उत्पन्न करता हुआ, वानन्दकारी सीत्कार उत्पन्न करता हुआ, दन्तघात से बार बार पीड़ित करता हुआ इस समय यह शिशिर फन सुन्दरियों के साथ प्रायः कान्त के समान व्यवहार करता है।

वायों की नायिका के साथ ग्रीष्मकाल ऐसा ही व्यवहार करता है-

“स्पर्शादेव स्वेदं जनयति न च मे ददाति निद्रातुम् ।

प्रिय क्व जघ्नाश्लुमपि न निदाघः क्षणमपि क्षमते ॥” १

ग्रीष्मकाल प्रिय के समान स्पर्शमात्र से स्वेद उत्पन्न करता है, और मुझे नींद नहीं देता, जघन धम्बन्धित वस्त्र को भी क्षणमर भी नहीं सह पाता ।

वैद्याजी के अधिपत वानरण को निन्दा करते हुए मर्वुहरि कहते हैं -

“जन्मन्ति सार्धमन्ते पश्यन्त्यन्यं सतिव्रताः ।

हृदयं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम शोचिताम् ॥ २

बूझने के साथ बातचीत करती है, विद्यासंपूर्ण वैद्याजी से अन्य को देखती हैं तथा हृदयगत किसी अन्य का चिन्तन करती हुई स्त्रियों का कौन प्यारा है ?

वायुकार ने इसी प्रसंग में ऐसी ही उक्ति कही है -

१- वायसिप्तशती - ६२४

२- शृंगाररत्नक - ५०

“ वणि निहितं विनिहितमिव सुप्तं स्वप्नेषु वार्षामदुः ।

उपदर्शयन्ति हृदयं दर्पणबिम्बेषु वदनमिव ॥ ” १

देखाई निर्मल अन्तःकरण वाले हृदयों में न सीपि गये हृदय की उसी प्रकार सीपा हुआ सा दिखाती है जिस प्रकार दर्पण में मूल वास्तव में नहीं रहता, केवल निहित या दिसाई देता है ।

अर्थात् गुण के व्यक्ताकार की प्रतीति करता हुआ नीतिशतकार कहता है -

“ यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीन

स पण्डितः स क्षुत्वान् गुणजः ।

स एव वज्रता स च दर्शनीयः

सर्वे गुणाः कश्चिमाश्रयन्ते ॥ ” २

जिसके पास धन है, वह मनुष्य कुलीन है, वह पण्डित है, वह शास्त्रों का ज्ञाता है, गुणों की जानने वाला है, वही वज्रता है और वही दर्शनीय है, (ये) सभी गुण होने का आश्रय लेते हैं ।

इसी भाव की व्याख्याकार ने उस प्रकार किया है -

“ तन्मयीः शिष्यायति गुणानमुन्मुह्यन्ति विद्मयति ।

गुणां भवति क्षुत्तस्तुष्टाह चिरात्तये वः ॥ ” ३

१- वायसिपुत्राजी - ५६

२- मर्तुहरि, नीतिशतक - ४१

३- वायसिपुत्राजी - ५०५

श्रीगुणों को सिसाती है, वास्त्रिय गुणों को दूर करता है। पूर्ण चन्द्र सुवर्तुलाकार होता है और कला के विनाश से कुटल हो जाता है ।

नीतिशतक में धन की गतियों की गणना इस प्रकार की गयी है -

‘ दानं भोगी नाशः तिष्ठो गतयो भवन्ति विस्तस्य ।

यो न ददाति न मुहुर्भुजे तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १

धन की तीन गतियाँ होती हैं- दान, भोग और नाश , जो न दान देता है न भोगता है उसके धन की तीसरी गति होती है।

इसी भाव की व्याख्याकार ने यों पल्लवित किया है -

‘ भोगाक्षमस्य रत्नां दृष्ट्यान्नेर्णव कृष्वतीऽनभिमुत्तस्य ।

वृद्धस्य प्रमदापि धीरपि मृत्यस्य भोगाय ॥ २

स्वयं उपयोग करने में असमर्थ रहता है, दृष्टिमात्र से ही रत्ना करता है, (पत्नी और यात्रक की और) मुँह उठाकर न देखो जाने वृद्ध की प्रमदा और चम्पी भी मृत्य के भोग के लिए होती है।

विशेष से ध्रष्ट हुए व्यक्तियों का फल देकर भर्तृहरि कहते हैं -

‘ शिरः शर्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधर

१- भर्तृहरि - नीतिशतक - ४३

२- व्याख्यानशती - ४१८

महीध्रादुत्तुमादव निमनेऽ वापि जग्धिम्
बधोऽधो गीर्यं फमुफता स्तौकमयवा

विवेकप्रष्टानां भवति विनिघातः शतमुखः ॥ १

इस गंगा ने स्वर्ग से शिव कर सिर पर, सिर से फंश पर, ऊँचे फंश से पृथ्वी पर और पृथ्वी से समुद्र में, इस प्रकार नीचे नीचे छोटे स्थान को प्राप्त किया क्योंकि विवेक से प्रष्ट हुए पुरुषों का छेड़ों प्रकार से फास होता है ।

गोधर्शन ने इसी भाव के अनुरूप रचना प्रस्तुत की है -

विनिहितकपर्शकोटिं काफलोधीष्ण शिरं त्यक्त्वा ।
वटमेकमनुसरन्ती जाह्नवि नृठसि प्रयागजटे ॥ २

हे जह्नुतनये । जटाजूट को समर्पित करने वाले शिर को त्यागकर अपने बाँधव्य वीष्ण से तुम एक वट वृद्धा की अपेक्षा करती प्रयाग के तट पर लोटती हो ।

पानिनी की रतिमानता का स्मरण करता हुआ कोई विरही वीरप्रेमाशिका न करता है -

“ वपापि कोप विमुखी कृतमन्तु कामा
नोक्तं वचः प्रतिददाति यैव वक्त्रम् ।
सुम्बामि रोदिति मूर्धं पतितोऽस्मि पादे
दासस्तव प्रियत्वे मयमां स्मरामि ॥ ३

१- नीतिशतक - १०

२- वार्यावपशती - ५४२

३- विश्वरूप- वीरप्रेमाशिका - ३६

शोध से विमुक्त जाने के लिए उक्त, मेरे वक्ता का उत्तर न देने पर जैसे ही मैं उसके मुँह को छूँता हूँ, तो वह अधीर होकर अत्यधिक रोती है, और मैं उसके चरणों में पड़ा हुआ है प्रियतामे । मैं तुम्हारा सेवक हूँ , मुझे अपना जी, यह कहता हुआ आज भी उसका स्मरण करता हूँ ।

इसी भाव पर बाधुत वार्या लीजिए-

“ वाशा का कुर्याच्छासीपी हसितं च शुक्ल-दितं च ।

इति निधुनपाण्डित्यं व्यायस्तस्या न वृष्यामि ॥ ” १

(अपने मनोमुक्त कार्य के लिए) वाशा देना, वक्ता वक्ता बोझा, (वक्ता पदार्थ के लिए) याचना करना , (किसी काम में) मुझे दोषी ठहराना (वानन्व से) हँसना और कुरक्षित रूपन करना, उसके इस प्रकार के सुख - पाण्डित्य का व्यायन करता हुआ मैं वृष्ट नहीं होता हूँ ।

और पैनाशिका में प्रेमिका की यौवन-स्मृतियों में हुआ नायक अपने मित्र से कहता है :

“ कथापि तां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षी

पीयूषापूर्णकुक्षिपुण्यं कान्तीम् ।

पश्याम्यहं यदि पुनर्विलसावसाने

स्वर्गपग्निरराज्यसुहं त्यजामि ॥ २

आज भी यदि मैं दिन बूझने पर उस प्रेमिका की जिसके नेत्र मृगशावक के समान हैं तथा जो अमृतपूर्ण कुक्षिलक्षों की धारण करती है, यदि मैं देख

१- वार्यासप्तशती - ७६

२- बिम्बण , और पैनाशिका - २३

पाऊं तो स्वर्ग, मोक्ष और मनुष्य लोकों राज्य- सुख को भी जीह सकता हूँ ।

आर्यों के विरही नायक ने भी यही उक्ति यों कही है -

‘ वसन्ती कृन्वा धारा प्रीढा प्रतिवेशिनी यदासवितम् ।

कुरुते सरसा च यदा ब्रह्मानन्दं तृणं मन्ये ॥ १

वसन्ती , सदैवीयमवा, धैर्यशालिनी, प्रीढा पड़ीसि जब सरस झीड़ावी से वासवित प्रदर्शित करती है, तब मैं ब्रह्मानन्द को भी तृणवत् मानता हूँ ।

ये उदाहरण दिग्दर्शन मात्र हैं। वस्तुतः

कोकानेक पूर्ववर्ती श्रेष्ठ कवियों के सिद्ध इस काव्य से प्रभावित हुए बिना कोई उत्तरवर्ती कवि रह नहीं सकता । गोवर्धनाचार्य भी इसका अपवाद नहीं थे । किन्तु भाव- लाया ग्रहण करने वाला कवि यदि अपनी प्रसंग कल्पना और अभिव्यक्ति नेपुण्य से उसमें निजी वैशिष्ट्य की छाप लगा देता है, तो वह प्रतिकृति के बासीपा से मुक्त होकर न केवल आकर्षक ही बल्कि स्फुरणीय भी हो उठता है। कवि की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त उदा- हरण गोवर्धनाचार्य का तद्विध कला विशेषता के प्रत्यक्ष परिचायक हैं।

प्रदान

गोवर्धनाचार्य एक प्रतिभाशाली कवि तो थे ही वही पूर्ववर्ती कवियों का ऋण भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते थे। उन्होंने स्वयं ही कहा है कि "मेरे प्राकृत भाषा में लिखित भाषों की संस्कृत भाषा में परिणत कहे वार्यासप्तशती की रचना की।" इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत साहित्य ने संस्कृत काव्य-धारा की एक नयी दिशा प्रदान की। जिस प्रकार गाथासप्तशती से लगभग एक हजार वर्ष बाद गोवर्धनाचार्य ने वार्यासप्तशती की रचना की उसी प्रकार उससे कई शताब्दी बाद परमेश्वर पण्डित ने उसे आदर्श बनाकर अपनी वार्यासप्तशती की रचना की जो विषय, शैली, रूपविधान आदि की दृष्टि से गोवर्धनाचार्य की कृति के ही समान है। सप्तशती के रूप में वार्यासप्तशती की भी रचना हुई लेकिन उसका विषय और वस्तु संरचना वार्यासप्तशती से सर्वथा भिन्न है।

वार्यासप्तशती से संस्कृत साहित्य इतना प्रभावित नहीं हो सका जितना कि हिन्दी साहित्य प्रभावित हुआ। हिन्दी साहित्य की सप्तशतियों की रचना प्रायः वार्यासप्तशती के आधार पर हुई क्योंकि उनके आकार प्रकार, गठन, वर्ण-विषय, भाव, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से वार्यासप्तशती से पर्याप्त समानता रहती है। इससे सिद्ध होता है कि वार्यासप्तशती संस्कृत और हिन्दी साहित्य की सप्तशतियों की रचना के लिए एक आदर्श भी बनी। इस कथन की पुष्टि के लिए परवर्ती सप्तशतियों में वार्यासप्तशती की भावछाया के लोक उदाहरण लीये जा सकते हैं।

अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से प्रिय की आकृष्ट करने वाली नायिका से उसकी सती कहती है -

१- बाणीप्राकृत समुचितरसा कगदेव संस्कृत नीता ।।

- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - ग्रन्थारम्भप्रणया - ५२

“ क्लमनलं तिष्ठन्ने भूषणमुपहासविषयमितरासाम् ।

कुरुणी वनस्पतिलता प्रसूनमिव वन्द्यवल्लीनाम् ॥ १

हे सौभाग्यशालिनि । तुम बिना क्लेशों के ही एक कल्प स्त्रियों के भूषण की वैसे ही उपहासार्थक बना रही हो जैसे वन्द्यवल्लीनाम् के विफल प्रसून की वनस्पतिलता उपहासार्थक बनाती है।

पार्वती वार्या की सुन्दरी से भी उसकी सही ने यही बात इस प्रकार कही है -

“ शुद्धमपि भाति मिथुया भवदीय विपत्तयावर्त बान्ने ।

भासि पुरात्मभूता मल्लिसापि त्वमवदाता ॥ ” २

हे बान्ने । तुम्हारी सब विरोधी स्त्रियों का समूह संस्कार शुद्ध होने पर भी मिथुया (मल्लि) है, और तू यद्यपि कम्पे वादि न बहने के कारण मल्लि है किन्तु प्रिय के साथ तेरा तादात्म्य होने से तू ही वास्तविक शोभा संपन्न है।

प्रिय के हलाने पर अभूषण वादि पश्चिनी हुई सुन्दरी से उसकी सही कहती है-

“ न विभूषणी त्वास्या वपुर्गुणीनेव जयसि सति हूनः ।

अधीरितास्त्रस्तस्त्रा कृष्मेणीर्मल्लविषेव ॥ ” ३

हे सति । विशिष्ट भूषण में तेरी आसक्ति उचित नहीं, तू तो वस्त्र-शस्त्र

१- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - ४०

२- विश्वेश्वर- वार्यासप्तशत्याम् ७३७

३- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - १४३

की तिरस्कृत करनेवाली कामदेव की मल्लविषा-सी, अपने शरीर के कान्ति
वादि गुणों से युक्तों की स्वाधीन कर लेती है।

परबती वार्या में यही उक्ति इस प्रकार फल-
वित हुई है :

“ कैवल्यमेव परमप्रमोदजनं न तु प्रपेवोऽपि ।

इति परमार्थविदा धीः सुतनु । प्रियमेहि शुद्धम् ॥ ” १

जिस प्रकार यह ससार (प्रपेव) आनन्ददायक नहीं अपितु कैवल्य (मोक्ष)
ही अत्यधिक आनन्दस्वरूप है, यह परमार्थवादियों का सिद्धान्त है। हे सुन्दरि ।
तू उसी प्रकार गहने, वंगराग आदि के बिना ही केवल रूप में, अपने प्रिय भूषण
आदि के बिना ही शुद्ध रूप में प्राप्त कर ।

पीसले पर पानी फिाती हुई नायिका के
उरीजों के पीसले से केवल पथियों की देखकर उसे सम्भारते हुए गोवर्धनाचार्य
कहते हैं :

“ अयिदिनावधिजीवाः प्रसीद जीवन्तु पथिकवनजायाः ।

दुर्लभयस्त्वमशैली स्तनौ पथिहि प्रपापालि ॥ ” २

हे प्रपापालि ! तू कृपा कर, बीच राह में ऊँचे हलहलं दुर्लभय फलित
रूप स्तनों की दृक से, जिससे लौटने की निश्चित कथि तक जीवित रहने
वाली पथियों की पत्नियाँ भी सकें ।

१- विश्वेश्वर- वार्यासप्तशत्याम् - ३५४

२- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - १

पृथ्वी वायुकार ने यही भाव इस रूप में
वर्णित है -

उद्वृत्तसत्त्वप्रभुणस्त्वैवतया पश्यतः प्रपापानीम् ।
पानीयशालिका यित्तमपि तनुत्तयाऽध्वनीनस्य ॥ १

प्रपापानी की वेलों से पृथ्वी के शरीर में सत्त्व गुणों के उद्वृत्त के कारण
जो पृथ्वी वायु उद्वृत्त पृथ्वी के शरीर में ही पानी पानी की शाला
बन गयी ।

वैवाहिक अवसर पर उपस्थित उपपत्ति की
वैवाहिक नायिका की कृष्टि का वर्णन करते हुए गोवर्धनाचार्य कहते हैं :

“ वारीप्ति शिवायामश्मि त्वं स्थिरेति मन्त्रेण ।
मग्नापि परिणयापदि जास्मै वीक्ष्य धरिष्व ॥ ” २

“ पत्थर की भाँति तुम स्थिर रहो, इस मन्त्र के उद्वृत्त शिवा पर वफा चरण
रक्ता और विवाह रूपी आपत्ति में मग्न होने पर भी उपपत्ति के मुह की
वैवाहिक वंदना ही पड़ी ।

इसी प्रसंग में नायिका की ऐसी ही कृष्टि
का वर्णन पृथ्वी वायु में इस प्रकार होता है -

“ पा पापापान्तरणीने परिणयसमये विधातुमारब्धे ।
प्रतिबुधमस्यतो वाप्यहर्षीषटन पीन रूक्तेन ॥ ” ३

१- विश्वेश्वर - वायुसप्तशत्याम् - २२१

२- गोवर्धनाचार्य - वायुसप्तशतो - ८१

३- विश्वेश्वर - वायुसप्तशत्याम् - ६०५

विवाह के समय , फरार से चरण स्पर्श करते समय (नायिका ने) दूसरे युवक की ओर (देखकर) मुस्करा दिया , क्योंकि एक तो उसे अयोग्य घर को दिया जाना और दूसरे वति सुकुमार अपने चरण का कठोर फरार से स्पर्श- ये दो अयोग्य घटनाएँ घटित होनी दोष रही थीं।

गोवर्धन की नायिका प्रिय की उपयुक्त सँत स्थल से परिचित कराती हुई कहती है -

“ स्मरसमयपुरितकम्बुनिमी दिगुष्णपीनगन्धनालः ।

शीर्णप्रासादीपरि विनीचुरिव कलसः ववणति ॥ ” १

मदन युद्ध के समय मरे हुए शीश के समूह , होने कण्ठमाल वाला कपोत , जय का हल्ला- सा , अर्जर प्रासाद के ऊपर मधुर ध्वनि कर रहा है।

परवर्ती वार्या की नायिका ऐसा ही भाव प्रकट करती हुई अपनी ससो से कहती है -

“ हृताजन्तुभिषीण प्रेक्षास्व विशोर्णसंव्यात्रस्य ।

जम्बदात्रयस्य धमनीजात्राः प्रादुर्भवन्ति ससि ॥ ” २

हे ससि । देख तो लड़ी, इस पुराने मरान में खड़ी के जाल के बहाने जारी तरफ किसी जीर्ण- शीर्ण बूढ़े व्यक्ति के शरीर में धमनियों का जाल (उमरी हुई नसों का समूह) प्रकट हो रहा है।

सुरत नायिका की चेष्टा का वर्णन करता हुआ

१- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - ५६७

२- फाँतीय श्री विश्वेश्वर- वार्यासप्तशत्याम् - ७०८

पूर्ववर्ती वार्याकार कहता है :

“ उद्दिश्य निःसरन्ती सखीमयी कपटभीकृटिभूः ।
स्वमवतंसमाप्तिफलास्तवीपी यथा प्राप्ति ॥ ” १

निकलती हुई सखी को लक्ष्मण , मिय्या कोप से कुटिल मीठ वाली हसने
कर्ण भूषण जैसे ही फेंका वीक बुक कर गिर पड़ा ।

पार्वती वार्या की रत्नसुख नायिका ने यही
चेष्टा इस प्रकार व्यक्त की है -

“ विद्वीप री प्रीपि कुवन्त्यकणवित्तसमेणापि ।
त तदन्तरात्मनि फान्तनीमुनी विहित स्व रेपे ॥ ” २

कुवन्त्य के बने हुए कर्ण- भूषण को मृगयत्री ने वीक के ऊपर फेंका ,
वह (नायक के) हृदय पर गिरा हुआ सुन्दर कामदेव के बाण के समान
रुधी भित हुआ ।

मदन- जीहित हीन सम्पत्ती का सुरत- स्मरण
कताते हुए गोवर्धनाचार्य कहते हैं :

“ कौण्ड वीर्यति परं सैन्ययुतोर्मोभवप्रारः ।
न पुनरन्तर्गमित निधिनि धरामण्डले कैचिः ॥ ” ३

सैन्य- दम्पती का मदन- प्रसार केवल जूनी में समाप्त हो जाता है परन्तु

१- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - १२५

२- मांसीय श्री विश्वेश्वर- वार्यासप्तशत्याम् - ४२७

३- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - ७

जहाँ पूज्य के पीतिर निधि नहीं है, उस स्थान पर वे सुरत-झिड़ा नहीं करते ।

विश्वेश्वर ने इसी भाव का समर्थन इस प्रकार किया है :

“ लंजनयुगमिव भुवने रसरक्षितं न प्रपश्यामः ।
तिर्यति यद्वतिमेव हि शैवधिगर्भस्थलालामे ॥ ” १

लंजन के जोड़े के समान प्रेम रक्षित हमें ससार में कहीं नहीं दिखाई पड़ता ।
वत्यधिक निधि स्थल के प्राप्त न होने पर जिसकी रति ही समाप्त हो जाती है ।

गीवर्धनाचार्य ने विष्णु तथा लक्ष्मी के विपरीत - सुरत की अभिव्यक्ति विविधा द्वारा की है :

“ प्रतिविम्बितप्रियातनुः कौस्तुभं जयति मधुमिदो वदः ।
सुरुणा यितमम्यत्यति लक्ष्मीर्गन्दीप्य मुहुरपि ॥ ” २

विष्णु भगवान् के कौस्तुभ-मण्डित वद की, जिसे दर्पण के समान वैस्तो हर्ष लक्ष्मी विपरीत-रति का अभ्यास करती है और जिसमें उसका (लक्ष्मी का) शरीर प्रतिविम्बित है, जय हो ।

विश्वेश्वर ने इसी भावकी व्यंजना में इस प्रकार कहा है :

“ जयति हृदये मधुमिदः कौस्तुभमणिरविरतं जग्नः ।
योनिद्वये मग्नं दक्षिणाम्नि धूम्रैश्चक्षुः ॥ ” ३

१- विश्वेश्वर- वार्यासप्तशतिका - ३८१

२- गीवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती- ब्रह्मारम्भब्रज्या - १२

महामुद्रन के हृदय पर निरन्तर संकृत (लगी हुई) कीस्तुम मणि ऐसी सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होती है जैसे शिव का (सूर्य- रूप) वाम नेत्र कंटिनी के शरीर पर संलग्न हो ।

प्रिय की प्रसन्नता के लिए सप्तनी का भी सम्मान करने वाली नायिका का उदाहरण देते हृद्गोवर्धनाचार्य कहते हैं -

“ पर्य प्रियतनुविष्टनमयेन शशिमीलितसंलग्ना ।
सुमनोदयवतमुमा शिरसा भागिरथी वदति ॥ ” १

देखो ! शिव के शरीर में संलग्न पार्यती, प्रिय के शरीर से विलुप्त होने के भय से, प्रिय की देवतामात्र गंगा की छिर पर बहल करती है।

एही भाव की विश्वेश्वर ने गङ्गानिता का रूप देकर इस प्रकार व्यक्त किया है :

“ कथन्तापविद्यापि हि त्वादरी भगति न त्याज्यः ।
सुरोडयसुरो वा किमन्यथा सिद्धयति प्रणयः ॥ ” २

जिस प्रकार ज्ञान प्रपन्न के बिना सुख और दुःखरूप दुःख प्राप्त नहीं होता । उसी प्रकार सातों का जयमान करने वाली नायिका कहती है कि ऊँचे पर्वों पर जाह्नव हुए त्यों का संसार में आदर नहीं छोड़ना चाहिए ।

हिन्दी सतसहस्रों में रूप- वर्णन के अन्तर्गत कतिपय वार्यावों की भावच्छाया संगृहीत की गयी है। जानगो प्रस्तुत है ।

१- गोवर्धनाचार्य- आर्यासप्तशती - ३६६

२- विश्वेश्वर - आर्यासप्तशत्याम् - ८३

है सुन्दर । जब तू रास्ते पर चलता है, तो दीवार के छिद्र से निकली उसकी दृष्टि , थोड़ी सी चंचल, शैवाल जाल की भेदकर बाहर उछलती मछली के समान शोभित हो रही है।

विहारी ने यही भाव इस प्रकार प्रकट किया है :

‘ देखत कहू कीतिगु हतै, देखी नैकु निहारि ।

कब की झटक डटी रही टटिया वंगुरि फारि ॥ ’ १

वार्या के समान इस दोहे में सफरी की अप्रस्तुत योजना नहीं की गयी है, फिर भी इसमें स्वभाविक उचित का सम्यक्कार विद्यमान है ।

एही प्रसंग में बिहारी का एक अन्य दोहा और नीचे -

‘ समनभात पुन्दर नका, विन घूँघट पट फीन ।

मानहु सरसरिता विनन, जल उदरत जग मीन ॥ ’ २

केश- परिष्कार में लगी नायिका के शीतलता का वर्णन करता हुआ वार्याकार कहता है :

‘ किहुरविधारणतिर्यङ्गजलकण्ठी विमुखुत्तिरपि बाला ।

त्वाभियमद्रुत्किर्त्तिप्रकृतावकाशा विनीकयति ॥ ’ ३

केशों का परिष्करण करने से शिरश कण्ठ नीचे झुका है, ऐसी प्रतिकूल

१- बिहारी सतसई- ६३४

२- , - ५७६

३- वार्यासप्तशती - २३१

परिस्थिति में भी बाला कंग्रियाँ से बालों के बीच स्थान बनाकर तुम्हें देखती है ।

इसी भाव पर बाधूत बिहारी का दोहा
देसिए-

“ कंज नयनि मज्जु किये बेठी व्यौरति बार ।
कच कंगूरी बिन पीठि पै नितवत नंद कुमार ॥ ” १

सपत्नी पर नायिका के बढ़ते हुए जीवन की प्रतिक्रिया का वर्णन आर्याकार ने इस प्रकार किया है :

वतिवत्सला सुशीला सेवाचतुरा मनोऽनुकूला च ।
अजनि विनीता गृहिणी सपदि सपत्नीस्तनोद्मेधे ॥ ” २

सपत्नी के स्तरों का प्राहुभाव होते ही, उसी समय गृहिणी (पति के प्रति) अत्यन्त स्नेहवती, सुशील, सेवानिपुण, मनोऽनुकूल और नम्र हो गयी ।

इसी भाव की बिहारी ने इस रूप में बसाया
है :

“ देख सुन्दरिया की बड़े जगै जगै जीवन जीति ।
त्यों त्यों ननि सौत्यें सबे बदन मल्लि सुति होति ॥ ” ३

इसी भाव पर बिहारी का एक अन्य दोहा और नीजिए-

१- बिहारी सतसह- ६०

२- गौवर्धनानार्य - आर्यासप्तशती - २

३- बिहारी सतसह - ४०

‘ निरसि नवीढा नारि कुवति चरिफाई लेस ।
मौ प्यारी पीतसु तियनु मनहु बल्ल पदसु ॥ ’ १

और मतिराम कहते हैं -

‘ ज्यों ज्यों ऊँचे होत हैं उरज बाल के सेन ।
सब सौतिनि के होत हैं, त्यों त्यों नीचे नैन ॥ ’ २

नदी में स्नान करते हुए नायक-नायिका की पारस्परिक आसक्ति का वर्णन करता हुआ आर्याकार कहता है :

‘ कन्योन्यमनु प्रीतमन्यवधान्यत्तटात्तटं भजतीः ।
उदितेऽर्केऽपि न मापस्नानं प्रसमाप्यते हृत्तः ॥ ३

एक छट से दूसरा तट प्रपन्न जब प्रातः वे कुचर हैं, उस प्रकार दोनों तटों का परस्पर रैवन करते हुए उनके और सुखों का माप स्नान पूर्वाधिक होने पर भी समाप्त नहीं होने ली जाता ।

बिहारी जतन में बच करते हुए नायक-नायिका की परस्पर देवा देही में वही मातः उस प्रकार प्रसन्न हुआ है -

‘ चितवत जितवत हिय हिये किये तिरछि नैन ।
मंजि तन दीऊ कैं नयों हूँ निबरी न ॥ ’ ४

जिस प्रकार आर्या में स्नान समाप्त नहीं होने की बात कहो गयी है उसी

१- बिहारी सतसई - २६६

२- मतिराम सतसई - ११५

३- गोवर्धनाचार्य-आर्यासप्तशती - २६

४- बिहारी सतसई - ५१७

प्रकार दोहा में जप समाप्त न होने की बात कही गयी है। स्नान-काल की अपेक्षा जप काल में एक घुसरे की देता देती का अधिक ज़रूर रहता है।

जब विक्रमसाहि का यह दोहा लीजिए-

“ न्हात सरीबर सतिन्ह सँग दिहँस बैस बर बाम ।
जीरि जुगल कर मित्र मिस मित्रहि करत प्रीति ॥ ” १

वार्तासप्तशती में नायक के प्रति नायिका के प्रेम का वर्णन करते हुए दूसरी व्यंग्य भरी उक्ति कहती है :

“ निस्तार्थलीपनायास्तर्ष तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम् ।
न सुमग समुत्तिमीवृक्षमगुल्बिदाने मुञ्च गिलसि ॥ ” २

हे सुमग । उसने तुफ़ पर कटाक्षपात किया था, तूने तो उसके हृदय तक की हर ज़िया , यह उक्ति नहीं कि ज़ुल्मी फ़हाने पर मुजा फ़हते हो ।

बिहारी की नायिका ने यही बात यों कही है :

“ तूवै शिमुनी पहँनी गिलत अतिदीनता दिसाह ।
बालि बावन की व्योसु सुनि की बलि तुम्हें फ़याह ॥ ” ३

नायक के प्रति नायिका के क्रुराग का वर्णन करता हुआ वार्ताकार कहता है -

१- विक्रमसप्तशती - ४७२

२- नीवर्धनाचार्य- वार्तासप्तशती - ३३६

३- बिहारी सप्तशती - २२५

‘ भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रेव ।
वायवर्तपक्षितनीका यित्तमया विनयमपनीय ॥ ’ १

तेरे स्नेह रूप जल में घूम घूमकर स्थित (यह नायिका) नम्रता की त्यागकर जलमें घूम घूमकर अन्यत्र गमन त्यागने वाली पंख में फड़ी नीका के समान वायव-
रण करती है।

बिहारी की नायिका ने यही भाव अपनी सखी से इस प्रकार प्रकट किया है :

‘ फिरि फिरि कितु उतही रहतु टूटी लाज की लाव ।
वै- वै - हवि फरीर में मयी पौर की नाव ॥ ’ २

वार्या की नायिका नायक विनयक अपने प्रेम का वर्णन करती हुई सखी से कहती है -

‘ निश्चिन्ता निश्चितानुष्कृति नियतं मम पार्थिवानपि प्रेम ।
भ्रामं भ्रामं दिष्टति जलैव कुलाब्जक पिय ॥ ’ ३

मेरा निश्च प्रेम प्रेमाब्ज मृपतियों की भी ऊपर निश्चित घटादि की त्यागने वाले बाक के समान घूम घूम उसी (प्रिय) में ठहरता है।

बिहारी की नायिका के ऐसे ही भाव की अभिव्यक्ति कराती हुई उसकी सखी उससे कहती है :

‘ सब ही ज्यों समुहाति किनु, बलति सवनु वै पीठि ।
बाहो त्यों ठहरानि यह, कविम्वी लीं दीठि ॥ ’ ४

१- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - ४२४

२- बिहारी स्तवसहं - २८१

३- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - ३१८

४- बिहारी स्तवसहं - ५६

प्रिय के पास होने से (सात्त्विक भाव से) पत्नी से व्यवय नायिका का उबटन सुताने के लिए- नायक से अन्यत्र गमन की प्रार्थना करती हुई कोई सती वार्या में कहती है :

‘ सुमग व्यञ्जनविचात्मनि शिथिलमुजाम्बुदियं वयस्यापि ।
उद्वर्तनं न सत्याः समाप्यते किं विदयगच्छ ॥ ’ १

हे सुमग । यह सती भी तीव्रगति से पैदा फलते - फलते फल गयी और सती का उबटन नहीं बूल पा रहा है, अतः कुछ दूर चले जाओ ।

बिहारी ने इसी भाव का समर्थन इस प्रकार किया है :

‘ नैकु उते उठि बैठिये कहा रहे गरि गेहू ।
हुटी बात यह की किन्हु मेहवी सुकनु देहू ॥ ’ २

वार्या की नायिका बैठ की मरी दुपहरी में प्रिय- एंग की साक्षी हुई अपनी सती से कहती है :

‘ सति मय्याहूनदिगुणसुमणिकल्लेणीपीडिता ह्याया ।
मज्जतुमिवाल्वात्रे परितस्तस्मैमूलमाश्रयति ॥ ’ ३

हे सति । दोफर में सूर्य की किरणें दूनी तीव्र हो गयी हैं, उनसे पीड़ित ह्याया मानों जल- बाल में मग्न होने के लिए चारों ओर से घुसा मूल का आश्रय ले रही है।

१- गीवर्धनाचार्य- वार्यासिंहावली - ६६०

२- बिहारी सप्तसहं - ३७५

३- गीवर्धनाचार्य- वार्यासिंहावली - ५६४

हसी भाव की कुरूप बिहारी का दोहा लीजिए-

‘ बैठि रही बति सधन कन पैठि सदनसन माहि ।
बैसि हूपहरी बैठ की हाँही चाहति छाहि ॥ १ ’

प्रिय के वीसने पर नायिका की बैसटा पर किसी धूर्त की हरकत का वर्णन करता हुआ वायकिर कहता है :

‘ कृष्टमकृष्टप्रायं वपितं कृत्वा प्रकाशितस्तनया ।
हृदयं करेण ताडितमथ मिय्या व्यक्तित्वपया ॥ ’ २

(नायिका ने) प्रिय की देखकर भी जनदेला सा कर स्तनों को प्रकाशित किया , इसके बाद (मैं) मिय्या लज्जा व्यक्त कर हाथ से हाँसी पीटी ।

हसी भाव की बिहारी ने इस रूप में खेपारा है :

‘ देख्यो जनदेख्यो कियो वंगु सबै दिसाई ।
पैठति सी तन में सकृचि कंठी चित्त लगाइ ॥ ’ ३

उपसृत पदों में वार्या में हाथ से हृदय की ताडित करने की बात कही गयी है, किन्तु बिहारी ने पैठति सी तन में सकृचि कर लिया है। यह भाव वार्या की अपेक्षा अधिक सुन्दर है और नायिका के लज्जा भाव की अधिक व्यक्त करता है।

१- बिहारी सतसहस्र- ५२

२- गीवर्धनाचार्य - वायसिप्तशती - २८८

३- बिहारी सतसहस्र - ६१८

जायासप्तशती में किसी रावस्था नायिका के साथ रमण करते हुए नायक को उसकी अन्य प्रेमिका कन्योवित द्वारा समझाती हुई कहती है :

“ पितृ मधुप बहुलं लिकीं दूरेरसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥ ” १

हे मधुप । दूर से बिड़वाग्र भाग मात्र रत्नकर बहुत कली का रसपान करो ।
अधर संक में ही समाप्त हो जाने योग्य मकरन्द पर व्यर्थ मुँह पत लगानो ।

बिहारि ने यही भाव इन शब्दों में व्यथा
है :

“ नहि परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकासु इति काल ।
कली कली ही सौं बध्याँ जागे कौन हवाल ॥ ” २

सपत्नियों पर नायिका के सुख की प्रतिक्रिया का वर्णन कायकार ने इस प्रकार किया है :

“ कृन्तिसकविभूषां प्रातर्बाला विलीन्य मुदितं प्राक् ।
प्रियशिरसि वीक्ष्य यावदमय निःशसितं सपत्नोमिः ॥ ” ३

प्रातः बाला के समस्त आभूषणों को वस्त्र व्यस्त न देखकर सपत्नियाँ पहिले
ही प्रसन्न हुई किन्तु बाद में प्रिय के वस्त्र पर मशगूर देखकर दुःखी हुई ।

१- गीवर्धनाचार्य- जायासप्तशती - ३६७

२- बिहारि सतसई- ६३०

३- गीवर्धनाचार्य- जायासप्तशती - १८

इसी भाव की बिहारी ने यों पल्लवित किया

है :

“विधुरयी जायकु सौति पा निरसि हँसी गहि गसु ।
सख हँसी ही लसि लियौ बाधी हँसी उसासु ॥” १

यहाँपर बाधी हँसी में गहरी आस के द्वारा भावशान्ति और भागीदर की सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की गयी है ।

दो वार्याजों में उचित-वैचित्र्य के भेद से
मानिनी की मान त्यागने की शिक्षा गोवर्धनाचार्य ने इस प्रकार दी है :

“शिरशिरसि निवेशितपौति मा गर्भमुहैन्दुकने ।
फलमेतस्य प्रविष्यति तब चण्डीचरणरेणुपुजा ॥” २

है हँदुकने । तुने शिर के सिर पर चरण स्थापित किया है - ऐसा गर्व मत
कर । तेरे गर्व का मार्जन रूप फल चण्डी की चरण धूलि है हीना ।

“वपि च

मधुमयनमोन्मिमात्रे सति तुल्यसि तुल्यसि किं मुधा राधा ।
यत्तव फलवर्धाय हुसयितुं सौख्योद्भेदः ॥” ३

कृष्ण के मस्तक पर मान्यरूप सति । तुल्यसि । तब राधा की वपि समान
पुजा क्यों सम्भवती हो ? क्योंकि तेरे परिमल का उद्भेद तो उसके चरण
को सुरमित करने के लिए है।

१- बिहारी राससह - २०७

२- आदर्शचरितो - ५७

३- .. - ४३३

बिहारी ने इसी प्रसंग और भाव का अनुवाद इस प्रकार किया है :

‘ मौर नन्त्रिका स्यामसिंर चढकत करत गुमान ।
रसिनी पाउनु पर लुठति सुनियत राधामान ॥ ’ १

कार्या की नायिका नायक द्वारा पसनायी गयी माला की तिजारी ज्वर की बीजधि सी धारण कर अपनी आसक्ति का परिचय देती है। उसकी दूती नायक से कहती है :

‘ वफातिनिसिन्तापां सुमग स्वक्रेण विनिहतां भवता ।
पतिसयनवारपा निज्वरौ चर्य वहति सा मालाम् ॥ ’ २

हे सुमग । तुमने वफा के साथ से समस्त सन्ताप को हरने वाली जो माला उसे पसनायी थी, उसे वह वफा पति के साथ सयन रूपी तिजारी ज्वर की बीजधि के रूप में धारण रखती है ।

बिहारी की नायिका भी ऐसी ही वफादार है ।

‘ नैकी उदि न जुदी करी वरणि छु दी तुम माल ।
उर तै बासु छुट्यौ नही बास छुटे छु लाल ॥ ’ ३

कार्याकार की नायिका नायक द्वारा उपेक्षित होकर ज्वरग्रस्त हो जाती है और जब नायक उसका कुरूप चोम करने लाता है तो वह प्रिय से मिला देने

१- बिहारी अतसहं - ६२

२- गोवर्धनाचार्य- कार्यासप्तशती - ४६

३- बिहारी अतसहं - ६१६

वाले ज्वर का श्रुतिया बढ़ा इन शब्दों में करती है :

“ज्वर वीती-बाधबाधस्तिष्ठ सुतं वत्तमङ्गमस्मिन् ।

वत्तमलोहाकर्णपात्राणां सते न मोच्यसि माम् ॥” १

है ज्वर । मैं प्रसन्नता के साथ तुम्हें अपना शरीर दिया । वी-बाध के मय से रहित होकर रही । तुम्हें व्यक्ति को हीनकर जाने वाले सते । तुम्हें । मुझे छोड़कर न जाओ ।

बिहारी की नायिका भी कटि की ऐसा ही धन्यवाद देती हुई तामार प्रकट करती है :

“हहि काटें भी पाह गहि नीनी मरति जिवार ।

प्रीति बनावत भीति ही भीति तु काद्यूँ बाध ॥” २

वार्या की प्रीति-वर्तिका अपनी कहकती हुई वार्यों- सुजा का इस प्रकार स्वागत करती है :

“प्रणमति पश्यति हृष्यति संश्लिष्यति पुष्कमुहन्तिरेह्यः ।

प्रियसंगाय स्फुरिता विद्यो गिनी वामबाहुन्ताम् ॥” ३

प्रिय के मिलने के लिए कहकती हुई वाम- बाहुन्ता की विरहिणी प्रणाम करती है, देखती है, जूयती है, रोमांचित वीरों से उसका वाग्मिन्त करती है।

बिहारी की नायिका भी अपनी वाम - बाहु

१- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - २४०

२- बिहारी सतसई- ६०५

३- गोवर्धनाचार्य - वार्यासप्तशती - २४७

से ऐसा ही स्वागत करने का वाक्य कहती है :

‘ वाम बाहु कस्त भिजे, जो हरि जीवनमूरि ।
तौ तौही सौ भेटिहौ रासि दाहिनी दूरि ॥ ’ १

नायिका संकेत- स्थान पर न पहुँचने और नायक के वहाँ जाकर लौट जाने तथा अपनी इस विह्वलता को जताने पर वार्या की नायिका की दशा का वर्णन करती हुई ब्रूती कहती है :

‘ कोपति पाणिनीलाचलव्यूतहिरे त्वयि भ्रमति ।
कलम्पितकषात्रे स्मर हव सा मुञ्चिता हतनुः ॥ ’ २

हाथ में तलवार लिए काम के समान अपनी हाथ में स्थित वाम की मँजरी से झीड़ा करते हुए तुम्हारे शरीर घूमने पर वह कृशोदरि मुञ्चिता हो गयी ।

यही भाव विक्रम ने अपनी दो दोहों में इस प्रकार प्रस्तुत व्यक्त किया है :

‘ वातत कैलि- निकुंज कर लिये मँजरी लाल ।
देखि मँजरी मँजरी रूप मँजरी बाल ॥
लखी कंज- कर वाम की मँजु मँजरी सेन ॥
पौरी सम वंगन परी बीरी तैत कन न ॥ ’ ३

मतिराम भी कहते हैं :

६- बिहारी सतसई- १४२

२- गीवर्धनाचार्य कण्ठशुद्धि वार्यासप्तशती- १६०

३- विक्रम सतसई- ५१४-१५

‘ बरौ सपल्लव लाल कर ललि तमाल की बाल ।

सुरभंगनी हिय साल धरि फूल माल सी बाल ॥ ’ १

बायाँ की नायिका बरपात में भीगकर जाते हुए पथिक को ठहरने के लिए निमन्त्रित करती हुई कहती है :

‘ पथिक कथं वपनीज्ज्वलन्मुदयतविन्दुनिवहमविनाश्रुतम् ।

मयपुष्क-नक्रवमिव शिवशरदितिभाविर्तु सहसे ॥ ’ २

हे पथिक ! बिजली से उज्ज्वल अत्यन्त असह्य, बरपात की बूंदों की झर
के बाणाग्नि से संतापित मयनामक वृक्ष- नगर के सर्पाग्रव के समान कैसे
सह रहे हो ?

फन रस का प्रलीपन देती हुई राम सहाय की
स्वयंभूतिका भी ऐसी ही बात कहती है :

‘ नन्दे फ्यावर को चितै जात फितै मति सोर ।

जन में फन रस बरसिहै रही बरीठे सोर ॥ ’ ३

निर प्रवास से लौटकर पुनः शीघ्र जाने का विचार करते हुए नायक से नायिका
कहती है :

‘ गत्वा जीवितसंशयमन्यस्तः सौदुम तिविरादिरडः ।

कुरुणा । पुनरपि वित्ससि सुखदुरन्यासमस्माकम् ॥ ’ ४

१- मतिराम सतसई - ६१५

२- गोवर्धनाचार्य- बायाँसप्तशती - २७२

३- रामसतसई - ७१६

४- गोवर्धनाचार्य- बायाँसप्तशती २७५

जीवन की सन्देश में डालकर, बहुत समय में विरह सहने का अभ्यास हो सका ।
है कल्पना । अब फिर उसी सुरत का अभ्यास हमें कराना चाहते हैं ।

इसी भाव पर बिहारी ने यह दोहा व्यक्त किया है :

“ ज्यों न आये सहज रंग विरह धूँरे गाव ।
जबकी कहा जगद्व्यक्त ललन कलन की जाव ॥ ” १

मतिराम ने इसी भाव की अन्य प्रयोग में फिट कर दिया है :

“ लगे निसा-अभिसार में कष्टक तिय के पाव ।
ज्यों न सहै निठुर तुम मर और ही भाव ॥ ” २

विपरीत- रति क्षिपाती हुई नायिका है उसकी उड़ी कहती है :

“ उषसि परिवर्तयन्त्या मुक्तावामीक्षिततां नीतिम् ।
पुरुषा यस्त्वैवमर्थ्यं ब्रीडावति केन कल्पिते ते ॥ ” ३

है लज्जावति! उफ़ीत रूप बनायी गयी मुक्ता- माया की प्रातः परिवर्तित करती हुई तेरा विपरीत - रति का पाण्डित्य किस किस ने नहीं जान लिया -

बिहारी सतसई में यही भाव इस प्रकार व्यक्त हुआ है :

“ मेरे झुगल जात तू कत बहरावति बाज ।
जग जानी विपरीत रति नति बिन्दुनी पिय बाज ॥ ” ४

१- बिहारी सतसई - २०२

२- मतिराम सतसई- ६१५

३- गीवर्धनाचार्य- आर्यासप्तशती ६७५ १२१

४- बिहारी सतसई - १३७

कार्या कीविरहिणी की वशा का वर्णन करती हुई वृत्ती नायक से कहती है :

“ तव विरहे विस्तारितरुणौ जनितेन्दुचन्दनद्वयौ ।
बिसिनीव माघमासं विना हुताशेन सा दग्धा ॥ ” १

जिसने रात लम्बी कर दी, चन्द्रमा और चन्दन से द्वेष पैदा कर दिया ऐसे तेरे विरह में माघमास में कमलिन की भाँति, वह बिना जाग के भस्म हो गयी ।

दोहाकार ने यही भाव यों चित्रित किया है :

“ बागल जीव गनीव के परसि प्रिया के गाल ।
पापर होत सुरैनि के चन्दन पैकि-पास ॥ ” २

जाग जलते समय जार की चुम्कन देती हुई नायिका का वर्णन कार्याकार ने इस प्रकार किया है :

“ उन्मुहं स्तिग्धरुष्टं भूतिगणत्रासमोन्तिार्थाप्ति ।
धूमी पि नैह विरम भ्रमरी यं स्वसिम्मुसरति ॥ ” ३

हे मुहुर के समान अधरुष्टवाली । नेत्र में मत्स्य कण पड़ने के भय से बत्तियों की बाधा बन्द रखने वाली । जहाँ इसमें धुँवा नहीं हुआ, यह भीरा है जो तुम्हारे

१- गोवर्धनाचार्य- आर्यासप्तशती - २१५

२- मतिराम- सप्तशर्ह - ७४५२२

३- गोवर्धनाचार्य- आर्यासप्तशती - १३१

वदन सौमपूर्ण सौच का अनुसरण करता हुआ बबकर काट रहा है, अतः
वर्धक काम की बन्द करी ।

इसी भाव की बाद में राम सहाय ने यह रूप
दिया है :

‘ ज्यों ज्यों फूके नवबधू फी रसीई जाणि ।
त्यौ त्यौ धूमै वै कही लगी तमासे जाणि ॥ ’ १

नायक की वाफता का वर्णन करती हुई नायिका उसी तै कहती है :

‘ वासीदिव यदाद्रं: कि मपि तदा किमथमास्तीऽप्याह ।
निष्ठुरभावावधुता कटुनि उसि रटति पटह ह्व ॥ ’ २

हे सखि ! (वह) जब प्रेमाद्रं था तब मेरे द्वारा प्रकाशित होने पर भी यह
धया कृष् कहता था ? वाज्जल निष्ठुर भाव ने शुक्ल नगादे के समान कटु
वचन रटता है ।

रसनिधि की नायिका ने भी ऐसी ही बात
इस प्रकार कही है :

‘ इसे तौ जे रहत नेह बास नहि जेई ।
उन तौ वै मलिया मजी नेह परसि जिय देई ॥ ’ ३

वार्यासप्तशती में दृष्टों के कहने से जथाचार
करने वाले व्यक्ति को अन्योक्ति द्वारा इस प्रकार समझाया गया है :

१- राम सप्तसई - ७२४

२- गीवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - १०२

३- रसनिधि सप्तसई - ४५०

‘ वायासः पृथिवी वैतस्मिन्सारमेव तव सारः ।

त्वामप्यस्य विभाज्यः कृणु एषोऽधुनैवान्यैः ॥ ’ १

हे व्याध के कृत्ते । मम और अन्य प्राणी की हत्या - यही तेरा सारभूत है ? तुम्हीं दूर घटाकर उस हरिण की अभी व्याध के कुत्तायी बाट लेंगे ।

इसी भाव पर बिहारी का यह दोहा देखिए-

‘ स्वास्तु सुकृतं न मम व्यथा देसि विहगं विचारि ।

बाज पराये पानि पर तू पैनीन न मारि ॥ ’ २

सज्जन और दुष्टों की मित्रता का तुम्हारा वर्णन करता हुआ वायसिकार कहता है :

‘ तत्सत्यं प्रादुर्भूतं मयोऽन्तरात् निदधदितमन्ते ।

स्वादिमध्यपरिणतिर्मणोया साधुजनैर्द्वि ॥ ’ ३

दुष्टों की मित्रता आरम्भ में मधुर, मध्य में युवावस्था की भाँति मादक तथा अन्त में ग्रीष्मकालीन दिवस की भाँति सैताफकारी होती है, सज्जनों की मित्रता आरम्भ में, मध्य में, तथा अन्त में (परिणाम में) मनीहारिणी होती है ।

बिहारी सतसई से यह दोहा भी इसके साथ

रस बोधिए-

‘ चटक न कोइत घटत हैं सज्जन नेह गम्भीर ।

फकीरों परे न बहू कटे रंग्यो नीन रंग चीर ॥ ’ ४

१- गोवर्धनाचार्य- आर्यासप्तशती - १०७

२- बिहारी सतसई- ६३०

३- गोवर्धनाचार्य- आर्यासप्तशती - १६३

४- बिहारी सतसई - ६६८

क्यों के माहात्म्य का निन्वात्मक उल्लेख करते हुए गोवर्धनाचार्य कहते हैं :

“ यदीदृश्यते ज्ञानां माहात्म्यं वसापि देवयोगिन ।
काकानामिव शैबल्यं तदपि हि नचिरादनर्थाय ॥ ” १

यदि देववश, कहीं दुष्टों का महत्त्व दिशायी देता है, तो कीर्तियों की श्वेतता के समान शीघ्र व्यर्थकारी है।

इस भाव पर बिहारी द्वारा कही गयी उक्ति सुनिये -

“ बुरी बुराई के तबे तौ चितु सरी डस्तु ।
ज्याँ निष्कल्यु मर्यकु नृति नरे लोग उत्पात ॥ ” २

वार्यासप्तशती में अष्टावस्था में पड़े पापपुरुषों की कलगीति के माध्यम से इस प्रकार समझाया गया है :

“ ते मेष्टिनः खव पंप्रति अन्वजयः कृतस्तवीन्द्रायः ।
हंथां वा मेढिं वाधुनातनास्त्वा विधित्सन्ति ॥ ” ३

हे इन्द्रवज्र । निजानि तुझे ऊँचा कहकराया था, इस समय बैठे कहीं हैं ,
क्यात् कहीं नहीं । वाजपत्य के लोग तू तुझी हथ की हरिस जाना चाहते
हैं ।

यही भाव बिहारी ने अपनी उक्तों में इस प्रकार
बाधा है :

१- वार्यासप्तशती- ४६७

२- बिहारी सतसई- ५४

३- गोवर्धनाचार्य - वार्यासप्तशती - २६६

“ विन विन देते वै कुमुद गहं भुवीति बहार ।

वयं वणि रही गुणव मे वपु कटोभी डार ॥ ” १

वार्तासप्तशती में दुष्ट के साथ रहने पर भी सज्जन के स्वभाव का प्रतीकात्मक उल्लेख करा हुआ कवि कहता है :

“ दुर्जनसह वातावपि शीतोत्कर्षं न सज्जनस्त्यजति ।

प्रतिष्मृतपत्रासी निःकुतमात्रः शशी शीतः ॥ ” २

सज्जन दुष्ट सहास है भी वही उत्कृष्ट शीत स्वभाव की नहीं होइता ।
सन्द्रमा प्रत्येक समावध्या की दृश्य में बसता है, किन्तु निकलते ही शीत का शीत रहता है।

इसी भाव की रहीम सतसह में यह २५ मिला

है :

“ वो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सक्त कृष्ण ।

नन्दन विजय व्याप्त नही, लपटे रहत भुज ॥ ” ३

याज्या के पैर से तिन्य हुए आवृत की प्रिकारो हुए गीतधनाचार्य कहते
है :

“ स्तः स एव जीवति स्वहृदयसूत्र्यो पि सहृदयो राहः ।

यः सख्यधिकारणापुदरं न विमर्ति दुष्पुम् ॥ ” ४

१- विकारी सतसह - २५५

२- गीतधनाचार्य- वार्तासप्तशती - २०६

३- रहीम सतसह - १३२

४- वार्तासप्तशती - २४५

“ जिन दिन देते वे कुसुम नई सुनीति बहार ।

बन बलि रही गुलाब में वफा कीटीली डार ॥ ” १

वार्यासप्तशती में दुष्ट के साथ रहने पर भी सज्जन के स्वभाव का प्रशंसात्मक उल्लेख करता हुआ कवि कहता है :

“ दुर्जनसह वासादपि शीलोत्कर्ण न सज्जनस्त्यजति ।

प्रतिष्ठातपवासी निःश्रुतमात्रः शशी शीतः ॥ ” २

सज्जन दुष्ट सहवास से भी अपने उत्कृष्ट शील स्वभाव को नहीं छोड़ता । चन्द्रमा प्रत्येक वभावस्था को सूर्य में बसता है, किन्तु निकलते ही शीतल का शीतल रहता है।

इसी भाव को रहीम सतसई में यह रूप मिला

है :

“ जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग ।

चन्दन बिना व्याप्त नहीं, लपटे रहत मुजंग ॥ ” ३

याज्ञा के दैत से तिम्र हुए व्यक्त को धिक्कारते हुए गोवर्धनाचार्य कहते हैं :

“ एकः स एव जीवति स्वकृपयस्तन्योऽपि सकृदयो राहुः ।

यः सकलधिकांशानुदरं न किमर्ति दुष्पुत्रम् ॥ ” ४

१- बिहारी सतसई - २५५

२- गोवर्धनाचार्य- वार्यासप्तशती - २७६

३- रहीम सतसई - १३२

४- वार्यासप्तशती - १४५

अन्तम अध्याय

उपसंहार

इस समग्र विवेचन ने हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया है कि संस्कृत मुक्तक काव्य-परम्परा में वायसि सप्तशती का प्रमुख स्थान है। यही कारण है कि इसे सप्तशती-साहित्य में उत्कृष्ट काव्य के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसमें ग्रन्थारम्भग्रन्था के बाद की सभी वायसि वकारादि ग्रन्थावली में विभाजित है। जिससे ज्ञात होता है कि सप्तशती साहित्य की ग्रन्थाविषयक एक नयी धारणा मिली। जैसा कि कहा जा चुका है कि वायसिसप्तशती में शृंगार का प्राधान्य है। इसमें समीग शृंगार के स्पर्श, वाग्निन चम्पन, सुरतनिपरीत-रत वादि भेद इस प्रकार चित्रित हैं कि उनसे नायक-नायिकावली की उदात्त और उदाम कामवासनावली की अभिव्यक्ति होती है। समीग शृंगार के अन्तर्गत स्वकीया और परकीया नायिकावली के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। एक और स्वकीया के प्रेम की स्वर्ग के समान सुखायक माना गया है^१ तो दूसरी और परकीया के प्रेम के समान स्वर्ग और ब्रह्मानन्द की भी तृण के समान माना गया है।^२ सम्मोग शृंगार ही नहीं अपितु विप्रलम्भ शृंगार के भी पूर्वराग, मान, विरह, प्रसन्न के भेदों का विस्तारपूर्वक चित्रण हुआ है। विरह की अभिलाषा, व्याधि, विन्ता, गुणकथन, स्मृति, उद्देग, उन्माद, तन्मयता, प्रलाप, मरण ये दस दशहर भी काव्यसास्त्रीय पद्धति पर ही प्रस्तुत की गयी हैं। अतः यहाँ पुनः उसका निरूपण करना अनुपयुक्त होगा।

१- वायसिसप्तशती - २३६

२- .. - ५६

३- .. - ७०

रस-योजना के अन्तर्गत करुण, हास्य, रौद्र, वीर, वृक्षुत, वीमत्स, मयानक, वात्सल्य रसों से सम्बद्ध वार्तारों की दृष्टि-गोचर होती है, किन्तु वे भी रूंगार के प्रभाव से नहीं बच सकी हैं। रूंगारतर विषयों- सज्जन, प्रसिद्धा, दुर्जन-निन्दा, दुष्ट-निन्दा, नीति-कथन, मक्ति जादि से सम्बद्ध उक्तियों का उल्लेख भी हुवा है जिसके अध्ययन से पत्र-प्रष्ट लोग प्रेरणा ग्रहण करके अपने को सन्मार्ग पर जाने का प्रयास कर सकते हैं।

वार्तारसप्तशती में तत्कालीन समाज वीर संस्कृति का यथार्थ चित्रण उपस्थित हुवा है। कवि ने उस समय के विभिन्न देशों में अवस्थित नगरों तथा उनके वैभवों का उल्लेख प्रस्तुत किया है। उन्होंने ग्रामीण सम्यता एवं नगर सम्यता का तुलनात्मक चित्रण भी किया है। इसके अतिरिक्त समाज के विविध पहलुओं यथा- वर्ण व्यवस्था, गृहस्थ वाश्रम, परिवार, उद्योग धन्धे, मनोरंजन के साधन, स्त्री पुरुष की स्थिति वीर रस सम्बद्ध रस सदन के ढंग, वास्तवों एवं विचार धाराओं, आर्थिक दशा एवं कला-कौशल, शासन पद्धति से सम्बद्ध वर्णन जन जागरण की दृष्टि से प्रस्तुत किये हैं जो हमें एक अन्यत्र दुर्लभ हैं। अतः इस दृष्टि से इस कृति का ऐतिहासिक महत्त्व वीर भी अधिक है।

जीवन विभिन्न वाक्यांशों से सम्बद्ध होता है। इसमें प्रेम का आधिक्य आवश्यक है। प्रेम एवं रस प्रभाव साहित्यिक दृष्टि से कवि की लेखनी द्वारा किस प्रकार प्रस्तुतित हुए हैं, इसका विशद विवेचन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। नायिकाओं में स्वकीया, परकीया, सामान्या किस प्रकार की होती है। इसका वर्णन काव्यसास्त्रीय आधार पर ही प्रस्तुत हुवा है। इसके अतिरिक्त लक्षणा- ग्रन्थों में नायिकारं, स्वाधीन-पतिका, लज्जिता, वमिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रबुधा, प्रीणितपतिका

वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, कवस्था भेद से आठ प्रकार की और अन्य सौभाग दुःस्तिता, गर्विता, मानवती भेद से तीन प्रकार की तथा ज्येष्ठा, कनिष्ठा नायक के प्रेम के बाधा पर दो प्रकार की मानी गयी है। इन सभी के भेदों का संगीपगि वर्णन करने में गोवर्धनाचार्य ने उन पद्यों को भी विशेष रूप से चित्रित करने का प्रयास किया है जिसके बाधा पर उनके व्यावहारिक उपयोग किये जाते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने नायक भेद का वर्णन करना भी उपयुक्त समझा। नायक- कुङ्कुम वदिण पूर्ण शठ भेद से चार प्रकार के माने गये हैं, जिनके उदाहरण वार्यासप्तशती में काव्यशास्त्रीय पद्धति पर उपलब्ध होते हैं।

नायक एवं नायिका का स्वरूप प्रेम पर बाध-रित है, जिस पर काम का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। इस कथन की पुष्टि वार्यासप्तशती की ग्रन्थारम्भ प्रज्या से ही ही चुकी है। कामसूत्र के विभिन्न वर्गों, चौंसठ कलाओं एवं परिचर्याओं से वार्यासप्तशती प्रभावित तो है ही किन्तु वाग्निन, चुम्बन, नसक्केद, कन्ग्रह, प्रहणन, सीत्कार, सुरत तथा विपरीत रत से सम्बद्ध वार्याओं पर कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का विशेष प्रभाव परिणमित है।

काव्य की उत्कृष्ट साधना का रहस्य भाव और उनकी वसिष्यक्तियों से स्पष्ट होता है जो वन्तःकरण के धर्मों पर आधारित है। मनुष्य की हृदयगत अनुभूतियों में इच्छाओं की प्रधानता रहती है जिससे उसे प्रेम, हास्य, उत्साह, शोक आदि अन्यान्य रसादि अनुभूतियाँ होती हैं, जिन्हें काव्यशास्त्रियों ने निर्वद, ग्लानि, रंका विविध संवारियों के रूप में लघाणबद्ध किया है। कुछ शास्त्रकारों ने हृदयगत अनुभूतियों की उदय

शान्ति, सन्धि, शबलता भेद से चार अवस्थाएं मानी हैं। भावों के साथ साथ अनुभावों का वर्णन करना भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति तो अनुभावों के माध्यम से ही होती है। अनुभाव- कायिक, वाक्किक, सात्त्विक, वाहार्य भेद से चार प्रकार के माने गये हैं। वार्यासप्तशती में निर्वेद, ग्लानि, शंका, क्लृप्ता, श्रम, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चपक्ता, हर्ष, वावैग, जड़ता, गर्व, विजाद, वीत्सुख्य, निद्रा, विबोध, कर्मण, अवहित्य, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, ब्रह्म, वितर्क, सत्तारी भावों और भाव की उदय, शान्ति, सन्धि, शबलता, चारों अवस्थाओं तथा कायिक, वाक्किक, सात्त्विक, वाहार्य अनुभावों तथा उनके भेदों का वर्णन ऋषाण ग्रन्थों के आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यिक अभिव्यक्तियों के साधनों में प्रकृति के वर्णनात्मक सौन्दर्य की प्रधानता भी रहती है। इस दृष्टि से जब हम प्रकृति की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जीवन के उत्कृष्ट उपादान हमें प्रकृति से ही प्राप्त हुए हैं। भारतीय साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्राकृतिक चित्रणों का उल्लेख नरा पड़ा है। रामायण वादि पूर्ववर्ती ग्रन्थों के अनुरूप ही वार्यासप्तशती में प्रकृति शुद्ध बालम्बन, वस्तु-बालम्बन, भाव- बालम्बन, उदीप्ता, चण्ड- ऋतु, वाक्कारिक कवि समय रूपों में चित्रित हुए हैं, जिसका वर्णन विभिन्न घटनाओं के प्रसंगों में किया जा चुका है। सूर्य, चन्द्र, नदी, पर्वत, जलाशय, जंगल, उषान वादि प्रकृति के बालम्बन हैं, जिनसे मानव मन की भावनार उदीप्ता होती है। दिन, रात तथा ऋतुओं में प्रकृति का रहस्य प्रखण्ड है। ऋतुओं के प्रभाव से मनुष्य की कभी सन्ताप तो कभी विमोह, हास्य, वानन्द की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रातः कालीन एवं सायंकालीन प्राकृतिक उषा का स्वरूप भी गोवर्धनाचार्य की रचना से प्रस्फुटित हुवा है।

काव्यात्मक वर्णन शैली और भाषा पर बाधारित होता है। इस दृष्टि से कवि ने व्यंजना प्रधान वर्णकृत, व्यंजना प्रधान अनर्कृत तथा वाग्वैदग्ध्यपूर्ण शैलियों की और हमारा ध्यान बाकुष्ट किया है। शैली एवं भाषा की अविव्यंजना की दृष्टि से व्यंजना प्रधान वर्णकृत शैली का चित्रण प्रशस्त रूप में चित्रित है। वाग्वैदग्ध्यपूर्ण शैली के तो वविचारितमणीय विचार्यमाण रमणीय, सम्पूर्णसक्त काव्य, सूक्तकदेश, शब्द-चमत्कार, व्यं चमत्कार, शब्दार्थभियगत, वर्णकारगत, रसगत, प्रत्यात-वृत्तिगत वसी प्रकार शास्त्रीय ग्रन्थों के बाधार पर ही प्रस्तुत किये गये हैं। शब्द और व्यं दोनों के अद्भुत चित्रण से वायसिप्तशती को वर्णकृत किया गया है। यही कारण है कि कवि ने गागरमें सागर भरने की कहावत को चरितार्थ करते हुए अपनी समास शक्ति का परिचय दिया है। सप्तशती की शृंगारिक वायवों के अनुकूल वैदर्भी रीति का प्रयोग किया गया है। वैदर्भी के अतिरिक्त गौड़ी पञ्चांगी, रीतियों से सम्बद्ध वायव प्रायः अधिक प्रयुक्त नहीं हुई हैं। वायव-कार ने तत्कालीन मुहावरें और लोकोक्तियाँ का समुचित प्रयोग किया है। जिससे वायसिप्तशती की भाषामें प्रेक्षणीयता, सजीवता, स्वाभाविकता का समावेश हो गया है।

वायसिप्तशती में यद्यपि शब्दाङ्कार एवं वर्णाङ्कार दोनों ही प्रयोग किये गये हैं, किन्तु शब्दाङ्कार की अपेक्षा वर्णाङ्कार विविध रूपों में चित्रित हुआ है। इस सम्बन्ध में यह कथन उल्लेखनीय है कि “ गोवर्धनाचार्य ने उष्मा, रूपक, दृष्टान्त आदि साधुश्रव-मूलक वर्णकारों का वाक्य लेकर शृंगार रस की मार्मिक और मनीहर व्यंजना की है। ” सप्तशती में कुछ ऐसी भी उक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं कि बिना वप्रस्तुत

१- स्वर्गीय श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा- अष्टम संस्करण

१९६७ पृ० ३३२

प्रतिष्ठा के माध्यम से व्यक्त करने के लिए प्राकृतिक, शास्त्रीय, ऐतिहासिक, पौराणिक तथा वर्गीक उपमान प्रयोग में लाये गये हैं। ऐसे काव्यात्मक गुणों के होने पर भी वार्तासप्तशती में इससे स्वतन्त्रवाक्यता, व्यभिचारि-भाव की स्वतन्त्रवाक्यता वर्णनाश्लीलत्व, निर्णयत्व दोष, वस्तुतत्त्व पर दोष जैसे काव्य दोष भी प्रसूत हुए हैं, किन्तु वे= गुणों की संख्या में कम होने के कारण उसके कलापदा को वाङ्मान्त नहीं कर सके हैं।

कवियों की कल्पना कुछ विषयों पर बाधा-रहित होती है जो पूर्ववर्ती काव्यकारों की रचनाओं से प्रभावित रहते हैं। इसी प्रकार उनकी कृतियों से भी पश्चर्ती कवियों पर प्रभाव पड़ता है। यह वादान-प्रदान साहित्यकारों में निरन्तर होता रहता है। शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर यह निश्चित हो ही चुका है कि कवि इसका ततिक्रमण नहीं कर सकते यदि करते भी हैं तो उनकी रचनाएं उपहसनीय होती हैं। जैसे- इन्द्र वर्णकार, इस वादि के जो सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं वे मूल आधार पर ही प्रतिष्ठित होते हैं। इसी बहुत सी योजनाओं में जाबद होकर कवि अपनी रचना प्रस्तुत करता है। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए गोवर्धनाचार्य ने गाथासप्तशती से लगभग एक हजार वर्ष बाद प्रेरणा ग्रहण करके वार्तासप्तशती की रचना करके सप्तशती साहित्य को पुनर्विकसित किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही कहा है कि "मैं प्राकृत भाषा में विहित भाषा की संस्कृत में परिणत करके वार्तासप्तशती की रचना की। गाथासप्तशती ही नहीं अपितु बज्जवाल्मीकि, मेघदूत, रघुवंश, उत्तररामचरित, नैषाधोद्योत, अमरकशतक, कृष्णशतक, नीलकण्ठक, चौरपंचाशिका जैसी रचनाओं से भी वार्तासप्तशती अधिक प्रभावित हुई है।

१- वाणी प्राकृत समुचितरसा कलाविष संस्कृत नीता ।।

- गोवर्धनाचार्य- वार्तासप्तशती ग्रन्थारम्भप्रज्ञा

जिस प्रकार गाथासप्तशती से वार्यासप्तशती प्रभावित है उसी प्रकार गाथासप्तशती और वार्यासप्तशती से पार्वती सप्तशतियाँ भी प्रभावित हैं। दीर्घकाल पश्चात् इन दोनों सप्तशतियों से प्रभावित होकर फर्तीय श्री विश्वेश्वर ने एक दूसरी वार्यासप्तशती की रचना की। विश्वेश्वर ने अपनी सप्तशती के मंगलान्तरण में गोवर्धनाचार्य की स्तुति करते हुए उन्हें वाणी विन्यास में सर्वोपरि माना है। पार्वती वार्यासप्तशती का मंगलान्तरण तथा उसके बाद की सभी वार्यादि ककारादि व्रज्याओं में पूर्ववर्ती वार्यासप्तशती के अनुरूप ही विभाजित हैं। इसमें पूर्ववर्ती सप्तशतियों के समान ही शृंगार रस का प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त सज्जन, प्रीति, दुर्जन निन्दा, नीतिकथन, भक्ति विषयक उक्तियाँ इत्यादि भी दोनों वार्यासप्तशतियों में गाथासप्तशती के समान ही हैं। इससे ज्ञात होता है कि रस विधान की दृष्टि से गोवर्धनाचार्य की रचना ने पार्वती वार्यासप्तशती को जितना प्रभावित किया है उतना प्रायः गाथासप्तशती ने नहीं किया। उक्त वार्यासप्तशतियों के अतिरिक्त संस्कृत सप्तशती साहित्य में दुर्गासप्तशती और गीता भी उपलब्ध हैं किन्तु इनका विषय शृंगारिक सप्तशतियों से सर्वथा भिन्न है। अतः स्पष्ट है कि वार्यासप्तशती से संस्कृत-साहित्य जितना प्रभावित नहीं हो सका जितना कि हिन्दी साहित्य।

हिन्दी साहित्य में बिहारी सतसई, मतिराम सतसई, गून्च सतसई, रहीम सतसई वादि सतसईयाँ उपलब्ध हैं। ये सभी वार्यासप्तशती से प्रभावित नहीं कही जा सकती क्योंकि वार्यासप्तशती तो स्वयं ही गाथासप्तशती से प्रभावित है। इस कथन की पुष्टि डा० परमानन्द शास्त्री द्वारा प्रस्तुत किये गये हिन्दी गाथासप्तशती शोध प्रबन्ध से हो चुकी है कि

१- फर्तीय पण्डित विश्वेश्वर- वार्यासप्तशत्याम्- मंगलान्तरण -५६

हिन्दी स्तसह्याँ नाथासप्तशती से प्रभावित हैं। नाथासप्तशती के समान ही हिन्दी स्तसह्याँ वायासप्तशती से भी प्रभावित हुई हैं जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। हिन्दी स्तसह्याँ में नाथासप्तशती और वायासप्तशती के अनुरूप ही शृंगार रस प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त इनमें सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निन्दा, नीति कथन, भक्ति विषयक उक्तियाँ इत्यादि प्रकार के वर्णन भी पूर्ववर्ती सप्तशतियों के समान ही हैं। माव, भाषा, शैली आदि की दृष्टि से भी हिन्दी स्तसह्याँ पूर्ववर्ती सप्तशतियों से पूर्णतया मिलती जुलती हैं। संस्कृत तथा हिन्दी सप्तशतियाँ नाथासप्तशती के समान शतकों में विभाजित नहीं हैं और न ही हिन्दी स्तसह्याँ के दोहे वायासप्तशती की वायाँ की समान अकारादि प्रज्याओं के अनुसार विभक्त हैं। हिन्दी स्तसह्याँ के नाम में भी पूर्ववर्ती सप्तशतियों से अन्तर नजर आता है क्योंकि उनके रचनाकारों ने छन्द के स्थान पर अपनी नाम का प्रयोग किया है जैसे बिहारी स्तसहं, मितराम स्तसहं आदि। अतः स्पष्ट है कि हिन्दी स्तसह्याँ नाथासप्तशती और वायासप्तशती दोनों ही ही हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थानुक्रमणिका

वैद , स्मृति एवं संस्कृत ग्रन्थ

- १-ऋग्वेद संहिता , प्रकाशक पी० गौरी नाथ झा , व्याकरणतीयं , संपादक,
वैदिक पुस्तकमाला , कृष्णागढ़, सुन्तानगंज, प्रथम संस्करण,
१९८८- १९९३ वि० ।
- २-अथर्व वेद संहिता , सूरत १९५०
- ३(अ)अथर्व वेद संहिता , सम्पादक वैष्णोराम शर्मा , भगवती प्रसाद राम कृत
भूमिका . १९७७ , चौसम्भा वीरियन्टानिया , वाराणसी .
(ख) - श्रीमद्भगवद्गीता, शक्ति भाष्य (गीता प्रेस, गोरखपुर,
संस्करण २००८ वि)
- ४- मनुस्मृति - मनु (टीकाकार जगद्वन झा) , हिन्दी पुस्तक एजेंसी ,
२०३, हैरिसन रोड, कलकत्ता , छटा संस्करण १९६३ वि०
- ५- कामसूत्र, वात्स्यायन किरण पब्लिकेशन्स , १९६३
- ६- कामसूत्र , वात्स्यायन , यशोधर कृत ' जयमंगला ' संस्कृत वैदवत्त शास्त्री
कृत हिन्दी टीका , चौसम्भा वीरियन्टानिया , वाराणसी,
१९८२ ।
- ७- कुमारसंभव , कालिदास (श्री वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई) संस्करण १९६६ वि० ।
- ८- रघुवंश , कालिदास , हिन्दी व्याख्याकार गोविन्द मिश्र , तृतीय संस्करण,
चौसम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६९ ।

- ६- बमिज्ञानशाकुन्तलम् , काण्दिदास , श्री वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई , १९६३
- १०-मैथिल , काण्दिदास , साहित्य अकादमी , नयी दिल्ली , हिन्दी
संस्करण , १९७० ।
- ११- मृच्छकटिक , शूद्रक , कल्कत्ता , १८६८ ।
- १२- मृच्छकटिक , शूद्रक , साहित्य मण्डार , मेरठ , १९६८ ।
- १३- कादम्बरी , बाणभट्ट , परशुराम लक्ष्मण वैद्य संस्करण , पूना ,
१९३५ ।
- १५- कादम्बरी , बाणभट्ट , संस्करण कृष्ण मोहन शास्त्री , चौलम्बा
संस्कृत सीरीज् आफिस ई० १९६९ ।
- १५- हर्षचरित , बाणभट्ट , श्री शंकर विरचित संकेत व्याख्योक्तम् ,
हिन्दी व्याख्याकार पी० श्री जगन्नाथ पाठक साहित्याचार्य,
चौलम्बा विद्या भवन, वाराणसी -१ ।
- १६- उत्तररामचरित , भवभूति , चौलम्बा संस्कृत सीरीज्, बनारस ,
१९५३ ।
- १७- नैषधचरित , श्री हर्ष , बम्बई , १९३३ ।
- १८- नागानन्द नाटकम् , हर्षदेव , बन्दीव उपाध्याय कृत भाषार्थ दीप्ति,
संस्कृत हिन्दी टीका संशोधित संस्करण , १९६८ ।
- १९- अमरकशतक , अमरक , टीकाकार डा० विद्यानिवास मिश्र ,
राजकमल प्रकाशन , दिल्ली , १९६५ ।

२०- मर्तुहरि शतक (त्रय) , बम्बई , १९४८

२१- शृंगारशतक , मर्तुहरि, बाबू हरिदास वैद्य , नवौ संस्करण , जनवरी, १९७८ , प्रकाशिका श्रीमती नमेली देवी वैद्य , हरिदास एण्ड कम्पनी प्रा० लि० मयुरा ।

२२- नीतिशतक , मर्तुहरि , संस्कृत हिन्दी टीका तथा वागिष्माणानुवाद, टीकाकार गंगासागर राय , १९८२ ।

२३- चौरपैवाशिका , बिरहण , व्याख्याकार प्रो० ब्रजेश चन्द्र श्रीवास्तव, चौसम्बा संस्कृत सीरीज आफिस , वाराणसी -१ , १९७९ ।

२४- गीतगोविन्द , जयदेव , (विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी) मार्गव पुस्तकालय, काशी , १९६३ वि० ।

२५- वार्यासप्तशती , गोवर्धनाचार्य अनन्त पण्डित कृत व्याख्यानदीप नाम्नी टीका , निर्णय सागर, प्रेस बम्बई , १८६५ , द्वि० सं०

२६- वार्यासप्तशती , गोवर्धनाचार्य " विभा " , हिन्दी व्याख्यानदीप १० भागान्त त्रिपाठी , चौसम्बा विद्या मवन, वाराणसी- १९६५ ।

२७- वार्यासप्तशती , पर्याय विश्वेश्वर पण्डित , विद्या विमल प्रेस , १९२४ ।

२८- वार्याशतक , वाष्पय्यदीक्षित , चौसम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।

२९- वार्याशुक्ल , पण्डित हरिप्रसाद , प्रथम संस्करण १८३७ ।

- ३०- सुमारसप्तशती , परमानन्द मट्ट , प्रथम संस्करण , १९२५ ।
- ३१- काव्यमीमांसा , राजशेखर , गायकबाह सीरीज, संख्या ६ , कहीदा,
१९२४ ।
- ३२- किराताकुंजीय , भारवि चन्द्रकला , संस्कृत हिन्दी व्याख्या टीकाकार
शेखराज शर्मा , गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला , वाराणसी,
१९७५ ।
- ३३- रसमंजरी , भानुदत्त रामशास्त्री तैलंग , चौ० संस्कृत बुक डिपो,
१९७४ ई० ।

प्राकृत- ग्रन्थ

- ३४- गाथासप्तशती - हाल , प्रसाद प्रकाशन , पूना , १९५६ ।
- ३५- गाथासप्तशती , नमोदेव नर्तुर्वेदी , चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी,
१९६१ ।
- ३६- हिन्दी गाथासप्तशती , डा० परमानन्द शास्त्री , प्रकाशन प्रतिष्ठान,
मेरठ , १९६५ ।
- ३७- गाथासप्तशती - हाल , जगन्नाथ पाठक कृत प्रकाश हिन्दी टीका ,
१९६६ ।
- ३८- वज्रपात्रार्णव जयसल्लह , रत्नदेव कृत संस्कृत वृत्ति संज्ञान्तिम् , प्रकाशिका
प्राकृत ग्रन्थ परिषद, जलमदाबाद -६ , १९६६ ।
- ३९- कर्पूरमंजरी , राजशेखर , हफेज कालेज, बम्बई -१६

४०- प्राकृत फेाल , सम्पादक श्री चन्द्र मोहन घोष , १९००- १९०२ ई० ।

४१- पञ्चम चरिय (प्राकृत) , विप्लवपुरि कृत , भावनगर, १९१४ ई० ।

व्याकरण एवं काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ

४२- निरुक्त , निर्णय सागर प्रेस बम्बई , १९३०

४३- नाट्यशास्त्र , भरतमुनि संस्करण बटुक नाथ शर्मा एवं बन्दीव उपाध्याय
(संशोधित) काशी संस्कृत ग्रन्थमाला , १९८०

४४- काव्यान्कार , भामह , चौसम्बा सीरीज १८८५

४५- काव्यावर्ष , दण्डी भाण्डारकर , प्रान्थ विद्या मन्दिर, १९३८

४६- काव्यान्कार सूत्रवृत्ति , वासन ओरिएन्टल बुक ऐजेन्सी , पूना , १९२७

४७- वङ्गोक्ति जीवितम् , राजनाथ कुन्तक , राधेश्याम मित्र कृत 'प्रकाश'
हिन्दी टीका , काशी संस्कृत ग्रन्थमाला , १९८०

४८- ध्वन्यालोक - आनन्दवर्धनाचार्य , चौसम्बा सीरीज

५०- काव्यप्रकाश, मम्मट , चौसम्बा सीरीज, १९५९

५१- काव्यप्रकाश , मम्मट , व्याख्याकार स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त
शिरोमणि , सम्पादक डा० नरेन्द्र ज्ञान मण्डल लि०,
वाराणसी -१९६०

५२- साहित्यदर्पण- विश्वनाथ , मोतीलाल बनारसीदास , लाहौर,
१९३८ ।

- ५३- साहित्यदर्पण , विश्वनाथ , विद्यावाचस्पति साहित्याचार्य
श्री शान्ग्राम शास्त्रिर्विरचितया विमलात्म्या
हिन्दी व्याख्या विभूषितः , अष्टम संस्करण,
१९७५ ।
- ५४- तन्निपुराण , वैदव्यास , बन्दीव उपाध्याय कृत हिन्दी भूमिका,
काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ।
- ५५- सरस्वती कण्ठाभरण , भोज देव , निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ,
द्वितीय संस्करण , १९३४ ।
- ५६- कवि कण्ठाभरण , हरिदास संस्कृत शिरीष ।
- ५७- बौद्धिक विचार चर्चा - लोमेश्वर श्री नारायण मिश्र कृत मनोमाला
संस्कृत- हिन्दी व्याख्याद्वयोपेता गोकुलवास
संस्कृत ग्रन्थमाला , वाराणसी , १९८९ ।
- ५८- रसगंगाधर पण्डित जगन्नाथ , निर्णय सागर प्रेस बम्बई , १९०६ ।
- ५९- काव्य विमर्श , रामदत्त मिश्र , ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना , १९५९
- ६०- काव्यप्रकाश की भूमिका , ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी
एन इन्स्टीट्यूशन टू साहित्यदर्पण , बी० पी० काणे , १९२३
- ६१- चन्द्राञ्जलि , जयदेव (कुञ्जभ्यानन्द के साथ प्रकाशित) , निर्णय सागर
प्रेस, बम्बई , १९५२ ।

ऐतिहासिक ग्रन्थ

- ६२-इच्छागिरि फार सम्पादक , भारतीय विद्या भवन, प्रथम संस्करण ,
वाल्म्य -५
- II- हिस्ट्री आफ बंगाल , जार० सी० मजूमदार
- ६३- कर्मी हिस्ट्री आफ इण्डिया , जार० सी० मजूमदार, अनुवादक डा०
परमेश्वरी दयानन्द गुप्त , सुन्दर लाल ,
मोती लाल , प्रथम संस्करण , १९६२ ।
- ६४- इण्डियन लिटरेचर , विन्टरनिट्ज , १९२७ ई०
- ६५- संस्कृत पीयटिक्स , एस० के० डे
- ६६- हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर , एस० एन० दासगुप्त
- ६७- संस्कृत साहित्य का इतिहास - कीर्ति , अनुवादक डा० मंगल देव शास्त्री
- ६८- हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया , नीलकण्ठ शास्त्री, वाक्सफोर्ड यूनि-
वर्सिटी प्रेस ।
- ६९- संस्कृत साहित्य का इतिहास , डे० एण्ड गुप्ता , १९४७
- ७०- भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास , डा० सत्यकेतु विशाखाकर ,
१९५३ ।
- ७१- संस्कृत सूक्ति समीक्षा , बन्धु उपाध्याय , परिवर्तित संस्करण ,
१९४८ ।

- ७२- वैदिक साहित्य और संस्कृति - बन्देव उपाध्याय , परिवर्तित संस्करण,
शारदा मन्दिर, संवत् २०१५ ।
- ७३- संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास , वाचस्पति मेहता , चौतम्बा
विद्या भवन, वाराणसी , १९६७ ।
- ७४- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा , स्व० पाण्डे तथा व्यास , इतिहास
निर्देशन, कानपुर, अष्टम संस्करण, १९६७ ।
- ७५- संस्कृत साहित्य का आन्वीक्षणात्मक इतिहास , रामजी उपाध्याय ,
प्र० सं०
- ७६- मध्ययुग का इतिहास , डा० देवरी प्रसाद , द्वितीय संस्करण ।
- ७७- प्राचीन भारत का इतिहास , स्मिथ तृतीय संस्करण ।
- ७८- प्राचीन भारत का इतिहास , पी० एन्० मार्ग्वे , अपर हण्डिया
पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ ।
- ७९- संस्कृत काव्य धारा , राहुल सांकृत्यायन , प्रकाशन हैपीकेजी , मसूरी ।
- ८०- राजतरंगिणी - कदम्बा , माधवभार रघुनाथ सिंह , हिन्दी प्रचारक
संस्थान, वाराणसी , १९६० ।
- ८१- संस्कृत साहित्य का इतिहास , बी० वर्दाचार्य , अन्वावक कपिलदेव
द्विवेदी ।
- ८२- संस्कृत गीति काव्य का विकास , डा० परमानन्द शास्त्री , प्रकाशन
प्रतिष्ठान, मेरठ ।

- ८३- अल्वरुनीज इण्डिया , डा० सचाज , लन्दन , १९१० ।
- ८४- प्राचीन भारत का इतिहास , सत्यकैतु विद्यालंकार , १९५३ ।
- ८५- समहिस्टोरियन वाफ मिहिन् इण्डिया , वी० एन० त्रयनिया ,
प्र० से० , १९६६ ।
- ८६- हिन्दी साहित्य का इतिहास , डा० रामचन्द्र शुक्ल , सम्पत् २००८ ,
- ८७- हिन्दी साहित्य का इतिहास , रामचन्द्र शुक्ल , नागरी प्रचारिणी
सभा , ५ टी , १९८६-८७ वि० ।

सतसहं साहित्य एवं जालीचनात्मक ग्रन्थ

- ८८- बिहारी सतसहं , बिहारी टीका रामवृदा बैनीपुरी , पुस्तक मण्डार,
जैरिया सहाय , १९८२ वि० ।
- ८९- राम सतसहं - राम सहाय , भारत जीवन प्रेस , काशी , १९५३ ।
- ९०- सतसहं सप्तक , श्यामसुन्दर दास (संपादन) हि० ए० प्रयाग ,
१९३९ ।
- ९१- बिहारी की वाग्बिभूति , विश्वनाथ प्रसाद मि , वाणी बितान,
काशी , २०१० वि० ।
- ९२- बिहारी रत्नाकर (जगन्नाथ दास रत्नाकर) गंगा पुस्तक माला ,
मल्लज , १९८३ वि०

- ६३-महेश्वर ग्रन्थावली , गंगा पुस्तकालय , लखनऊ , १८८३ ।
 ६४- गीति काव्य की भूमिका , डा० नगेन्द्र , गीतम बुक डिपो , दिल्ली ,
 १९४९ ।
 ६५- मुक्तक- काव्य परम्परा और बिहारी , डा० रामसागर त्रिपाठी ,
 कलकत्ता प्रकाशन, देहली ।

कौश संग्रह एवं पत्र- पत्रिकारं

- ६६- अमरकोश , अमरसिंह " रमण " , हिन्दी व्याख्या , संपादक
 कन्हैया लाल जोशी, गोकुलदास संस्कृत
 ग्रन्थमाला , वाराणसी , १९८२ ।
 ६७- प्राची ज्योति , कुरुक्षेत्र ज्योतिषिणी , पून , १९६६ ।
 ६८- इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली , दिसम्बर , १९४७ ।
 ६९- नागरी प्रचारिणी पत्रिका , वर्ष ५६ , अंक ३-४ , स० २००८ ।
 १००- केश स्मृति अंक - नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५६ , अंक ३-४ ,
 स० २००८ ।
 १०१- जनरल वाच रायल एशियाटिक सोसायटी , वार्षिक जाला , खण्ड १०,
 संख्या २६
 १०२- काव्यमाला , १८ , अक्टूबर १८८६ , द्वितीय संस्करण १८९५ ।
 १०३- मिरासी की डेट बाफ गाथापुस्तक , इण्डियन हिस्टोरिकल
 क्वार्टरली , १९४७ , द्वितीय संस्करण ।
 १०४- वेबर , दास सप्तकृत्यक्य डेस हाफ (१८८१) प्रस्तावना ।